भगवान् महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर प्रकाशित

वीर शासन के प्रभावक आचार्य

डॉ विद्याधर जोहरापुरकर

डॉ. कस्तूरचन्द्र कासलीवाल
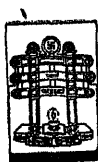
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

उस उद्देश्य को साध सकना, ज्ञान-कोष को सुरक्षित रख सकना, प्राण-रक्षा से भी बडा विस्मय है ।

हम जो उत्तर म रहते है, प्राकृत, सस्कृत और अपभ्रश के ग्रन्थो का अध्ययन करते समय, श्रुत-पूजा करते समय, कभी सोच भी नही पाते कि इन शास्त्रो क रचयिता आचाय या मुनि अथवा भट्टारक प्राय वे हैं जिन्होन दक्षिण के पवतो और वहाँ की गुफाओ मे रहकर इनका सृजन किया है ।

भारतीय ज्ञानपीठ ने भगवान् महावीर के निर्वाणोत्सव के अवसर पर जिस गुरुतर कायक्रम को हाथ मे लिया था उसकी पूर्ति श्री साहू शान्तिप्रसादजी की सतत प्रेरणा और माग-दशन से ही सम्भव हो पायी है ।

इस कायक्रम का एक महत्त्वपूण अग यह था कि ऐसे दो प्रकाशन नियोजित किये जायें जिनमें से एक की विषय-वस्तु भगवान महावीर की धार्मिक दाशनिक-साहित्यिक परम्परा की ज्योति को प्रज्वलित रखनेवाले आचार्यों के कृतित्व से सम्बन्धित हो और उसके अन्तगत वह सब परम्परानुमोदित अतिशय सम्बन्धी कथाएँ भी आ जाये जिनका लक्ष्य धम-प्रभावना और धम को पराभव से बचाना रहा है । दूसरे प्रकाशन का विषय ऐसे प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाओ के कृतित्व का परिचय प्रस्तुत करता है जो भगवान महावीर के काल से लेकर सन् १९०० तक अपने व्यक्तित्व और कृतित्व की गरिमा से समसामयिक सामाजिक इतिहास मे अपना विशेष स्थान बनाकर तिरोहित हो गये। प्रसन्नता की बात है कि यह दोनो ग्रन्थ निर्वाण-महोत्सव वष की महावीर-जयन्ती के दिन पाठको के हाथ म पहुँच रहे है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ, 'वीर शासन के प्रभावक आचाय' का सृजन दो मनीषी अध्येताओ के परिश्रम का फल है । डॉ विद्याधर जोहरापुरकर ने इस पुस्तक का आदिभाग लिखा है जिसमें 'वीर निर्वाण सवत की पहली शताब्दी से लेकर अठारहवी शती तक अर्थात ईसवी पूव सन् ५२७ से लेकर १३वी शताब्दी तक के आचार्यो के कृतित्व का परिचय है, और पुस्तक का दूसरा भाग डॉ कस्तूरचन्द कासलीवाल ने लिखा है जिसमे भगवान् महावीर के निर्वाण की उन्नीसवी शती से पचीसवी शती तक के आचार्यो, भट्टारकों और ग्रन्थकारो का परिचय दिया है । यद्यपि ग्रन्थ का विषय एक है, किन्तु दोनो विद्वानो ने अपने-अपने निर्दिष्ट काल के आचार्यो के जीवन और कृतित्व का परिचय प्रस्तुत करने की शैली मे, सामग्री के सयोजन मे, विस्तार और सक्षेप की दृष्टि मे तथा ऐतिहासिकता और परम्परा से प्राप्त किंवदन्तियो के सन्तुलन मे अपना अपना विवेक बरता है । यही कारण है कि ऐतिहासिक वर्ग की इस कृति मे यत्र-तत्र कथा की रोचकता आयी है, और उद्धरणो के कारण साहित्यिक रग-रूपो की झाँकी भी दृष्टिगोचर हुई है ।

जैसा कि भूमिका से स्पष्ट होगा 'जैन शासन के प्रभावक आचार्य' में आचार्यों के परिचयवृत्त को प्रधानता देते हुए भी उनके प्रभावकत्व पर विशेष बल दिया गया है। यह प्रभावकत्व प्रभावना अग की मूल परिधि को व्याप्त किये हुए है। अत आचार्यों का ज्ञान, साहित्य-रचना, तप और साधना, भाषा और काव्य के क्षेत्र में उपलब्धि, तात्त्विक वाद-विवाद में विचक्षणता एव अपराजेयता, मन्त्र तन्त्र के स्तर पर वह अतिशय और चमत्कार जो शुद्ध ज्ञान और निश्चय नय की कोटि से नीचा है किन्तु राजा और प्रजा जिसे सीता की अग्नि-परीक्षा की भाँति, धम के शील का मापदण्ड मानते रहे हैं—उन सब क्षेत्रो मे आचार्यों की उपलब्धि जो प्रत्यक्ष है अथवा राज-सम्मानादि की कथाएँ जो परम्परागत हैं उन सबका सक्षेप मे निदशन आ गया है।

इस कृति को परिकल्पना घोषित करने के उपरान्त इस पक्ष पर भी विचार किया गया कि जब भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् स्व डॉ नेमिचन्द्र शास्त्री द्वारा तैयार किये गये ग्रन्थ 'तीथकर महावीर और उनकी आचाय परम्परा', चार खण्डो में प्रकाशित कर रही है, आचाय हस्तीमलजी द्वारा 'जैनधर्म का मौलिक इतिहास' के तीन भागो में (दूसरे से चौथे भाग तक) इसी विषय पर विशद प्रकाश डालने की योजना को मूतरूप दिया जा रही है, तथा 'जैनधम का प्राचीन इतिहास' के द्वितीय भाग मे प परमानन्द शास्त्री ने इस विषय के अपने विस्तृत अध्ययन को लेख-बद्ध किया है, तो इस लघुकाय पुस्तक की क्या आवश्यकता रह जायेगी ? ज्ञानपीठ ने वास्तव में इस परिप्रेक्ष्य मे इस पुस्तक की महत्ता इसी बात मे देखी कि यह 'लघुकाय' है और कम मूल्य की है, फिर भी इसमे व्यवस्थित ढग से सभी प्रमुख-प्रमुख आचार्यो और ग्रन्थकारो का परिचय आ गया है—इस सीमा तक कि जैनाचार्यो के अवदान की जानकारी चाहने वाले जैनेतर विद्वान् और सामान्य पाठक सरलता से यह ज्ञान इस पुस्तक से प्राप्त कर सकेंगे तथा जैनधम की परीक्षाओ के लिए भी यह उपयोगी होगी। पाठक स्वय देखेगे कि इस दृष्टि से इस पुस्तक का महत्त्व विशेष है, सार्थक है।

जैसा कि ऊपर लिखा है, 'प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ' (जिसमें भगवान् महावीर के शासन के समय से लेकर आधुनिक युग तक के दिवगत जैन राजाओ, श्रेष्ठियो, सेनापतियो, सामन्तो और सामाजिक महापुरुषो का कृतित्व परिचय वर्णित है) तथा यह पुस्तक 'जैन शासन के प्रभावक आचाय' एक ही शृ खला की कडियाँ है।

भगवान् के निर्वाण महोत्सव के अवसर पर डॉ विद्याधर जोहरापुरकर और डॉ कस्तूरचन्द्र कासलीवाल के कृतित्व से सम्बद्ध होकर, उसे प्रकाश मे लाकर भारतीय ज्ञानपीठ अपने को गौरवान्वित अनुभव करती है।

भारतीय ज्ञानपीठ की मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला के सम्पादक-द्वय, डॉ आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये तथा सिद्वान्ताचाय प कैलाशचन्द्रजी शास्त्री ने निर्वाण महोत्सव की

प्रकाशन योजनाओ मे जो योगदान दिया है, वह उनकी विद्वत्ता के अनुरूप है। भारतीय ज्ञानपीठ उनके प्रति कृतज्ञ है। भारतीय ज्ञानपीठ के सस्थापक तथा प्रेरणा-स्रोत श्री साहूजी और भारतीय ज्ञानपीठ के सचालन-कार्य को अपने मार्गदर्शन से सुगम बनाने-वाली, ज्ञानपीठ की अध्यक्षा श्रीमती रमा जैन के सम्बन्ध मे इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि निर्वाण महोत्सव के अवसर पर यह सारा प्रकाशन कार्यक्रम उनकी श्रद्धा का प्रतीक है। श्रद्धा का यह सुख अपरिमित है।

लक्ष्मीचन्द्र जैन
सम्पादक एव नियामक
लोकोदय ग्रन्थमाला

नयी दिल्ली
१० अप्रैल, १९७५

अनुक्रम

प्रथम खण्ड

द्वितीय खण्ड

प्रथम खण्ड

प्राक्कथन

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव ।
दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधम ॥

—श्री अमृतचन्द्र–पुरुषाथसिद्धयुपाय

रत्नत्रय—शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र—के तेज से स्वय को निरन्तर प्रभावित करना चाहिए तथा—इस आत्मसाधना के लिए अनुकूल वातावरण समाज में बना रहे इसलिए दान, तपस्या, जिनपूजा तथा विद्याभ्यास के उत्कष द्वारा जिनधर्म का प्रभाव बढाना चाहिए । आचार्यों के इस उपदेश में व्यक्ति और समाज के हितो का सुन्दर समन्वय किया गया है ।

किसी व्यक्ति की आत्मसाधना का सीधा परिचय भावी पीढियो को नही हो सकता । किन्तु धमप्रभावना के लिए किये गये कार्यों से—विशेषकर साहित्य और शिल्प-कृतियो से—भावी पीढियाँ दीघकाल तक प्रेरणा प्राप्त करती है । प्रत्येक प्रबुद्ध समाज अपने अतीत के इन गौरव-चिह्नो से परिचित होने का प्रयत्न करता है और यथासम्भव उनकी रक्षा में सावधान रहता है ।

जैन साहित्य और शिल्पकृतियो तथा शिलालेखो का अध्ययन पिछली दो शताब्दियो में अनेक विद्वानो द्वारा किया गया है । किन्तु अभी कोई ऐसा ग्रन्थ उपलब्ध नही है जिसमें जैन सघ के सभी प्रमुख प्रभावशाली आचार्यों का प्रमाणाधारित विवरण कालक्रम से दिया गया हो । वीर निर्वाण सवत् की पचीसवी शताब्दी के पूण होने के सुअवसर पर ऐसा इतिहास-सकलन औचित्यपूण होगा इस दृष्टि से यह ग्रन्थ लिखा जा रहा है ।

प्राचीन भारत के इतिहास के साधन सीमित है । कितने ही प्राचीन आचार्यों के समय, सम्प्रदाय तथा कार्यों के विषय में निश्चित जानकारी प्राप्त नही है । इसलिए विद्वानो में इन विषयो पर काफी विवाद होते रहे है । हमने यथासम्भव इन विवादो से दूर रहकर आचार्यों के कृतित्व के उज्ज्वल पक्ष तक सीमित रहने का प्रयत्न किया है । इन आचार्यो के काय का गौरव समग्र जैन समाज का गौरव है—उसे अमुक एक सम्प्रदाय में सीमित मानना उचित नही होगा । उनमें से अनेक आचार्य तो समग्र भारतीय समाज के लिए गौरव के विषय है । अनेक जैनेतर विद्वानो ने भी इस दृष्टि से उनके कार्य का सम्मान सहित अध्ययन किया है ।

यह सकलित विवरण के आधार-ग्रन्थो का यथास्थान उल्लेख किया है । उन सबके विद्वान् लेखको के प्रति हम कृतज्ञता प्रकट करते है ।

प्राचीनता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण समझकर हमने वीर निर्वाण सवत् के प्रथम सहस्र वर्षों के सभी ज्ञात आचार्यो का उल्लेख किया हैं, यद्यपि इनमे से कई केवल नाम से ही ज्ञात है—अन्य कोई विवरण उनके विषय मे प्राप्त नही होता। बाद के आचार्यो का ऐसा उल्लेख सम्भव नही हुआ, फिर भी यथासम्भव प्रयास किया गया है कि किसी महत्त्वपूर्ण आचाय का नाम अनुल्लिखित न रहे।

इन आचार्यों की जिन बहुमुखी गतिविधियो से जैन समाज के प्रभाव में वृद्धि हुई उनका सक्षिप्त दिग्दशन यहाँ उवयोगी होगा।

श्रुताभ्यास

भगवान् महावीर के उपदेशो को शब्दबद्ध कर जिन्होने भावी पीढियो के लिए सुरक्षित रखा वे आचाय प्रथमत हमारे श्रद्धाभाजन होते है। इनमे गौतम व सुधम (द्वादशाग), शय्यम्भव (दशवैकालिक), भद्रबाहु (छेदसूत्र), श्यामाय (प्रज्ञापना), पुष्पदन्त-भूतबलि (षट्खण्डागम) तथा गुणधर (कषायप्राभृत) इन आचार्यों का समावेश होता है। इनके साथ विष्णुनन्दि आदि वे आचाय भी स्मरणीय है जिनके नेतृत्व मे इन आगमो का अध्ययन गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा शताब्दियो तक होता रहा।

आगमो पर आधारित नूतन ग्रन्थो की रचना की दृष्टि से पादलिप्त (तरगवती), कुन्दकुन्द (समयप्राभत आदि), विमल (पद्मचरित), उमास्वाति (तत्त्वाथसूत्र), समन्तभद्र (आप्तमीमासा आदि), सिद्धसेन (द्वात्रिंशिका), वट्टकेर(मूलाचार), सवनन्दि(लोकविभाग), यतिवृषभ (तिलोयपण्णत्ती), शिवाय (आराधना), पूज्यपाद (जैनेन्द्र व्याकरण आदि), पात्रकेसरी (त्रिलक्षणकदथन), भद्रबाहु (निर्युक्ति), मल्लवादी (नयचक्र), सघदास (वसुदेवहिंडी), मानतुग (भक्तामरस्तोत्र), जिनभद्र (विशेषावश्यक आदि), जटासिंहनन्दि (वरागचरित), रविषेण (पद्मचरित), जिनदास (चूर्णि), अकलकदेव (तत्त्वाथवार्तिक आदि) तथा हरिभद्र (समरादित्यकथा आदि) पथप्रवतक सिद्ध हुए है। बाद के अनेक आचार्यों ने इस साहित्यिक परम्परा को अपने योगदान द्वारा समृद्ध बनाया। विस्तारभय से यहा उनकी पूरी नामावली नही दी है।

तपस्या

जैन मुनियो के लिए निर्धारित न्यूनतम आचार-नियम उद्दिष्टाहारत्याग, अस्नान, केशलोच आदि सामान्य व्यक्ति की दृष्टि से कठोर तपस्या ही कहलायेंगे। इनसे भी अधिक विशिष्ट प्रकारो से तप साधना का वर्णन कुछ आचार्यों की जीवनकथा मे मिलता है। भद्रबाहु ने दीर्घकाल अवमौदर्य की साधना की थी। पूज्यपाद ने बारह वर्ष एकान्तर उपवास किये थे। गुणभद्र पक्षोपवास किया करते थे। चतुमुखदेव ने चार बार एक-एक सप्ताह उपवास किये थे। अभयदेव ने आजीवन दही आदि विकृतियो का त्याग किया था। मुनिचन्द्र ने केवल काजी का ही आहार ग्रहण किया था। जगच्चन्द्र ने बारह वर्ष आचाम्ल तप किया था। इस प्रकार की तप साधना को आधुनिक समय मे देहदण्डन

मात्र समझ लिया जाता है किन्तु यह नही भूलना चाहिए कि ये उदाहरण निरन्तर भोगोपभोगो मे आसक्त सामान्य लोगो के लिए एक सर्वथा भिन्न आत्महितकारी मार्ग का दशन कराते हैं ।

राजसम्मान

जैन आचार्यों की विभिन्न लोकहितकारी प्रवृत्तियो से प्रभावित होकर अनेक राजाओ ने समय-समय पर उनके उपदेश सुने तथा दानो द्वारा उनके ज्ञानप्रसारादि कार्यों में सक्रिय सहयोग दिया । राजा श्रेणिक और अजातशत्रु द्वारा गौतम और सुधर्म के सम्मान की कथाएँ पुराणप्रसिद्ध है । चन्द्रगुप्त ने भद्रबाहु से और सम्प्रति ने सुहस्ति से धमकार्यो की प्रेरणा प्राप्त की । शक राजाओ ने कालक के अनुरोध पर अत्याचारी गर्दभिल्ल का नाश किया । सातवाहन कुल के राजाओ ने कालक और पादलिप्त का सम्मान किया । विक्रमादित्य सिद्धसेन से और दुर्विनीत पूज्यपाद से प्रभावित थे । गगवश-स्थापक माधववर्मा सिंहनन्दि के शिष्य थे । इनके वशजो ने भी वीरदेव आदि अनेक आचार्यो को दानादि से सम्मानित किया । चालुक्य वश के राजाओ ने जिननन्दि, प्रभाचन्द्र, रविकीर्ति आदि के धर्मकार्यो में सहयोग दिया । हर्ष राजा की सभा में मानतुग सम्मानित हुए । राष्ट्रकूट वश के राजाओ की सभाओ मे अकलकदेव, जिनसेन, उग्रादित्य आदि की वाणी मुखरित हुई । कर्णाटक में होयसल वश तथा गुजरात में चौलुक्य वश का समय शिल्प और साहित्य की समृद्धि से परिपूर्ण रहा, इस काल के आचार्यो के उल्लेखो की सख्या सैकडो मे पहुँचती है ।

वादविजय

प्राचीन भारत के विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायो ने अपने-अपने मत के समथन और अन्य मतो के खण्डन के लिए तकशास्त्र का व्यापक उपयोग किया । ऐसे वादविवाद तब विशेष महत्त्वपूण हुए जब विभिन्न राजाओ की सभाओ मे सस्कृत को प्रतिष्ठा मिली । जैन दशन अपने आपमे वाद को महत्त्व नही देता—उसका उद्देश्य तो विभिन्न वादो मे यथाथ तत्त्वज्ञान द्वारा सवाद स्थापित करना है । किन्तु अन्य सम्प्रदायो द्वारा वाद में विजय को सामाजिक लाभ का साधन बनाया गया तब समाज-गौरव की रक्षा के लिए आवश्यक होने पर जैन आचार्यों ने भी वादसभाओ मे भाग लिया और इसमें उन्हे सफलता भी अच्छी मिली । समन्तभद्र, सिद्धसेन, मल्लवादी, अकलक, हरिभद्र, विद्यानन्द, वादिराज, प्रभाचन्द्र, शान्तिसूरि, देवसूरि आदि की जीवनकथाओ से यह स्पष्ट होता है ।

शिल्पसमृद्धि

वीतराग भाव की साधना जैन परम्परा का लक्ष्य रहा है । सुशिक्षित और अशिक्षित दोनो के लिए इस साधना का एक प्रभावी माग है जिनबिम्बो का दशन । इसलिए समय-समय पर आचार्यों ने जिनमूर्तियो और मन्दिरो के निर्माण का उपदेश

दिया। यद्यपि इनमें से बहुत-से कालप्रभाव से और आक्रमणकारियो की विध्वसक प्रवृत्ति से नष्ट हो गये तथापि जो शेष है उनसे भी प्राचीन भारत की कला-समृद्धि अच्छी तरह स्पष्ट होती है। मथुरा के माधरक्षित और महाराष्ट्र के इन्द्ररक्षित अबतक ज्ञात जैन कलाकृतियो से सम्बद्ध आचार्यों मे सबसे प्राचीन है। मथुरा के भग्नावशेषो से अन्य बीस आचार्यो के नाम ज्ञात हुए है। उदयगिरि की पाश्वतीर्थंकर की मूर्ति से आचार्य गोशर्मा का नाम सम्बद्ध है। मैसूर प्रदेश के वीरदेव आदि आचाय जिन मन्दिरो से सम्बद्ध थे उनमें से अधिकाश अब नष्ट हो गये हैं किन्तु ऐहोले का रविकीर्ति-निर्मित मन्दिर अभी भी दशनीय है। इसी प्रकार उदयदेव आदि आचार्यों से सम्बद्ध लक्ष्मेश्वर का शखजिनेन्द्रमन्दिर भी विद्यमान है। एलोरा के गुहामन्दिरो से नागनन्दि और तमिल प्रदेश के अनेक गुहामन्दिरो से आर्यनन्दि सम्बद्ध थे—ये मन्दिर भी अभी दर्शनीय स्थिति में है। अजितसेन के उपदेश से प्रतिष्ठित गोम्मटेश्वर महामूर्ति तथा धमघोष की प्रेरणा से निर्मित आबू की विमलवसही भारत मे ही नही, विदेशी कलासमीक्षको में भी प्रशसित हुए है। विस्तारभय से यहाँ केवल प्रमुख शिल्पकृतियो का ही उल्लेख किया है।

ऋद्धिसिद्धि

तपस्या और मन्त्रसाधना के फलस्वरूप भौतिक दृष्टि से असम्भव प्रतीत होनेवाले काय करने की शक्ति प्राप्त होती है ऐसा अनेक आचार्यों की जीवनकथाओ में कहा गया हैं। उन्हे आम तौर पर ऋद्धिसिद्धि कहा जाता है। धमभावना के एक प्रमुख साधन के रूप मे ऐसे प्रसगो का वर्णन परम्पराभिमानी लेखको की रचनाओ मे मिलता है। इनमे से अधिकाश लेखक वर्णित घटना के कई शताब्दियो पश्चात् हुए है तथा विभिन्न कथाओ में परस्पर अनुकरण और अतिशयोक्ति की प्रवृत्ति भी पायी जाती है। अत प्रामाणिक इतिहास के रूप में इन्हें स्वीकृत नहीं किया जाता। फिर भी इनका दो दृष्टियो से महत्त्व है। एक तो इन कथाओ के अतिशयोक्त वर्णन में भी कुछ सत्याश तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थिति का बोध करानेवाला होता है। दूसरे, लोककथाओ के रूप में भी इनका महत्त्व है—इतिहास में प्राचीन घटनाओ का ही लेखाजोखा नही होता, उस समय के लोगो की विचारपद्धति का भी आकलन होता है। अत ये ऋद्धि-प्रदशन की घटनाएँ हुई हो या न हो—कथालेखको की दृष्टि में उनका महत्त्व अवश्य था और उन कथाओ के श्रोता भी प्राय उनपर विश्वास करते थे। इसी दृष्टि से यहाँ सक्षेप में ऐसी कथाओ का उल्लेख किया गया है। इस दृष्टि से उल्लेखनीय कथाएँ वज्र, पादलिप्त, खपुट, कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, सिद्धसेन, पूज्यपाद, जीवदेव, मानतुग, अकलक, हरिभद्र, अभयदेव, वादिराज आदि की है।

उपयुक्त विविध दृष्टियो से जैन आचार्यों के कार्यों का सक्षिप्त वणन यहाँ प्रस्तुत किया गया है। हम आशा करते है कि सर्वसाधारण पाठको के लिए यह सकलन उपयोगी प्रतीत होगा।

●

श्रीवीर निर्वाण सवत् की पहली शताब्दी

[ईसवी सन् पूर्व ५२७ से ४२७]

गौतम

नमो जगन्नमस्याय मुनीन्द्रायेन्द्रभूतये ।
य प्राप्य त्रिपदी कृत्स्न विश्व विष्णुरिवानशे ।।

—धनपाल-तिलक मंजरी प्रारम्भ

भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद बारह वष तक गौतम इन्द्रभूति जैन सघ के अग्रणी रहे ।

इनका जन्म मगध प्रदेश (दक्षिण बिहार) की राजधानी राजगृह के समीप स्थित गोवर नामक ग्राम में गौतम गोत्र के ब्राह्मण कुल में हुआ था। उनके व्यक्तिगत नाम इन्द्रभूति की अपेक्षा गोत्र-नाम गौतम ही अधिक प्रचलित हुआ। वेद-वेदागो का ज्ञान, यज्ञादि कार्यों में निपुणता तथा पाँच सौ शिष्यो का गुरुपद प्राप्त होने से गौतम का गृहस्थ जीवन सफल माना जाता था किन्तु उनके मन में तत्त्वजिज्ञासा अतृप्त रही थी। भगवान् महावीर की दिव्य-वाणी सुनकर जब उनके मन की शकाएँ मिट गयी तब परम्परा और प्रतिष्ठा के बन्धनो को तोडकर वे भगवान् के शिष्य हो गये। प्रथम गणधर के रूप मे जैन सघ में उन्हें आदर का स्थान प्राप्त हुआ। भगवान् महावीर के साथ तीस वष विहार करते हुए उन्होने असख्य श्रोताओ को भगवान् की वाणी का रहस्य समझाया। पउमचरिय आदि बीसो पुराणग्रन्थो में वणन आता है कि भगवान् के समवशरण में राजा श्रेणिक प्रश्न करते थे और गौतम उनका उत्तर देते थे।

'अत्थ भासइ अरहा सुत्त गथति गणहरा णिउण'—भगवान् के उपदेशो को सूत्रबद्ध करने का काय गणधर कुशलता से करते है। प्रथम गणधर होने से गौतम इस काय में प्रमुख रहे। वतमान जैन साहित्य का मूल आधार बारह अग ग्रन्थ है जिनका सकलन गणधरो ने किया था। आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृत्दशा, अनुत्तरौपपादिकदशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकश्रुत तथा दृष्टिवाद ये इन अगो के नाम है। ये ग्रन्थ दीर्घकाल तक मौखिक रूप में ही रहे, गुरुशिष्यपरम्परा द्वारा इनका अध्ययन होता रहा। अत इनके मूलरूप में कुछ परिवतन होना स्वाभाविक था। वर्तमान समय में प्राप्त इन ग्रन्थो के लिखित रूप में कौन से अश प्राचीन है और कौन से बाद में जुडे है इसपर विद्वानो ने काफी विचार विमर्श

किया है ।[1]

सूत्रकृत, व्याख्याप्रज्ञप्ति, उपासकदशा तथा विपाकश्रुत इन अगो के वर्तमान सस्करणो में गौतम के विभिन्न व्यक्तियो से हुए सवादो के अनेक प्रसग वर्णित है। उपागो और मूलसूत्रो-जैसे अन्य आगमो में भी अनेक स्थानो पर गौतम का वर्णन मिलता है। इनमें उत्तराध्ययनसूत्र का केशीगौतमीय अध्ययन विशेष महत्त्वपूण है। इससे ज्ञात होता है कि तेईसवें तीथकर पार्श्वनाथ की परम्परा के आचार्य केशी से श्रावस्ती नगर में गौतम की भेंट हुई थी तथा वहाँ दोनो ने अपनी परम्पराओ के छोटे-मोटे मतभेदो का समाधान किया था।

बौद्ध ग्रन्थ मज्झिमनिकाय के सामगामसुत्त मे वणन है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद उनके शिष्यो में तीव्र कलह शुरू हुआ। किन्तु जैन परम्परा मे ऐसे किसी प्रसग का उल्लेख नही मिलता। इससे मालूम होता है कि गौतम के प्रभावी व्यक्तित्व से छोटे-मोटे मतभेद गम्भीर रूप धारण नही कर सके और जैन सघ की एकता सुदृढ बनी रही।

मगध प्रदेश की राजधानी राजगृह के समीप विपुल पवत पर गौतम का निर्वाण हुआ।

सुधर्म

विदेह प्रदेश (उत्तर बिहार) की राजधानी वैशाली के समीप कोल्लाक नामक ग्राम मे सुधम का जन्म हुआ था। गौतम के साथ ही वे भी भगवान् महावीर के शिष्य हुए तथा पाँचवें गणधर के रूप में सम्मानित हुए। भगवान् के निर्वाण के बाद गौतम केवलज्ञानी हुए इसलिए सघव्यवस्था से उनका पद ऊपर मानकर कई गुरुक्रम-वणनो—पट्टावली आदि में सुधम को प्रथम प्रधान आचार्य का स्थान दिया गया है। निरयावली आदि आगमो तथा वसुदेवहिंडी आदि पुराण-ग्रन्थो मे सुधर्म द्वारा उनके प्रधान शिष्य जम्बू को आगमो के उपदेश दिये जाने का वर्णन मिलता है। इसी से कभी-कभी अग ग्रन्थो को सुधमरचित भी कहा जाता है।

गौतम के निर्वाण के बाद सुधर्म केवलज्ञानी हुए तथा बारह वष के विहार के बाद विपुल पर्वत पर उनका निर्वाण हुआ।

सुधर्म का गोत्र अग्निवेशायन था। बौद्ध ग्रन्थ दीघनिकाय—सामञ्ञफलसुत्त में निगण्ठ नाटपुत्त (महावीर) का यही गोत्र नाम बताया है जब कि जैन परम्परा में महावीर का गोत्र-नाम काश्यप बतलाया है। इससे ज्ञात होता है कि आरम्भिक बौद्ध आचार्यों को जैन सघ के प्रधान के रूप में सुधर्म का परिचय था यद्यपि वे महावीर और सुधर्म दोनो के व्यक्तिनाम और गोत्रनाम को ठीक तरह से अलग-अलग नही लिख

---

१ डॉ 'जैकोबी ने आचार और सूत्रकृत इन अगों के अँगरेजी अनुवाद सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट ग्रन्थमाला में प्रस्तुत किये थे। डॉ शूब्रिंग द्वारा सकलित वोर्तेस महावीर मुरयत पचम अंग पर आधारित है जिसके महावीरवाणी इस नाम से भारतीय भाषाओं में भी अनुवाद हुए हैं।

पाये—गुरु के नाम के साथ शिष्य का गोत्रनाम जोड दिया।

कही-कही सुधम का दूसरा नाम लोहाय था ऐसा वर्णन भी मिलता है।

जम्बू

सुधम के प्रधान शिष्य जम्बू अन्तिम केवलज्ञानी के रूप में प्रसिद्ध है। इनका जीवन पुराण-कथाओ का विषय बन गया है। वसुदेवहिण्डी और उत्तरपुराण में इनकी कथा मिलती है। प्राकृत में गुणपाल का, अपभ्रश में वीर कवि का तथा सस्कृत में राजमल्ल का जम्बूस्वामीचरित प्रकाशित हो चुका है।[1]

मगध प्रदेश की राजधानी राजगृह के एक श्रेष्ठिकुल में जम्बू का जन्म हुआ था। अल्प वय में ही सुधर्म का धर्मोपदेश सुनकर वे विरक्त हुए। परिवार के लोगो के आग्रह से उन्होने विवाह तो किया किन्तु शीघ्र ही अपने सकल्प के अनुसार मुनिदीक्षा ली। इस अवसर पर अनुराग और वैराग्य की तुलना उनकी पत्नियो के साथ हुए वार्तालाप के माध्यम से उनके चरित्र-लेखको ने विस्तार से की हैं। अनेक सुन्दर कथाएँ इस प्रसग में समाविष्ट हुई है।

सुधम के निर्वाण के बाद जम्बू केवलज्ञानी हुए तथा लगभग चालीस वष के बिहार के बाद विपुल पर्वत पर उनका निर्वाण हुआ।

विष्णुनन्दि और प्रभव

जम्बूस्वामी के दो उत्तराधिकारियो का वणन मिलता है। तिलोयपण्णत्ती आदि की परम्परानुसार जम्बूस्वामी के बाद विष्णुनन्दि आचाय हुए। ये श्रुतकेवली अर्थात् बारह अग ग्रन्थो के सम्पूर्ण ज्ञान के धारक थे। जम्बूस्वामी-चरितो में तथा कल्पसूत्र, नन्दीसूत्र आदि में जम्बूस्वामी के एक और शिष्य प्रभव का परिचय मिलता है। ये विन्ध्यपर्वतीय प्रदेश के एक राजकुल में उत्पन्न हुए थे किन्तु सयोग से चोरो के गिरोह में शामिल हो गये थे। जम्बूस्वामी का वैराग्य देखकर ये प्रभावित हुए और उन्ही के साथ मुनि हुए। गुरु के निर्वाण के बाद लगभग चालीस वष इन्होने मुनिसघ का नेतृत्व किया। अपने पाँच सौ सहयोगियो के साथ वे एक बार मथुरा नगर के समीप ठहरे थे। कथा के अनुसार एक व्यन्तर देवी ने उन्हे उस स्थान से चले जाने को कहा किन्तु सूर्यास्त के बाद विहार करना साधुओ के लिए अनुचित है ऐसा सोचकर आचाय सघसहित वही ध्यान में लीन हो गये। रात में व्यन्तर देवो द्वारा किये गये भयकर उपसर्ग से उन सबका देहान्त हुआ। उस स्थान पर जैन सघ द्वारा अनेक स्तूपो की स्थापना की गयी थी जिनके अवशेषो से प्राप्त अनेक शिलालेखो का आगे यथास्थान उल्लेख हुआ है।

[हरिषेण के कथाकोश में प्रभव के स्थान पर प्रमुख आचाय का नाम विद्युच्चर बताया है तथा व्यन्तर-उपसर्ग का स्थान तामलिन्दी बताया है। तामलिन्दी बगाल के समुद्रतट पर प्रसिद्ध बन्दरगाह था, यह अब तामलुक कहलाता है।]

---

१ डॉ विमलप्रकाश जैन ने अपभ्रश जम्बूस्वामीचरित की प्रस्तावना में इस विषय से सम्बन्धित साहित्य का अध्ययन प्रस्तुत किया है।

श्रीवीर निर्वाण संवत् की दूसरी शताब्दी
[ईसवी सन् पूर्व ४२७ से ३२७]

शय्यम्भव

ये राजगृह के एक ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुए थे। एक यज्ञ के अवसर पर आचाय प्रभव के दो शिष्यो के धमवचन सुनकर वे विरक्त हुए तथा मुनि हुए। कुछ ही समय पश्चात् उन्हे आचार्य पद प्राप्त हुआ। उनकी दीक्षा के समय पत्नी गर्भवती थी उसे पुत्र हुआ जिसका नाम मनक रखा गया था। मनक आठ वष की अवस्था में पिता की खोज में निकल पडा। चम्पा नगर में पिता-पुत्र मिले तथा मनक ने भी साधु-दीक्षा ली। अपने दिव्य ज्ञान से पुत्र अल्पायु है ऐसा जानकर आचार्य ने उसके लाभाथ अगग्रन्थो से महत्त्वपूण अशो का सकलन किया जो दशवैकालिक सूत्र इस नाम से प्रसिद्ध हुआ। अगो के बाद आगम के रूप मे जो ग्रन्थ सम्मानित हुए उनमें यह पहला है तथा साधुओ के आचार-विचारो के ज्ञान के लिए बडा महत्त्वपूण है। अगो के समान यह भी दीर्घकाल तक मौखिक परम्परा से पढा जाता रहा। वलभी वाचना के पाठ के अनुसार इसके अनेक सस्करण प्रकाशित हो चुके है।[1]

अन्य आचार्य

शय्यम्भव के बाद यशोभद्र आचाय हुए तथा यशोभद्र के सम्भूतिविजय और भद्रबाहु ये दो शिष्य हुए।

कल्पसूत्र, नन्दीसूत्र आदि में वर्णित इन आचार्यों के समकालीन श्रुतकेवलियो के नाम तिलोयपण्णत्ती आदि में इस प्रकार मिलते है—विष्णुनन्दि के बाद क्रमश नन्दिमित्र, अपराजित, गोवधन और भद्रबाहु। अर्थात् दोनो सूचियो मे अन्तिम नाम समान है और वह भद्रबाहु का है। इनका वणन अगले परिच्छेद में दिया है।

अगबाह्य आगमो मे दशवैकालिक सूत्र के समान ही प्राचीन और सम्मानित ग्रन्थ उत्तराध्ययन सूत्र और आवश्यक सूत्र है। इनके सकलनकर्ता आचार्यों का कोई विवरण प्राप्त नही है।

---

१ दशवैकालिक का डॉ ल्यूमन और शूब्रिंग का सस्करण विशेष महत्त्वपूर्ण है। आचार्य तुलसी के मार्गदर्शन में सम्पादित नवीन सस्करण भी उल्लेखनीय है।

श्रीवीर निर्वाण सवत् की तीसरी शताब्दी

[ईसवी सन् पूर्व ३२७-२२७]

भद्रबाहु

वर्ण्य कथ नु महिमा भण भद्रबाहो मोहोरुमल्लमदमर्दनवृत्तबाहो ।
यच्छिष्यतासमुकृतेन स चन्द्रगुप्त शुश्रूष्यते स्म सुचिर वनदेवताभि ॥[1]

दक्षिण भारत में जैन सघ के प्रभाव में उल्लेखनीय वृद्धि का श्रेय अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु को है। उत्तर भारत में दीर्घकालीन दुष्काल के समय तत्कालीन सम्राट् चन्द्रगुप्त ने अपने युवा पुत्र बिन्दुसार को राज्यभार सौपकर भद्रबाहु से मनिदीक्षा ली और वे गुरु-शिष्य सघसहित दक्षिण में आये। मैसूर प्रदेश के श्रवणबेलगोल को इन्ही के निवास से तीथक्षेत्र होने का गौरव प्राप्त हुआ। यहाँ के चन्द्रगिरि पवत पर वह गुहा अब भी पूजास्थान बनी हुई है जहाँ भद्रबाहु के अन्तिम दिन बीते थे। चन्द्रगुप्त-वसति नामक जिनमन्दिर भी इस पवत पर है।

दक्षिण के साहित्य मे भी भद्रबाहु की स्मृति सादर सुरक्षित है। कुन्दकुन्द ने बोधप्राभत की दो गाथाओ में उनका सादर उल्लेख किया है। शिवाय की आराधना में उनकी उग्र अवमौदय (—दैनिक आहार की मात्रा से कम आहार ग्रहण करना) तपस्या की प्रशसा में एक गाथा है।

जैसा कि ऊपर बताया है, कल्पसूत्र मे भी भद्रबाहु का उल्लेख है। यहा उनके चार शिष्यो के नाम गोदास, अग्निदत्त, यज्ञदत्त और सोमदत्त बताये है। इनमे से गोदास के शिष्यवग की चार शाखाएँ बतायी है—ताम्रलिप्तिका, कोटिवर्षिका, पौण्ड्रवध-निका तथा दासीखवटिका। ये चारो नाम बगाल के विभिन्न नगरो से सम्बन्धित है। ताम्रलिप्ति का वतमान नाम तामलुक है जो मिदनापुर जिले में है, कोटिवष दीनाजपुर जिले के बानगढ का पुराना नाम है, बोगरा जिले का महास्थान पुण्ड्रवधन का आधुनिक नाम है तथा खर्वट इसी नाम से मिदनापुर जिले में है। इससे ज्ञात होता है कि गोदास के शिष्यो का बगाल के विभिन्न भागो मे अच्छा प्रभाव था।

हेमचन्द्र ने परिशिष्टपर्व में भद्रबाहु की नेपालयात्रा का उल्लेख किया है। दृष्टिवाद के अध्ययन के लिए स्थूलभद्र उनकी सेवा में उपस्थित हुए थे यह भी इस कथा में बताया है।

---

१ जैन शिलालेख सग्रह, भाग १, पृ १०१—यह श्लोक सन् ११२८ के मल्लिषेणप्रशस्ति के नाम से प्रसिद्ध लेख में है जो चन्द्रगिरि के पाश्वनाथमन्दिर में स्थापित स्तम्भ पर उत्कीर्ण है।

दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति के अनुसार दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प और व्यवहार ये तीन सूत्रग्रन्थ भद्रबाहुरचित है। तीनो में मुनियो के आचरण और प्रायश्चित्त सम्बन्धी नियमो का विस्तार से वर्णन है। इन्हे छेदसूत्र भी कहा जाता है। अगव्यतिरिक्त आगमो में इनका महत्त्वपूण स्थान है। अन्य आगमो के समान ये भी मौखिक परम्परा से शताब्दियो तक पढे जाते रहे। वलभी-वाचना में निश्चित रूप मे इनका प्रकाशन हो चुका है।[1]

परम्परागत वणनो में निर्युक्ति आदि अन्य कई रचनाएँ भी इन्ही भद्रबाहु की मानी गयी है किन्तु आधुनिक समय में इन दोनो का अन्तर स्पष्ट हुआ है। निर्युक्तिकर्ता भद्रबाहु (द्विनीय) के विषय में आगे एक परिच्छेद दिया गया है।

[परम्परागत वणन में भद्रबाहु का स्वर्गवास वीर सवत् १७० में बताया है किन्तु चन्द्रगुप्त का इतिहास से ज्ञात राज्यकाल ईसवी सन् पूव ३२१-२९७ है अत वीर सवत् की तीसरी शताब्दी में भद्रबाहु का वणन समाविष्ट किया है।]

विशाखादि आचार्य

तिलोयपण्णत्ती आदि के अनुसार भद्रबाहु के बाद १८३ वर्षों में ग्यारह आचार्य हुए उनके नाम इस प्रकार है—विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नागसेन, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिल, गगदेव तथा धमसेन। ये सब दशपूवधारी थे अर्थात् प्रथम ग्यारह अगो का तो पूर्ण अध्ययन उन्होने किया था, बारहवें अग के अन्तिम चार पूर्वों का अध्ययन नही कर पाये थे। इनमे से प्रथम पाँच वीर सवत् की इस तीसरी शताब्दी के और शेष छह अगली (चौथी) शताब्दी के माने जा सकते है। भद्रबाहु सम्बन्धी कथाओ मे विशाखाचार्य के तमिल देश मे विहार का उल्लेख है। अन्य आचार्यों का कोई विवरण प्राप्त नही है।

स्थूलभद्र

कल्पसूत्र आदि मे सम्भूतिविजय और भद्रबाहु दोनो के शिष्य के रूप में स्थूलभद्र का नाम मिलता है। हेमचन्द्र ने परिशिष्टपर्व में इनकी कथा विस्तार से बतायी है। इनके पिता शकटाल नन्द राजा के मन्त्री थे। उनकी मृत्यु के बाद स्थूलभद्र को मन्त्रिपद स्वीकार करने का आग्रह हुआ किन्तु उन्होने पराधीन जीवन की अपेक्षा मुनिदीक्षा को ही श्रेयस्कर समझा। पूववय में विलास में वे जितने मग्न थे उतने ही दृढ वैराग्य में भी रहे। उत्तम ब्रह्मचर्य के कारण गुरु ने उन्हे दुष्करकारक कहकर सम्मानित किया। दीघकालीन दुष्काल के कारण साधुओ के अध्ययन-अध्यापन में विघ्न हुआ था। अत स्थूलभद्र ने पाटलिपुत्र में ज्ञानवद्ध साधुओ का सम्मेलन आयोजित किया और ग्यारह अगो का पाठ निश्चित किया। पूरे जैन सघ में मान्य न होने पर भी वर्तमान आगमग्रन्थो के इतिहास की दृष्टि से यह सम्मेलन महत्त्वपूर्ण माना गया है। भद्रबाहु से बारहवें अग

१, डॉ शूब्रिंग ने कल्प और व्यवहारसूत्र का सम्पादन किया है। मुनि पुण्यविजय का बृहत् कल्पसूत्र भाष्य का सस्करण भी महत्त्वपूर्ण है।

का ज्ञान भी स्थूलभद्र को मिला था किन्तु इसके अन्तिम चार पूर्वो के अर्थज्ञान से वे वचित रहे। कल्पसूत्र में उनके ग्यारह गुरुबन्धुओ के नाम इस प्रकार दिये है—नन्दनभद्र, उपनन्द, तिष्यभद्र, यशोभद्र, स्वप्नभद्र, गणिभद्र, पूणभद्र, ऋजुमति, जम्बू, दीघभद्र और पुटभद्र।

महागिरि

स्थूलभद्र के ज्येष्ठ शिष्य महागिरि हुए। इन्हे जिनकल्पी कहा गया है अर्थात् वस्त्रादि का त्याग कर इन्होने उग्र तपस्या की थी। कल्पसूत्र में इनके शिष्यो के नाम इस प्रकार दिये है—उत्तर, बलिसह, धनाढ्य, श्रीआढ्य, कौण्डिन्य, नाग, नागमित्र और रोहगुप्त। इनमें उत्तर और बलिसह के शिष्यो की चार शाखाएँ बतायी है—कौशाम्बिका, शुक्तिमतिका, कोटाम्रानी और चन्द्रनगरी। प्रथम दो नामो से ज्ञात होता है कि उत्तर-प्रदेश के यमुनातटवर्ती दक्षिण भाग में इनका अच्छा प्रभाव रहा होगा—कौशाम्बी यमुनातट पर कोसम गाँव के रूप में पहचानी गयी है, यह इलाहाबाद से लगभग ४० मील पश्चिम में है, शुक्तिमती वतमान बाँदा जिले में कही थी। कोटाम्र और चन्द्रनगर की पहचान नही हो पायी है।

सुहस्ति

ये महागिरि के गुरुबन्धु थे। मौर्य सम्राट् सम्प्रति (राज्यकाल ईसवी सन् पूर्व २३६–२२७) की इनपर बडी श्रद्धा थी। जैन साधुओ का विहार अनाय प्रदेशो में भी हो इसलिए सम्प्रति ने काफी प्रयत्न किये थे। हेमचन्द्र ने परिशिष्टपव मे इनकी कथा विस्तार से दी है। गुजरात और राजस्थान के कई जिनमन्दिर सम्प्रति द्वारा निर्मित माने जाते है। जिनप्रभ के विविधतीर्थकल्प में शत्रुजय के जीर्णोद्धार का श्रेय सम्प्रति को दिया गया है।

उज्जयिनी में सुहस्ति के धर्मवचनो को सुनकर अवन्तिसुकुमार नामक श्रेष्ठि-पुत्र ने मुनिदीक्षा ली थी। रात्रि के समय ध्यानमग्न वे मुनि सियारो के उपद्रव से मृत्यु को प्राप्त हुए। उनके देहावसान के स्थान पर उनके पुत्र ने विशाल जिनमन्दिर बनवाया था। राजशेखर के प्रबन्धकोश के अनुसार यही बाद में महाकाल शिवमन्दिर के रूप में प्रसिद्ध हुआ था। सुहस्ति के शिष्यो की विभिन्न शाखाओ का विवरण अगले परिच्छेदो में दिया गया है। इससे उनकी सगठन-कुशलता और सफल नेतृत्व का परिचय मिलता है।

श्रीवीर निर्वाण सवत् की चौथी शताब्दी

(ईसवी सन् पूर्व २२७ से १२७)

सुस्थित

कल्पसूत्र में सुहस्ति के ज्येष्ठ शिष्य का नाम सुस्थित बताया है। इन्होने सूरि-मन्त्र का एक कोटि बार जप किया था अत ये कोटिक कहलाये। इनके कोटिक गण की चार शाखाएँ थी—उच्चनगरी, विद्याधरी, वज्री और मध्यमा। प्रथम शाखा का नाम उच्चनगर से लिया गया है। यह उत्तरप्रदेश के बुलन्दशहर का प्राचीन नाम था। कोटिक गण के अन्तर्गत वत्थलिज्ज, ब्रभलिज्ज, वाणिय और पण्हवाहन ये चार कुल भी बतलाये है, इन नामो का स्पष्टीकरण नही हो पाया है। सुस्थित के पाच शिष्यो के नाम कल्पसूत्र में बताये है—इन्द्रदिन्न, प्रियग्रन्थ, विद्याधरगोपाल, ऋषिदत्त और अर्हद्दत्त।

सुहस्ति के अन्य शिष्य

कल्पसूत्र में सुस्थित के ग्यारह गुरुबन्धुओ और उनके शिष्यवग की विस्तृत नामावली दी है। इनमें (१) सुप्रतिबुद्ध काकन्दिक थे—उनका मूल स्थान काकन्दी नगर था, इसकी पहचान बिहार के मुगेर जिले में स्थित काकन ग्राम से की गयी है। (२) रोहण के शिष्यवर्ग को उद्देह गण कहते थे। इसकी एक शाखा उदुम्बरीया थी। बिहार के सन्थाल परगना जिले को प्राचीन समय में उदुम्बर कहते थे, वहाँ इस शाखा का प्रभाव रहा होगा। माषपुरिका, मतिपत्तिका और पुण्यपत्तिका ये इस गण की अन्य शाखाएँ थी तथा नागभूतिक, सोमभूतिक, उल्लगच्छ, हत्थलिज्ज, नन्दिज्ज एव पारिहासक ये छह कुल भी इस गण में थे—इन नामो का स्पष्टीकरण नही हो पाया है। (३) भद्रयश के शिष्यवग को उडुवालिय गण कहते थे। इसकी चार शाखाएँ थी—चम्पिका, भद्रिका, काकन्दिका और मैथिली। ये चारो नाम बिहार के पुरातन नगरो से लिये गये हैं। चम्पा और काकन्दी का उल्लेख ऊपर हो चुका है, मिथिला उत्तर बिहार का प्रसिद्ध नगर था जो इस समय जनकपुर कहलाता है, भद्रिका गया से लगभग चालीस मील दूर था, इसके स्थान पर अब दत्तारा नामक ग्राम है। इस प्रकार भद्रयश के शिष्यवग का बिहार के विभिन्न भागो में अच्छा प्रभाव था ऐसा प्रतीत होता है। इनके तीन कुल भी थे—भद्रयशीय, भद्रगुप्तीय और यशोभद्रीय। (४) कामर्धि के शिष्यवर्ग को वेसवाडिय गण कहते थे। इसकी एक शाखा श्रावस्तिका थी, श्रावस्ती के स्थान पर आज-कल सहेट-

महेट नामक ग्राम है, यह उत्तरप्रदेश के बलरामपुर जिले में है। इस गण की अन्य शाखाओ के नाम राज्यपालिका, अन्तरजिका और क्षेमलिका थे तथा कुलो के नाम गणिक, मैथिलीय, कार्मधिक और इन्द्रपुरक थे। (५) ऋषिगुप्त के शिष्यवर्ग को माणव गण कहते थे। इसकी एक शाखा का नाम सौराष्ट्रीया था—गुजरात के पश्चिम भाग सौराष्ट्र में इसका प्रभाव रहा होगा। इस गण की अन्य शाखाएँ काश्यपीया, गौतमीया और वासिष्ठीया थी तथा ऋषिगुप्तीय, ऋषिदत्तीय और अभिजयन्त ये तीन कुल भी इस गण मे थे। (६) श्रीगुप्त के शिष्यवग को चारण गण कहते थे। इसकी एक शाखा साकाशिका थी—उत्तरप्रदेश का प्राचीन नगर साकाश्य अब सकिस नामक ग्राम है, वहाँ इस शाखा का प्रभाव था। हारियमालाकारी, गवेधुका और वज्जनगरी ये इस गण की अन्य शाखाएँ थी तथा वत्थलिज्ज, प्रीतिधर्मिक, हालिज्ज, पुष्यमित्रीय, मालिज्ज, अज्जवेडय और कृष्णसह ये सात कुल भी थे। सुस्थित के अन्य गुरुबन्धुओ के नाम मेघगणी, रक्षित, रोहगुप्त, ब्रह्मगणी और सोमगणी बतलाये है।

कल्पसूत्र के उपयुक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि सम्प्रति के प्रोत्साहन और सुहस्ति के नेतृत्व के फलस्वरूप इस काल में जैन साधुसघ के प्रभाव में काफी वृद्धि हुई थी।[१]

श्यामार्य

सुहस्ति तक के आचार्यों की नामावली कल्पसूत्र और नन्दीसूत्र में समान है। कल्पसूत्र में उल्लिखित सुहस्ति के उत्तराधिकारियो का ऊपर उल्लेख किया है। नन्दीसूत्र में इनके समकालीन आचार्यों के नाम बहुल के बन्धु (बलिस्सह), स्वाति और श्यामाय इस प्रकार दिये है। इनमें अन्तिम–श्यामाय–प्रज्ञापनासूत्र के कर्ता के रूप में प्रसिद्ध है। अगो से सम्बद्ध विविध विषयो और कथाओ का सग्रह उपाग ग्रन्थो मे किया गया है। इनकी सख्या १२ है। प्रज्ञापना पाँचवाँ उपाग है। इसके ३६ प्रकरणो में जीवो के विभिन्न प्रकारो और गुणो का विवरण है। अन्य उपागो के सकलनकर्ताओ का कोई परिचय उपलब्ध नही होता। ये सब ग्रन्थ वलभी वाचनानुसार प्रकाशित हो चुके है।

[तिलोयपण्णत्ती आदि में उल्लिखित इस शताब्दी के आचार्यो के नाम ऊपर बताये जा चुके है।]

माघरक्षित और इन्द्ररक्षित

अबतक के आचार्यों का विवरण उत्तरकालीन साहित्य पर आधारित है। इस शताब्दी के दो आचार्यों का परिचय समकालीन शिलालेखो से प्राप्त होता है। दोनो लेखो में तिथि का उल्लेख नही है फिर भी अक्षरो की बनावट के आधार पर ईसवी सन्

१ इस परिच्छेद में उल्लिखित स्थानो का विवरण डॉ जगदीशचन्द्र जैन के 'भारत के प्राचीन जैन तीर्थ' से लिया गया है।

पूर्व १५० के आसपास विशेषज्ञो ने इनका समय निश्चित किया है। एक लेख मथुरा से प्राप्त हुआ है। इसमे माघरक्षित श्रमण के शिष्य श्रावक उत्तरदासक द्वारा स्थापित मन्दिर के तोरण का उल्लेख है। दूसरा लेख महाराष्ट्र में पूना जिले में पाला ग्राम के समीप वन में स्थित एक गुहा में है। इसमें पचनमस्कारमन्त्र की पहली पक्ति के साथ यह सूचना दी है कि इस गुहा और जलकुण्ड का निर्माण कातुनद के भदन्त इन्द्ररक्षित की प्रेरणा से हुआ था। जैन शिल्पो के इतिहास की दृष्टि से ये दोनो लेख बहुत महत्त्वपूर्ण है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख ४ तथा भाग ५, लेख १]

श्रीवीर निर्वाण सवत् की पॉचवी शताब्दी

[ईसवी सन् पूर्व १२७ से २७]

कालक

इनका जन्म क्षत्रिय कुल में हुआ था। भरुकच्छ (भडौच) के राजा बलमित्र के ये मामा थे। इनके साथ इनकी एक बहन सरस्वती भी साधुसघ में दीक्षित हुई थी। एक बार उज्जयिनी के राजा गदभिल्ल ने सरस्वती के सौन्दय से मोहित होकर उसका अपहरण किया। कालक ने राजा को इस अन्याय का परिमार्जन करने के लिए बहुत समझाया किन्तु उस उन्मत्त अत्याचारी पर कोई प्रभाव नही पडा। तब कालक ने सिन्धु नदी के तट पर स्थित शक राजाओ से सम्पक स्थापित किया, उन्हें अपनी विद्वत्ता से प्रभावित किया और उनके द्वारा गदभिल्ल का नाश करवाकर बहन को मुक्त किया।

दक्षिण में प्रतिष्ठान[१] के राजा सातवाहन से भी कालक की भेंट हुई थी। पयुषण के अन्तिम दिन का उत्सव भाद्रपद शुक्ल पचमी को होता है। उसी दिन प्रतिष्ठान में इन्द्रध्वज उत्सव भी होता था। राजा दोनो उत्सवो में उपस्थित रहना चाहता था अत उसके आग्रह से आचार्य ने पयुषण-समाप्ति उत्सव चतुर्थी के दिन मनाना स्वीकार किया। प्रतिष्ठान में उन्होने निमित्तशास्त्र का अध्ययन किया था। जैन पुराणकथाओ का प्रथमानुयोग नामक सकलन उन्होने किया और पाटलिपुत्र में जैन सघ को यह ग्रन्थ सुनाया। यहाँ से वे सुवर्णभूमि (दक्षिणी बर्मा या इन्डोनेशिया का सुमात्रा द्वीप) गये थे। उनका ज्योतिष शास्त्र पर भी कोई ग्रन्थ था ऐसा तर्क किया गया है।

[नॉमन ब्राउन द्वारा सम्पादित दि स्टोरी ऑफ कालक—इस ग्रन्थ में कालक सम्बन्धी कथाओ का सकलन मिलता है। विजयवल्लभसूरि स्मारक ग्रन्थ में डॉ उमाकान्त शाह ने इस सम्बन्ध के विभिन्न उल्लेखो का विवेचन किया है। पुरातन ग्रन्थो में तिथि सम्बन्धी भिन्न वर्णनो के कारण कुछ विद्वान् कालक नाम के दो, तीन या चार आचार्य भिन्न-भिन्न समय में हुए ऐसा मानते है।]

अन्य आचार्य

तिलोयपण्णत्ती आदि में दशपूर्वधारी आचार्यों के बाद नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन तथा कस इन पाँच आचार्यों के नाम बताये है। ये ग्यारह अगो के ज्ञाता थे—बारहवें अग के सभी पूर्वों का ज्ञान इनके समय में त्रुटित रूप में ही रह पाया।

१ वर्तमान पैठण यह महाराष्ट्र के औरगाबाद जिले में है।

[तिलोयपण्णत्ती आदि के वर्णन में इनका समय २२० वर्ष बताया है, अर्थात् इस (पाँचवी) और अगली (छठी) शताब्दी में मिलकर ये आचार्य हुए, नन्दि-पट्टावली मे इनका समय ११७ वर्ष कहा है। इसके अनुसार ये सब इसी शताब्दी में हुए थे।]

कल्पसूत्र में उल्लिखित इन्द्रदिन्न के शिष्य दिन्न तथा दिन्न के शिष्य शान्तिश्रेणिक और सिंहगिरि इस शताब्दी में हुए थे। शान्तिश्रेणिक के चार शिष्यो के नाम बताये हैं—श्रेणिक, तापस, कुबेर और ऋषिपालित। इनकी इन्ही नामो की शाखाएँ थी।

नन्दीसूत्र में उल्लिखित शाण्डिल्य, समुद्र तथा आर्य मगु ये इस शताब्दी में रखे जाते है। इनकी प्रशसा की गाथाओ से इनका कोई विशेष परिचय नही मिलता।

जैन इतिहास की दृष्टि से इस शताब्दी का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शिलालेख उडीसा में भुवनेश्वर के निकट खण्डगिरि पहाडी की हाथीगुफा में प्राप्त हुआ है जिसमें सम्राट् खारवेल का विस्तृत जीवनवृत्त अकित है। इस राजा और उसके परिवार के स्त्री-पुरुषो ने तथा अन्य राज्याधिकारियो ने इस स्थान पर जैन श्रमणों के लिए अनेक गुहाएँ खुदवायी यह भी यहाँ के अनेक लेखो से विदित होता है। इन सब लेखो में किसी विशिष्ट आचार्य का नाम उपलब्ध नही हुआ है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख २ तथा भाग ४, लेख ३ से १४]

श्रीवीर निर्वाण संवत् की छठी शताब्दी

(ईसवी सन् पूर्व २७ से ईसवी सन् ७३)

वज्र

कल्पसूत्र में सिंहगिरि के चार शिष्यों के नाम बताये हैं—धनगिरि, समित, वज्र और अर्हद्दत्त। इनमें से वज्र महान् प्रभावक के रूप में प्रसिद्ध हुए। हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व में इनकी कथा मिलती है जिसका पल्लवित रूपान्तर प्रभावक-चरित में प्राप्त होता है। बालवय में ही मुनि होकर वज्र ने आगमो का अध्ययन किया और भद्रगुप्त आचार्य से दस पूर्वों का ज्ञान भी प्राप्त किया। कहा गया है कि आचाराग के लुप्त अश के अनुसन्धान से इन्हें आकाशगामिनी विद्या प्राप्त हुई थी। एक बार पुरी के राजा ने बौद्ध गुरु के आग्रह से जैनो के उत्सव में विघ्न लाने के लिए नगर के सारे फूल अपने अधिकार में ले लिये। तब वज्र ने आकाशमार्ग से माहिष्मती नगर से बहुत-से फूल लाकर जैन सघ का उत्सव उत्साह से सम्पन्न कराया। देवो द्वारा उनके शुद्ध आचरण की परीक्षा की कथाएँ भी मिलती हैं। दुष्काल के समय वज्र दक्षिण प्रदेश में गये। वहाँ जिस पवत पर उनका देहावसान हुआ उसे इन्द्र ने रथ में बैठकर प्रदक्षिणा दी और इसलिए वह रथावतगिरि कहलाया। इसके वर्तमान स्थान की पहचान नही हो सकी है।

वज्र की कथा किंचित् परिवर्तन के साथ वइरकुमार कथा इस नाम से हरिषेण और प्रभाचन्द्र के कथाकोशो में भी मिलती है। समन्तभद्र के रत्नकरण्ड में प्रभावक पुरुषो के उदाहरण के रूप में वज्र का नाम उल्लिखित है।

वज्र के मामा समित भी प्रभावशाली आचाय थे। महाराष्ट्र के पूव भाग में स्थित अचलपुर नगर में इनके उपदेश से कई तापस जैन सघ में सम्मिलित हुए थे। कहा गया है कि ये तापस पैरो में विशिष्ट औषधियो का लेप कर नदी के प्रवाह पर चलकर दिखाते थे। लोग इसे तपस्या का माहात्म्य समझकर बडे प्रभावित होते थे। समित ने वास्तविकता को स्पष्ट किया तथा अपनी तपस्या की शक्ति से नदी के दोनो तटो को एकत्र कर दिखाया। इससे प्रभावित होकर वे सब तापस उनके शिष्य हो गये। उनका निवासस्थान ब्रह्मद्वीप कहलाता था अत समित का यह शिष्यवग ब्रह्मद्वीपिक शाखा के नाम से जाना गया।

वज्र के तीन शिष्यों के नाम कल्पसूत्र में बताये हैं—वज्रसेन, पद्म और रथ।

गुरु की आज्ञा के अनुसार दुष्काल समाप्ति के समय वज्रसेन ने सोप्पार नगर मे विहार किया (यह वतमान बम्बई के निकट प्रसिद्ध बन्दरगाह था)। वहा नागेन्द्र, चन्द्र, निवृत्ति और विद्याधर ये चार श्रेष्ठिपुत्र उनके शिष्य हुए। इनकी इन्ही नामो की शाखाएँ जैन सघ में दीघकाल तक चलती रही।

रक्षित

नन्दीसूत्र में आय मगु के बाद धम, भद्रगुप्त और रक्षित की प्रशसा मे गाथाएँ है। इनमें भद्रगुप्त का उल्लेख वज्र के विद्यागुरु के रूप में ऊपर हो चुका है। रक्षित की कथा प्रभावकचरित में विस्तार से दी है। ये दशपुर (वतमान मन्दसौर, मध्यप्रदेश) के राजपुरोहित के पुत्र थे। माता की प्रेरणा से वे जैन आगमो के अध्ययन की ओर प्रवृत्त हुए। आचार्य तोसलिपुत्र से दीक्षा लेकर अगो का अध्ययन करने के बाद उज्जयिनी मे वज्र से नौ पूर्वो का भी अध्ययन उन्होने किया। उनके पिता और बन्धु भी बाद में मुनि हुए थे। पिता को मुनिचर्या मे स्थिर करने के लिए रक्षित द्वारा अपनाये गये उपायो की कथा बडी रोचक है। उनके प्रधान शिष्य पुष्पमित्र थे। बुद्धिमान् होने पर भी आगमो का पठन करने में उन्हे कठिनाई होते देखकर रक्षित ने आगमो का चार अनुयोगो में वर्गीकरण किया और पठनपद्धति को सरल बनाया।

अन्य आचार्य

तिलोयपण्णत्ती आदि मे सुभद्र, यशोभद्र, भद्रबाहु (द्वितीय) और लोहार्य ये चार आचार्य आचाराग के ज्ञाता कहे गये है—शेष अगो और पूर्वो का ज्ञान इनके समय में त्रुटित रूप में रहा।

[नन्दिपट्टावली के अनुसार ये आचार्य इस शताब्दी में रखे गये है, तिलोयपण्णत्ती आदि में इनका समय वीर सवत् ५७३ से ६८३ तक है।]

श्रीवीर निर्वाण सवत् की सातवी शताब्दी

(ईसवी सन् ७३ से १७३)

धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि

सौराष्ट्र प्रदेश में गिरिनगर (वतमान जूनागढ) के समीप चन्द्रगुहा में आचार्य धरसेन का निवास था। वे निमित्तशास्त्र में पारगत थे। मन्त्रशास्त्र पर उन्होने जोणिपाहुड नामक ग्रन्थ लिखा था। यह अभी उपलब्ध नही हो सका है। आचार्य-परम्परा से प्राप्त आगमो का ज्ञान दिनोदिन क्षीण होता देखकर वे चिन्तित हुए। उन्होने दक्षिण प्रदेश के आचाय-सम्मेलन से दो योग्य शिष्यो को भेजने का आग्रह किया। तदनुसार वेणातट (वतमान स्थान अनिश्चित) नगर से पुष्पदन्त और भूतबलि ये दो मुनि गिरिनगर भेजे गये। आचाय ने उन दोनो को दो मन्त्रो का उपदेश दिया—एक में एक अक्षर कम रखा और दूसरे में एक अक्षर अधिक। दोनों ने अपने बुद्धिबल से मन्त्रो को ठीक कर लिया। तब उनकी योग्यता देखकर आचाय ने उन्हे महाकमप्रकृतिप्राभृत का उपदेश दिया। अध्ययन पूण होने पर गुरु की आज्ञा से दोनो ने अकलेसर (यह अब भी इसी नाम से प्रसिद्ध है) नगर में चातुर्मास किया। तदनन्तर पुष्पदन्त ने वनवासि (कर्णाटक) प्रदेश में तथा भूतबलि ने तमिल प्रदेश में विहार किया। गुरु से प्राप्त ज्ञान को पुस्तक-निबद्ध करने का विचार कर पुष्पदन्त ने सत्प्ररूपणा नामक प्रकरण की रचना की तथा जिनपालित नामक शिष्य के साथ वह प्रकरण भूतबलि के पास भेजा। उन्होने पुष्पदन्त का अभिप्राय समझकर शेष प्रकरणो की रचना कर ग्रन्थ पूण किया। इस ग्रन्थ में जीवस्थान, क्षुद्रबन्ध, बन्धस्वामित्व, वेदना, वर्गणा और महाबन्ध ये छह खण्ड है अत इसे षट्खण्डागम यह नाम दिया गया। प्रथम पाच खण्डो का विस्तार छह हज़ार श्लोको जितना और अन्तिम खण्ड का विस्तार तीस हज़ार श्लोको जितना है। आगमो को पुस्तक-निबद्ध करने का यह काय एक नयी परम्परा का प्रारम्भ था। इसके पूर्व गुरु-शिष्यो की मौखिक परम्परा से ही आगमो का अध्ययन होता था। जैन सघ ने इस उपक्रम का अभिनन्दन किया और इस प्रथम लिखित ग्रन्थ के पूर्ण होने की तिथि ज्येष्ठ शुक्ल पचमी को शास्त्रपूजा के पर्व श्रुतपचमी के रूप में समारोह का आयोजन प्रारम्भ किया। जीव और कर्मो के स्वरूप और सम्बन्ध का वणन विस्तार से प्रस्तुत करनेवाले इस ग्रन्थ पर कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, श्यामकुण्ड, तुम्बुलूर आदि आचार्यों ने टीकाएँ लिखी थी। अब इन टीकाओ में से केवल एक ही—आचार्य वीरसेन की

धवला टीका—उपलब्ध है।

[श्री लक्ष्मीचन्द्र शिताबराय जैन साहित्योद्धारक फण्ड, अमरावती द्वारा षट्खण्डागम के प्रथम पाँच खण्डो की धवला टीका डॉ हीरालाल जैन के सम्पादन में सोलह खण्डो में प्रकाशित हुई है। प्रथम खण्ड की विस्तृत प्रस्तावना में सम्पादक ने मूल ग्रन्थ और टीका से सम्बद्ध विषयो का विवेचन किया है। अन्तिम खण्ड महाबन्ध भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी द्वारा प सुमेरुचन्द्र तथा प फूलचन्द्र द्वारा सम्पादित होकर सात खण्डो में प्रकाशित हुआ है।]

गुणधर

षट्खण्डागम के समकक्ष मान्यता प्राप्त करनेवाला दूसरा सिद्धान्त ग्रन्थ कषाय-प्राभृत है। २२३ गाथाओ के इस सक्षिप्त किन्तु गम्भीर ग्रन्थ में मोहनीय कर्म के बन्ध की दृष्टि से जीवो और कर्मो का निरूपण है। इसके रचयिता गुणधर थे। आय मगु और नागहस्ति द्वारा इस ग्रन्थ का स्पष्टीकरण हुआ जिसे प्राप्त कर यतिवृषभ ने छह हज़ार श्लोको जितने विस्तार के चूर्णिसूत्र की रचना की। इसपर वीरसेन और जिनसेन ने जयधवला नामक विस्तृत व्याख्या लिखी जिसका प्रमाण साठ हजार श्लोको जितना है।

[चूर्णिसूत्र सहित कषायप्राभृत प हीरालाल शास्त्री के सम्पादन में प्रकाशित हुआ है, जयधवला सहित कषायप्राभृत प कैलाशचन्द्र शास्त्री आदि विद्वानो द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ है, इसके प्रथम खण्ड की प्रस्तावना में ग्रन्थ और ग्रन्थकर्ताओ के विषय मे विस्तृत विवेचन है।]

पादलिप्त

णिम्मलमणेण गुणगरुयएण परमत्थरयणसारेण।
पालित्तएण हालो हारेण व सहइ गोट्ठीसु॥

—कुवलयमाला-प्रारम्भ

उद्द्योतन की उपयुक्त गाथा के अनुसार राजा हाल की सभा में पादलिप्त रत्नहार के समान सुशोभित हुए थे। इनकी जीवनकथा प्रभावकचरित, प्रबन्धकोश, प्रबन्धचिन्तामणि आदि में विस्तार से वर्णित है।

अयोध्या के एक श्रेष्ठिकुल मे इनका जन्म हुआ था तथा नागहस्ती आचार्य के सघ में इन्हें शिक्षा-दीक्षा मिली। गुरुकृपा से इन्हे ऐसे लेप का ज्ञान मिला जिसे पैरो में लगाने से आकाशमार्ग से चलने की शक्ति प्राप्त होती थी—यही उनके नाम का स्पष्टीकरण दिया गया है।

पाटलिपुत्र के राजा मुरुण्ड की दीर्घकालीन शिरोवेदना पादलिप्त द्वारा घुटनो पर अँगुली घुमाने से शान्त हो गयी थी। इस प्रसग का वणन करनेवाली गाथा वेदना-शामक मन्त्र के रूप में प्रसिद्ध हो गयी। इस राजा की सभा में प्रदर्शित पादलिप्त के

बुद्धिचातुय की अनेक कथाएँ मिलती हैं।

प्रतिष्ठान के हाल राजा की सभा में पादलिप्त के सम्मान का उल्लेख ऊपर हुआ है। हाल द्वारा सम्पादित गाथासप्तशती की कुछ गाथाओ के कर्ता पादलिप्त (प्राकृत में पालित्त) कहे गये है। यही पर उन्होने तरगवती नामक विस्तृत प्राकृत कथा की रचना की। यह अब मूल रूप में प्राप्त नही है, लगभग एक हजार वष बाद नेमिचन्द्र ने इसका जो सक्षिप्त रूपान्तर किया वह प्रकाशित हो गया है। प्रेम और वैराग्य दोनो का सुन्दर वर्णन इसमें मिलता है। प्राकृत भाषा में ललित साहित्य रचना का यह सबसे प्राचीन विस्तृत उदाहरण है। ज्योतिष्करण्डक टीका, निर्वाणकलिका और प्रश्नप्रकाश ये पादलिप्त के अन्य ग्रन्थो के नाम कहे गये है।

विख्यात रसायनवेत्ता नागाजुन ने पादलिप्त की सेवा की तथा गुरु के सम्मान में शत्रुजय पवत की तलहटी में पालित्ताणय नगर की स्थापना की ऐसी भी कथा है। इस समय निर्मित महावीरमन्दिर में पादलिप्त द्वारा रचित चार गाथाओ की महावीर-स्तुति सुप्रसिद्ध है।

खपुट

आवश्यकनिर्युक्ति में विद्यासिद्ध के उदाहरण के रूप में खपुट का उल्लेख हुआ है। इनकी कथा प्रभावकचरित में पादलिप्त कथा के अन्तगत मिलती है। प्रबन्धकोश के एक प्रबन्ध में भी यह कथा है। इसी का यहाँ सार दिया जाता है।

भृगुकच्छ नगर में बलमित्र राजा के राज्य में बौद्ध तर्कज्ञ आचार्यों का बडा प्रभाव था। खपुट के शिष्य भुवन ने उन्हें बाद में पराजित किया। उनकी मदद के लिए गुडशस्त्रपुर से आये हुए वृद्धकर नामक वादी की भी पराजय हुई। अपमान से क्षुब्ध होकर उसने अनशन से देहत्याग किया। वह यक्ष हुआ। गुडशस्त्रपुर में वह यक्ष पूर्वजन्म के वैर से जैनो को कष्ट देने लगा। सघ की प्रार्थना से खपुट वहाँ गये और उस यक्ष की मूर्ति के कानो में पादत्राण बाँधकर सो गये। वहाँ के राजा ने इस अपमान से क्रुद्ध होकर जब उन्हे पीटने का आदेश दिया तब उनके शरीर पर की गयी चोटों का तो कोई असर नही हुआ बल्कि उनसे राजा के अन्त पुर की स्त्रियाँ ही आहत हुइ। तब राजा ने खपुट को महान् सिद्ध समझ कर उनसे क्षमा माँगी और उनका सम्मान किया। उनकी मन्त्रशक्ति से यक्ष का उपद्रव तो दूर हुआ ही, उसकी पाषाण मूर्ति उन्हें विदा करने नगर के द्वार तक आयी जिसे देखकर लोग विस्मयचकित हुए।

उस समय पाटलिपुत्र में दाहड नामक राजा ने जैन मुनियों को आदेश दिया था कि वे ब्राह्मणो को प्रणाम करें। इसे मुनिचर्या के विरुद्ध समझकर वहा के सघ ने इस सकट से रक्षा करने हेतु खपुट को सन्देश भेजा। उन्होने अपने शिष्य महेन्द्र को वहाँ भेजा। महेन्द्र ने लाल और सफेद कणेर की एक-एक शाखा लेकर राजा की सभा में प्रवेश किया। लाल शाखा को घुमाते हुए उन्होने कहा—पहले मैं इन्हे प्रणाम करूँ कि

मथुरा के शिल्पो से ज्ञात आचार्य

मथुरा के ककाली टीला नामक स्थान से उत्खनन मे अनेक जैन स्तूपो और मन्दिरो के भग्नावशेष प्राप्त हुए है। यहाँ की जिनमूर्तियाँ, स्तम्भ तथा सुन्दर नक्काशी से सुशोभित शिलापट्ट शिल्पकला की दृष्टि से बडे महत्त्वपूर्ण है। इनमे से कई पर छोटे-बडे शिलालेख भी है। जिनकी तिथि निश्चित है ऐसी जिनमूर्तियो मे मथुरा की ये मूर्तियाँ सबसे प्राचीन है। इन शिलालेखो से इस शताब्दी के जिन आचार्यों का परिचय मिलता है उनके नाम इस प्रकार है—ईसवी सन् ८२ मे वज्रनगरी शाखा के आचार्य पुष्यमित्र की शिष्याओ ने एक शिलापट्ट स्थापित किया था। सन ८५ के एक लेख में नागभूतिकीय कुल के गणी बुद्धश्री के शिष्य आय सन्धिक की भगिनी जया का नाम मिलता है। सन् ९३ मे स्थापित सवतोभद्र (चतुर्मुख) जिनमूर्ति के लेख मे आर्य जयभूति की शिष्या सगमिका की शिष्या वसुला का निर्मात्री के रूप मे उल्लेख है। सन् ९७ के लेख में वाचक बलदिन्न के शिष्य मातृदिन्न का प्रतिष्ठापक आचार्य के रूप मे नामोल्लेख है। सन् ९८ में स्थापित महावीरमूर्ति के लेख में कोटिक गण की वज्री शाखा के आचाय सर्चसिह का नाम है। यह मूर्ति मतिल की पत्नी दिन्ना ने स्थापित की थी। सन् १०३ के लेख में उच्चनगरी शाखा के आचार्य बलत्रात के शिष्य सन्धि का नाम मिलता है। सन् १०८ के लेख में आचाय नागदत्त का उल्लेख है। सन् ११० में स्थापित सवतोभद्र जिनमूर्ति की प्रतिष्ठा चारण गण के आर्य नन्दिक ने की थी। सन् ११८ में स्थापित एक स्तम्भ वज्रनगरी शाखा के महानन्दि की शिष्याओ ने बनवाया था। सन् १२२ के लेख में हारितमालाकारी शाखा के आचाय नागसेन का नाम मिलता है। सन् १२५ में प्रीतिधर्मिक कुल के वाचक ओघनन्दि के शिष्य सेन ने एक शिल्प स्थापित किया था। सन् १२८ में आचार्य दिनर की शिष्या जिनदासी की शिष्या विजयश्री का नामोल्लेख मिलता है। सन् १३० के लेख में वज्रीशाखा के आचाय हस्तहस्ति के शिष्य मगुहस्ति के शिष्य दिवित का नाम मिलता है। सन् १३२ मे हस्तहस्ति के शिष्य माघहस्ति के शिष्य आर्यदेव ने सरस्वती प्रतिमा स्थापित की थी। सन् १४० के लेख में वाचक ककुहस्थ के शिष्य आतपिक ग्रहबल का नाम मिलता है। सन् १५७ में स्थापित नन्द्यावत प्रतिमा के लेख में कोटिक गण की वज्री शाखा के आर्य वृद्धहस्ति का नाम मिलता है। इस लेख से यह भी ज्ञात होता है कि मथुरा का यह स्तूप उस समय देवनिर्मित माना जाता था। सन् १७१ में गणिनन्दि के उपदेश से महावीरमूर्ति की स्थापना हुई थी। यहाँ के कुछ लेखो में निश्चित तिथि नही है, लिपिविशेषज्ञो ने ऐसे जिन लेखो का समय इस शताब्दी में निर्धारित किया है उनमे भी

कई आचार्यों के नाम प्राप्त होते है। उच्चनगरी शाखा के आय ज्येष्ठहस्ति के शिष्य मिहिल का नाम दो मूर्तियो के लेखो मे प्राप्त हुआ है। इसी शाखा के आर्य कुमारनन्दि के शिष्य मित्र का नाम एक लेख में मिलता है। मथुरा के इन लेखो से कल्पसूत्र में उल्लिखित गणो, कुलो और शाखाओ की ऐतिहासिकता प्रमाणित करने में सहायता मिली है। इनमें प्राप्त श्रावको, श्राविकाओ तथा आर्यिकाओ के उल्लेख भी महत्त्वपूर्ण है जिनसे जैन सघ की व्यापकता और लोकप्रियता प्रमाणित होती है।

[जैन शिलालेख सग्रह भा २ में सकलित इन लेखो का विस्तृत विवेचन डॉ गुलाबचन्द्र चौधरी ने इसी ग्रन्थ के भाग ३ की प्रस्तावना में किया है, यहाँ के शिल्पो का वणन डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल ने मथुरा सग्रहालय के शिल्पो की सूची में प्रस्तुत किया है।]

अन्य आचार्य

जिनसेन के हरिवशपुराण में अगज्ञानी आचार्यों के बाद ग्रन्थकर्ता के समय तक २५ आचार्यों के नाम बताये है। इनमें से प्रथम चार विनयन्धर, गुप्तऋषि, शिवगुप्त और अह्द्बलि ये आचाय इस शताब्दी के धरसेन आदि के समकालीन माने जा सकते है।

इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार में अगज्ञानी आचार्यों के बाद विनयदत्त, श्रीदत्त, शिवदत्त, अहद्दत्त, अहदबलि और माघनन्दि इन आचार्यों के नाम प्राप्त होते है जिनकी उपयुक्त नामो से काफी समानता है।

इन दोनो सूचियो में अहद्बलि का नाम समान है। श्रवणबेलगोल के शिलालेखो में इनका वणन आता है। दक्षिण के जैन मुनिसघ के नन्दि, सेन, सिह और देव इन चार भेदो की व्यवस्था इन्ही द्वारा स्थापित मानी जाती है। ये पुष्पदन्त और भूतबलि के गुरु थे ऐसा भी वर्णन मिलता है।

नन्दिसघपट्टावली में भी धरसेन के पूव अर्हद्बलि और माघनन्दि का नाम दिया गया है।

कल्पसूत्र में वज्रस्वामी के शिष्य रथ के बाद बताये गये पुष्यगिरि, फल्गुमित्र, धनगिरि, शिवभूति, भद्र और नक्षत्र ये आचार्य इस शताब्दी के माने जा सकते हैं।

नन्दीसूत्र में आर्य रक्षित के बाद बताये गये नन्दिल और नागहस्ती ये इस शताब्दी के आचाय माने जाते है। नन्दिल की कथा प्रभावकचरित में विस्तार से बतायी है। इनके द्वारा रचित वैरोट्यादेवी की स्तुति के पठन से सर्पभय दूर होता है ऐसा कहा गया है। प्रबन्धकोष में भी यह कथा मिलती है। नागहस्ती का उल्लेख पादलिप्त के गुरु के रूप मे ऊपर हो चुका है।

श्रीवीर निर्वाण संवत् की आठवीं शताब्दी
(ईसवी सन् १७३ से २७३)

कुन्दकुन्द

श्रीपद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्यशब्दोत्तरकोण्डकुन्दः ।
द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चारित्रसंजातसुचारणर्द्धि[१] ।।

दक्षिण भारत के जैन संघ में असाधारण रूप से सम्मानित आचार्य कुन्दकुन्द का मूल नाम पद्मनन्दि था। कोण्डकुन्द यह उनके मूल स्थान का नाम था जो दक्षिण की परम्परानुसार उनके नाम के रूप में प्रचलित हुआ तथा संस्कृत में यही नाम कुन्दकुन्द इस रूप में प्रसिद्ध हुआ। यह कोण्डकुन्द अब कोनकोण्डल कहलाता है तथा आन्ध्र प्रदेश के अनन्तपुर जिले में स्थित है। यहाँ कई जैन शिलालेख प्राप्त हुए हैं। डा. देसाई ने जैनिज्म इन साउथ इण्डिया में इस स्थान का विस्तृत परिचय दिया है।

इन्द्रनन्दि कृत श्रुतावतार के अनुसार कुन्दकुन्द ने षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर परिकर्म नामक व्याख्या-ग्रन्थ लिखा था। यह अभी उपलब्ध नहीं हो सका है। उनके उपलब्ध ग्रन्थों में दशभक्ति तथा अष्टप्राभृत ये प्रारम्भिक रचनाएँ मालूम पडती हैं। दशभक्ति में चौबीस तीर्थंकर, सिद्ध, श्रुत, चारित्र, पंचपरमेष्ठी, योगी तथा आचार्य इनकी स्तुतियों में लगभग ८० गाथाएँ हैं—चैत्य, शान्ति तथा नन्दीश्वर भक्ति उपलब्ध नहीं हैं। अष्टप्राभृत में दर्शन, सूत्र, चारित्र, बोध, भाव, मोक्ष, लिंग और शील इन आठ शीर्षकों के प्राभृत नामक प्रकरण हैं, इनमें से पहले छह षटप्राभृत इस नाम से भी प्रकाशित हुए हैं। भाव और मोक्ष ये दो प्रकरण अन्य छह की तुलना में विस्तृत और प्रभावपूर्ण शैलीमें हैं। इन आठ प्राभृतों में ५०२ गाथाएँ हैं। द्वादशानुप्रेक्षा में जगत की अनित्यता आदि बारह चिन्तन-विषयों का ९० गाथाओं में वर्णन है। इस विषय पर आगे चलकर कई आचार्यों ने रचनाएँ लिखी हैं। नियमसार में आध्यात्मिक दृष्टि से साधुजीवन के विविध अंगों—ध्यान, प्रत्याख्यान, तपस्या आदि का १८६ गाथाओं में वर्णन मिलता है। पंचास्तिकाय में दो भागों में १७३ गाथाएँ हैं, प्रथम भाग में छह द्रव्यों का और दूसरे भाग में नौ पदार्थों का विवरण मिलता है। प्रवचनसार में ज्ञान, ज्ञेय तथा चारित्र इन तीन प्रकरणों में २७५ गाथाएँ हैं। सर्वज्ञ के दिव्य ज्ञान और

---

१ जैन शिलालेख संग्रह, भाग १ पृ ३४—यह श्लोक सन् ११७७ के शिलालेख में है। ऐसे ही अर्थ के श्लोक अन्य छह लेखों में है।

उनके द्वारा उपदिष्ट द्रव्य-स्वरूप का प्रभावी समर्थन इसमे प्राप्त होता है। कुन्दकुन्द की सबसे महत्त्वपूर्ण रचना समयप्राभृत या समयसार में ४३७ गाथाएँ है। निश्चयनय और व्यवहारनय की विभिन्न दृष्टियो से आत्मतत्त्व का मूलग्राही विवेचन इसमे मिलता है। जैन परम्परा में अध्यात्म ग्रन्थो की रचना का यह आदर्श रहा है।

आगमो के पठन-पाठन की पुरानी परम्परा में कुन्दकुन्द के ग्रन्थ युगान्तरकारी प्रतीत होते हैं। तत्त्वविवेचन की मौलिक गम्भीरता को बनाये रखते हुए सुसगत, सक्षिप्त और सुबोध शैली में लिखे गये उनके प्राभृत वास्तव में जैन श्रुत के लिए बहुमूल्य प्राभृत (भेंट) सिद्ध हुए।

शीर्षकनिर्दिष्ट श्लोक के अनुसार कुन्दकुन्द को चारण ऋद्धि प्राप्त हुई थी। देवसेन कृत दशनसार की एक गाथा में कहा गया है कि उन्होने सीमन्धर स्वामी से दिव्य ज्ञान प्राप्त किया था।

[रायचन्द्र शास्त्रमाला में प्रकाशित प्रवचनसार के सस्करण मे डॉ उपाध्ये ने कुन्दकुन्द का विस्तृत परिचय दिया है।]

विमल

ये नाइल कुल के आचाय राहु के शिष्य विजय के शिष्य थे। पूर्व ग्रन्थो मे वर्णित नारायणो और बलदेवो के चरितो का अध्ययन करने के बाद उन्होने पउमचरिय (पद्मचरित) नामक विस्तृत ग्रन्थ की रचना की। वाल्मीकिरचित रामायण मे रावण आदि राक्षसो का नरभक्षक होना, कुम्भकर्ण का छह महीने सोना, इन्द्र आदि देवो का जीता जाना इत्यादि अद्भुत बातो का वणन है जिससे रामकथा कविकल्पना मात्र प्रतीत होती है। इससे व्याप्त लोकभ्रम को दूर करना तथा रामकथा का जैन परम्परा में मान्य बुद्धिसगत स्वरूप प्रकट करना यह विमल की रचना का उद्देश्य है। किन्तु यह केवल रामायण का रूपान्तर मात्र नही है। प्रथम जैन पुराण ग्रन्थ होने के कारण इसका अपना महत्त्व है। ऋषभदेव, अजित, मुनिसुव्रत एव महावीर इन तीथकरो, भरत, सगर, सनत्कुमार, हरिषेण इन चक्रवर्तियो तथा सजयन्त, कुलभूषण-देशभूषण, अनन्तवीय, सुकोशल आदि मुनियो के प्रभावोत्पादक कथानक इसमें उपलब्ध होते है। साथ ही ६३ शलाकापुरुषो से सम्बद्ध जो नामावलियाँ इसके पव २० में दी है उनसे मालूम होता है कि जैन पुराण कथाओ का तबतक काफी विस्तार हो चुका था। ११८ पर्वों तथा ८६५१ गाथाओ का यह ग्रन्थ प्राकृत भाषा के साहित्यिक सौन्दय की दृष्टि से भी पठनीय हैं। कहा जाता है कि विमल ने कृष्णकथा का जैन-परम्परागत स्वरूप भी हरिवश नामक ग्रन्थ में निबद्ध किया था। यह उपलब्ध नही हुआ है

[प्राकृत ग्रन्थ परिषद् द्वारा प्रकाशित पउमचरिय के सस्करण में डॉ कुलकर्णी का विमल के विषय में विस्तृत निबन्ध है।]

अन्य आचार्य

कल्पसूत्र मे उल्लिखित आचार्यों में इस शताब्दी के अन्तर्गत रक्ष, नाग, जेहिल, विष्णु, कालक और भद्र इनके नाम रखे जा सकते हैं।

नन्दीसूत्र में उल्लिखित रेवतीनक्षत्र तथा अचलपुर के सिंह ये इस शताब्दी के आचाय है।

हरिवशपुराण की गुरुपरम्परा में उल्लिखित मन्दर, मित्रवीर, बलदेव तथा बलमित्र इस शताब्दी के आचाय माने जा सकते हैं।

श्रीवीर निर्वाण सवत् की नौवीं शताब्दी

[ईसवी सन् २७३ से ३७३]

गृध्रपिच्छ उमास्वाति

भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद लगभग आठ शताब्दियो तक जैन साहित्य की भाषा प्राकृत रही। इस दीघकाल के अधिकाश राजाओ के लेखो में भी इसी भाषा का प्रयोग मिलता है। किन्तु धीरे-धीरे इस स्थिति में परिवतन हुआ। प्राचीन सस्कृत भाषा का एक नया रूप विकसित हुआ जिसे राजसभाओ, कवियो और पण्डितो की गोष्ठियो में स्थान मिला और उच्च वर्ग की प्रतिष्ठित भाषा का स्तर प्राप्त हुआ। बौद्ध और जैन पण्डितो ने भी इस साहित्यिक सस्कृत को अपनाया और अपने विशाल धार्मिक साहित्य से उसे समृद्ध बनाया। इस भव्य परम्परा का आरम्भ जैन सघ में उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र से हुआ। ३५७ सूत्रो के इस छोटे-से ग्रन्थ में विशाल आगम साहित्य का सार बडी कुशलता से ग्रथित किया गया है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वो का स्वरूप सक्षिप्त और सुनिश्चित पद्धति से स्पष्ट करनेवाला यह ग्रन्थ समग्र जैन सघ में अत्यन्त सम्मानित हुआ। इसके पठन मात्र को उपवास के समान पुण्यकाय माना गया। इसके कर्ता श्रुतकेवली के समकक्ष माने गये। अकलक, विद्यानन्द आदि समथ विद्वानो ने इसपर विस्तीण व्याख्याग्रन्थ लिखे।

तत्त्वाथसूत्र के प्रथम भाष्य के अन्त में उसके कर्ता के विषय मे निम्नलिखित बाते कही गयी है—वाचकमुख्य शिवश्री के शिष्य ग्यारह अगो के ज्ञाता घोषनन्दिक्षमण उमास्वाति के गुरु थे। अध्ययन की दृष्टि से महावाचक क्षमण मुण्डपाद के शिष्य वाचकाचाय मूल उनके गुरु थे। न्यग्रोधिका में उनका जन्म हुआ था। कौभीषणि गोत्र के स्वाति और वात्सी के वे पुत्र थे तथा उच्चैर्नागर शाखा में वाचक पद उन्हे प्राप्त हुआ था। उन्होने कुसुमपुर में विहार करते हुए इस ग्रन्थ को स्पष्ट किया। कुसुमपुर प्राचीन मगध साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र (आधुनिक पटना) का नामान्तर था। दक्षिण में मद्रास के समीप के कुड्डुलोर नगर का पुराना नाम तिरुप्पादिरिप्पुलियूर भी इसी अर्थ का था। इन्ही दो में से किसी एक नगर में यह ग्रन्थ लिखा गया होगा।

वीरसेन और विद्यानन्द ने तत्त्वाथकर्ता का नाम गृध्रपिच्छ बताया है। श्रवणबेलगोल के अनेक शिलालेखो के अनुसार गृध्रपिच्छ यह उमास्वाति का ही दूसरा नाम था। इन लेखो में उनके शिष्य बलाकपिच्छ की भी प्रशसा मिलती है। यहा के

लेख क्र १०८ मे कहा गया है कि बलाकपिच्छ को तपस्या से महर्धि प्राप्त हुई थी जिससे उनके शरीर से स्पर्श हुई वायु भी विष के प्रभाव को दूर कर देती थी। यह लेख सन् १४३३ का है।

सस्कृत में उमास्वाति का एक और ग्रन्थ प्रशमरति भी सुप्रसिद्ध है। मुनि के आदश आचार-विचारो का सुन्दर प्रतिपादन इसमें प्राप्त होता है।

[तत्त्वार्थसूत्र के विभिन्न सस्करणो में ग्रन्थकर्ता के परिचय की दृष्टि से प सुखलाल व प फूलचन्द्र की भूमिकाएँ महत्त्वपूण है। प प्रेमी ने जैन साहित्य और इतिहास में एक विस्तृत निबन्ध मे इस विषय की चर्चा की है।]

सिंहनन्दि

दक्षिणदेशनिवासी गगमहीमण्डलिककुलसधरण ।
श्रीमूलसघनाथो नाम्ना श्रीसिंहनन्दिमुनि ॥[१]

मैसूर प्रदेश के शिमोगा जिले में स्थित निदिगि ग्राम से प्राप्त शिलालेख में यह श्लोक है। इसी आशय का वणन अन्य अनेक लेखो मे है। इससे ज्ञात होता है कि इस प्रदेश के पहले ऐतिहासिक राजवश—गगवश के सस्थापक माधववर्मा सिंहनन्दि के शिष्य थे। श्रवणबेलगोल के मल्लिषेण प्रशस्ति शिलालेख मे कहा गया है कि सिंहनन्दि ने मानो अपना ध्यानरूपी खडग ही शिष्य को दे दिया जिससे वह राज्यलक्ष्मी की प्राप्ति मे विघ्नस्वरूप शिलास्तम्भ को तोड सका। यह एक रूपकात्मक वर्णन है जिसका तात्पय यही हो सकता है कि राज्यस्थापना के गुरुतर कार्य मे गुरु के आशीर्वाद और विचार-विमर्श से माधववर्मा को सफलता प्राप्त हुई। माधववर्मा के वशजो ने भी समय-समय पर अनेक जैन आचार्यो का सम्मान किया जिनका आगे यथास्थान उल्लेख होगा। राज्यारम्भ के पूव माधववर्मा ने जहाँ गुरु से भेंट की थी वह स्थान आन्ध्र प्रदेश के कडप्पा जिले में गगपेरूर नाम से जाना जाता है।

[डॉ देसाई ने जैनिज्म इन साउथ इण्डिया मे इस स्थान का परिचय दिया है।]

स्कन्दिल और नागार्जुन

दीघकालीन दुष्काल के कारण आगमों के अध्ययन में बाधा उपस्थित हुई ऐसा देखकर आचाय स्कन्दिल ने वीर सवत् ८३० में मथुरा मे ज्ञानवृद्ध साधुओ का एक सम्मेलन आयोजित किया तथा आगमो के पाठ को व्यवस्थित रूप से सकलित किया। लगभग इसी समय सौराष्ट्र की राजधानी वलभी नगर में (जो इस समय भावनगर के समीप वला नामक छोटा-सा गाव है) नागार्जुन आचाय ने भी ऐसा ही प्रयास किया। स्कन्दिल द्वारा निश्चित आगमो के पाठ को माथुरी वाचना कहते थे तथा नागार्जुन के पाठ को नागार्जुनी या प्रथम वालभी वाचना कहते थे। इन दोनो पाठो के छोटे-मोटे

१ जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, पृष्ठ ३६३।

अन्तर आगमो की टीकाओ में बताये गये है। नन्दीसूत्र में इन दोनो आचार्यो की भावपूर्ण शब्दो में प्रशसा की गयी है।

अन्य आचार्य

नन्दीसूत्र में स्कन्दिल और नागार्जुन के साथ हिमवन्त आचार्य की भी प्रशसा मिलती है।

कल्पसूत्र में उल्लिखित वृद्ध, सघपालित, हस्ति, धर्म, सिंह और शाण्डिल्य इस शताब्दी के आचाय माने जा सकते है।

हरिवशपुराण की गुरु-परम्परा के सिंहबल, वीरवित्, पद्मसेन तथा व्याघ्रहस्ति इस शताब्दी में रखे जा सकते है।

राजगृह के वैभारपर्वत के समीप सोनभण्डार गुहा के द्वार पर एक शिलालेख प्राप्त हुआ है जो अक्षरो की बनावट के आधार पर इस शताब्दी का माना गया है। इसमे गुहा के निर्माण का श्रेय आचार्यरत्न वैरदेव को दिया गया है।

[जैनशिलालेख सग्रह, भा ३, प्रस्तावना, पृष्ठ १४१]

श्रीवीर निर्वाण सवत् की दसवीं शताब्दी

[ईसवी सन् ३७३ से ४७३]

समन्तभद्र

वन्द्यो भस्मकभस्मसात्कृतिपटु पद्मावतीदेवता-
दत्तोदात्तपद स्वमन्त्रवचनव्याहूतचन्द्रप्रभ ।
आचाय स समन्तभद्रगणभृद् येनेह काले कलौ
जैन वर्त्म समन्तभद्रमभवद् भद्र समन्तान्मुहु ॥[1]

तत्त्वार्थसूत्र से जैन साहित्य मे सस्कृत का उपयोग प्रतिष्ठित हुआ। इस परम्परा में दूसरा महत्त्वपूण स्थान समन्तभद्र के ग्रन्थो का है। इसके साथ ही तत्त्वविवेचन में तकशास्त्र के विस्तृत उपयोग का प्रारम्भ उन्ही से हुआ था।

आप्तमीमासा या देवागमस्तोत्र यह समन्तभद्र की कृति युगप्रवतक सिद्ध हुई। भगवान् महावीर की श्रेष्ठता उनके निर्दोष उपदेशो के कारण है इस भूमिका से तर्क-दृष्टि का उपयोग करते हुए जैन सिद्धान्तो का प्रतिपादन इस रचना मे किया गया है। स्याद्वाद का विस्तृत विवरण और समथन सवप्रथम इसी ग्रन्थ में प्राप्त होता है।

युक्त्यनुशासन यह समन्तभद्र की कृति भी तर्कसमन्वित वीरस्तुति के स्वरूप मे है। एकान्तवादो के विविध रूपो के दोष स्पष्ट करते हुए इसमें वीरप्रभु के अनेकान्तात्मक सर्वोदय तीथ के गुण स्पष्ट किये है।

स्वयम्भूस्तोत्र में सुन्दर अलकृत भाषा में चौबीस तीर्थंकरो का गुणगान है। पुराणकथाओ के सक्षिप्त उल्लेखो के साथ इसमें भी तर्कदृष्टि से तीथकरो के उपदेशो का स्पष्टीकरण प्राप्त होता है। भक्ति का निर्दोष स्वरूप और आत्मोन्नति के लिए प्रेरक शक्ति के रूप मे भक्ति का महत्त्व इस स्तोत्र में सुन्दर रीति से स्पष्ट हुआ है।

जिनस्तुतिशतक में भी चौबीस तीथकरो की स्तुति है। इसकी रचना चित्रकाव्य के रूप में हुई। चक्र, कमल, मृदग आदि आकृतियो मे इसके श्लोक लिखे जाते है। समग्र सस्कृत साहित्य में चित्रकाव्य के विस्तृत प्रयोग का यह पहला उदाहरण है।

समन्तभद्र की पाँचवी कृति रत्नकरण्ड में मुक्ति के माग के रूप में सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का सुबोध विवरण मिलता है। चारित्र के विवरण मे गृहस्थो के

१, जैन शिलालेख संग्रह, भाग १ पृ १०२ यह शिलालेख सन् ११२८ का है तथा श्रवणबेलगोल के चन्द्र गिरि पर्वत पर स्थित पार्श्वनाथमन्दिर में है। यह लेख मल्लिषेण प्रशस्ति के नाम से प्रसिद्ध है।

धर्माचरण का आदश विस्तार से स्पष्ट किया है। इसी से इसे श्रावकाचार इस नाम से भी प्रसिद्धि मिली है।

इस प्रकार समन्तभद्र के उपलब्ध ग्रन्थों की कुल श्लोक सख्या पाँच सौ से कुछ ही अधिक है किन्तु अपनी मौलिकता के कारण वे सभी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए है। अकलक, विद्यानन्द, वसुनन्दि, प्रभाचन्द्र आदि समर्थ विद्वानो ने उनपर व्याख्याएँ लिखी है। जैन साहित्यिको ने मुक्तकण्ठ से उनकी प्रशसा की है।

आप्तमीमासा की एक प्रति में समन्तभद्र को उरगपुर (वतमान उरैयूर जो तमिलनाडु में है) के राजकुमार कहा है। जिनस्तुतिशतक के एक श्लोक से उनका मूल नाम शान्तिवर्मा ज्ञात होता है। शीर्षकनिर्दिष्ट श्लोक के अनुसार उन्होने भस्मक व्याधि पर विजय प्राप्त किया तथा पद्मावती देवी से उदात्त पद प्राप्त कर अपने मन्त्रयुक्त वचनो से चन्द्रप्रभ की मूर्ति प्रकट की। इसका विवरण प्रभाचन्द्र के कथाकोश में मिलता है जिसमें कहा गया है कि भस्मक व्याधि के शमन के लिए वेशपरिवर्तन कर समन्तभद्र ने कई स्थानो में भ्रमण किया था। वाराणसी के शिवमन्दिर में विपुल नैवेद्य से उनका रोग शान्त हुआ। वहाँ के राजा ने जब उन्हे शिव को प्रणाम करने की आज्ञा दी तब उन्होने स्वयम्भूस्तोत्र की रचना की। उसी में चन्द्रप्रभस्तुति के पठन के समय शिवलिंग से चन्द्रप्रभ की मूर्ति प्रकट हुई थी। बाद में जैन दर्शन की श्रेष्ठता प्रस्थापित करते हुए समन्तभद्र ने पाटलिपुत्र (पटना), मालव, सिन्धु, ठक्क (पजाब), काची, विदिशा तथा करहाटक (कर्हाड, महाराष्ट्र) के वादो में विजय प्राप्त किया ऐसा वर्णन भी शीर्षकनिर्दिष्ट श्लोक के बाद श्रवणबेलगोल के उपयुक्त शिलालेख में दिया गया है।

इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार के अनुसार समन्तभद्र ने षट्खण्डागम के पहले पाच खण्डो पर विस्तृत सस्कृत व्याख्या लिखी थी। जिनसेन के हरिवशपुराण मे उनके जीवसिद्धि नामक ग्रन्थ की प्रशसा मिलती है। चामुण्डराय आदि अनेक लेखको ने तत्त्वार्थ पर उनके भाष्य का उल्लेख किया है। ये तीनो रचनाएँ अभी प्राप्त नही हो सकी हैं। उग्रादित्य ने कल्याणकारक में उनके वैद्यकशास्त्र का उल्लेख किया है। यह भी प्राप्त नही है।

[समन्तभद्र के विभिन्न ग्रन्थो के लिए प मुख्तार द्वारा लिखी गयी प्रस्तावनाएँ ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।]

सिद्धसेन

समन्तभद्र द्वारा प्रवर्तित तकपूण स्तुतियो की परम्परा में दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान सिद्धसेन की द्वात्रिंशिकाओं का है। इनकी सख्या इक्कीस है। इनकी भाषा भी साहित्यिक सुन्दरता और तक के प्रभावी प्रयोग से युक्त है। इनमें से पहली पाँच द्वात्रिंशिकाओं में वीरस्तुति है और इनकी स्वयम्भूस्तोत्र से विशेष समानता है। छठी द्वात्रिंशिका में परम्परावादी स्वपक्ष के आग्रही पण्डितो की आलोचना करते हुए नूतन तकपद्धति का

समर्थन है। सातवीं और आठवी द्वात्रिंशिका में वादसभा के स्वरूप और विजय की पद्धति के विषय में मार्मिक विवेचन है। नौवी द्वात्रिंशिका सम्भवत सिद्धसेन के पूर्वाश्रम की कृति है क्योकि इसमें उपनिषदो की भाषा-शैली में परमात्मा का स्वरूप वर्णित है। दसवी द्वात्रिंशिका में मुक्तिमार्ग में साधु की प्रगति का सक्षिप्त वणन किया है। ग्यारहवी द्वात्रिंशिका में भावपूर्ण अलकृत भाषा में किसी राजा की प्रशसा है। विद्वानो का अनुमान है कि इसमें वर्णित राजा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य है। बारहवी द्वात्रिंशिका में वाद मे जय-पराजय के कारणों का वर्णन है। तेरहवी द्वात्रिंशिका में साख्य, चौदहवी मे वैशेषिक, पन्द्रहवी में बौद्ध व सोलहवी में नियतिवादी दशन के तत्त्ववर्णन की समीक्षा प्राप्त होती है। सत्रहवी व अठारहवी द्वात्रिंशिका में ज्ञान और चारित्र की साधना का सक्षिप्त वर्णन है। उन्नीसवी द्वात्रिंशिका में जैन तत्त्वव्यवस्था में कुछ मौलिक सशोधन सुझाये है इसलिए इसके कर्ता यही सिद्धसेन थे इसमें सन्देह होता है। बीसवी द्वात्रिंशिका में जीव के स्वरूप और मुक्तिमाग के विषय में दाशनिक विचारो की समीक्षा है। इक्कीसवी द्वात्रिंशिका में जिनस्तुति है। शैली बिलकुल भिन्न होने के कारण इसके कर्ता के विषय में भी सन्देह है।

समन्तभद्र की कथा से मिलती-जुलती कथा सिद्धसेन के विषय में भी प्राप्त होती है। प्रभावकचरित, प्रबन्धचिन्तामणि और प्रबन्धकोश में इस कथा के तीन रूप मिलते है। इनके अनुसार सिद्धसेन का जन्म दक्षिण के ब्राह्मण कुल में हुआ था। वृद्धवादी से वाद में पराजित होने पर ये उनके शिष्य हो गये। एक बार इन्होने आगमो का सस्कृत अनुवाद करने की इच्छा प्रकट की। इसके फलस्वरूप इन्हें बारह वर्ष के लिए सघ से निष्कासित किया गया। तब वेश-परिवतन कर परिभ्रमण करते हुए वे उज्जयिनी पहुँचे। वहाँ के महाकाल मन्दिर में राजा विक्रमादित्य ने उन्हें शिव को प्रणाम करने की आज्ञा दी। तब उन्होने जो द्वात्रिंशिका पढी उसके फलस्वरूप शिवलिंग से जिनमूर्ति प्रकट हुई। सिद्धसेन के इस प्रभाव से राजा चमत्कृत हुए और दोनो का सम्बन्ध घनिष्ठ हुआ। एक बार राजा ने उन्हे एक कोटि सुवण मुद्राएँ अर्पित की। आचाय ने उन्हे मालव प्रदेश के लोगों को ऋणमुक्त करने में व्यय करने का आदेश दिया। आयु के अन्तिम समय में सिद्धसेन प्रतिष्ठान गये थे।

सन्मतिसूत्र और न्यायावतार ये दो ग्रन्थ भी सिद्धसेन के नाम से प्रसिद्ध है किन्तु इनके कर्ता द्वात्रिंशिकाओ के रचयिता ही है इस विषय में सन्देह है। फिर भी ये दोनो ग्रन्थ अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। सन्मति में १६७ प्राकृत गाथाओ में नयवाद का सुन्दर प्रतिपादन हैं। साख्य और बौद्ध-जैसे परस्पर विरोधी विचारो में कितना सत्याश है यह देखकर उनका समन्वय करने का सफल प्रयास सन्मति में किया गया है। जीव के गुणो और पर्यायो का इसका विवेचन भी महत्त्वपूर्ण है। न्यायावतार में ३२ संस्कृत श्लोको में प्रमाणो का सक्षिप्त विवेचन है। जैन साहित्य में प्रमाण-विवेचन सर्व-प्रथम इसी ग्रन्थ में मिलता है। प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीन भेदो में इस

ग्रन्थ में प्रमाणों का विभाजन किया गया है। द्वात्रिंशिकाओ के बाद कुछ दशकों के अन्तर से इन दोनो ग्रन्थो की रचना हुई थी।

[सिद्धसेन-न्यायावतार एण्ड अदर वर्क्स की भूमिका में डॉ उपाध्ये ने इस विषय के सशोधन का नवीनतम विवेचन प्रस्तुत किया है।]

जीवदेव

प्रभावकचरित और प्रबन्धकोश मे विक्रमादित्य से सम्बन्धित सिद्धसेन की कथाएँ मिलती है जिनका ऊपर उल्लेख किया है। इन दोनो ग्रन्थो में विक्रमादित्य के समकालीन के रूप में वर्णित जीवदेव की कथा का सार यहाँ दिया जा रहा है।

जीवदेव का जन्म गुजरात के वायट नगर में हुआ था। महापुरुष-लक्षणो के रूप में सामुद्रिक शास्त्र में वर्णित बत्तीस लक्षणो से वे युक्त थे। एक योगी ने उन्हें देखकर अपनी मन्त्रसाधना के लिए उनके सिर का अस्थिकपाल प्राप्त करना चाहा। वह जब प्रवचनस्थल पर पहुँचा तब आचार्य के एक शिष्य का व्याख्यान चल रहा था। योगी ने मन्त्रशक्ति से उसकी जिह्वा स्तम्भित कर दी। जीवदेव भी सिद्ध मन्त्रज्ञ थे। उन्होने शिष्य की जिह्वा को तो मुक्त किया ही, उस योगी को अपने स्थान पर स्तम्भित कर दिया। बाद में जब उसने क्षमायाचना की तब उसे छोड दिया। साथ ही अपने शिष्यवर्ग को उससे दूर रहने का आदेश दिया। एक बार दो साध्वियाँ असावधानी से उस योगी के आश्रम के पास गयी तो उसने मन्त्रशक्ति से उन्हें आकृष्ट कर अपने पास रखा। आचार्य को यह ज्ञात होते ही उन्होंने दर्भ से योगी की प्रतिकृति बनाकर उसका हाथ तोडा, फलस्वरूप आश्रम में बैठे योगी का हाथ टूट गया। दुबारा लज्जित होकर उसने आचाय से क्षमा माँगी और साध्वियो को मुक्त कर दिया। एक बार वायट के ब्राह्मणो ने एक मरती हुई गाय जिनमन्दिर के द्वार पर छोड दी। दूसरे दिन मन्दिर द्वार में मरी गाय देखकर सब चिन्तित हुए। आचार्य ने मन्त्रशक्ति से उस गाय के शरीर को ब्राह्मणो के मन्दिर में पहुँचा दिया। उन्होने क्षमा माँगी तब पुन उस गाय को बाहर रास्ते पर छोड दिया।

विक्रमादित्य के मन्त्री निम्ब ने वायट के महावीर-मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया तथा जीवदेव के हाथो से उसकी प्रतिष्ठा करायी ऐसा भी इन कथाओं में वर्णित है। वायट के एक श्रेष्ठी लल्ल द्वारा पिप्पलानक ग्राम में मन्दिर-निर्माण का तथा आचार्य द्वारा उसकी प्रतिष्ठा का भी विस्तृत वणन इन कथाओ में है।

वट्टकेर

कुन्दकुन्द के समान वट्टकेर का नाम भी दक्षिण के किसी स्थान पर आधारित है। किन्तु इस स्थान के वतमान स्थान का निश्चय अभी नही हो पाया है। इनका मूलाचार मुनियो के आदश आचार-विचारो का वणन करनेवाला महत्त्वपूर्ण प्राकृत ग्रन्थ

है। बारह अगो में से प्रथम आचार अग का सार इसमे १२ अध्यायो में दिया गया है। व्रत, समिति, आवश्यक, अनुप्रेक्षा, समाधिमरण आदि का विस्तृत विवरण इसमे उपलब्ध होता है। वसुनन्दि की विस्तृत सस्कृत टीका के साथ यह ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है।

सर्वनन्दि

प्राचीन भारत की विश्वस्वरूप सम्बन्धी मान्यताओ का वणन करनेवाला लोक-विभाग नामक प्राकृत ग्रन्थ सवनन्दि आचाय ने लिखा था। इसकी रचना काची के पल्लववशीय राजा सिंहवर्मा के राज्य में सन् ४५८ में हुई थी। मद्रास के समीपवर्ती पाटलिग्राम (वतमान कुडुलोर) में लिखित यह मूलग्रन्थ उपलब्ध नही है—लगभग एक हजार वर्ष बाद सिंहसूर द्वारा किया गया उसका सस्कृत रूपान्तर प्रकाशित हो चुका है।

[प प्रेमी ने जैन साहित्य और इतिहास में इन दोनो आचार्यों के विषय में विस्तृत विवेचन किया है।]

देवर्धि

स्थूलभद्र, स्कन्दिल और नागाजुन द्वारा आगमो के सकलन के लिए किये गये प्रयासो का उल्लेख ऊपर हो चुका है। वीर सवत् ९८० (पाठान्तर के अनुसार ९९३) में इस प्रकार का अन्तिम प्रयत्न देवर्धि के नेतृत्व में वलभी[1] में आयोजित सम्मेलन में हुआ। इस समय आचार आदि अग, प्रज्ञापना आदि उपाग, दशवैकालिक आदि मूलसूत्र तथा व्यवहार आदि छेदसूत्र इन आगमो का जो पाठ मिलता है वह देवर्धि द्वारा सम्पादित रूप मे ही है। ज्ञान के विभिन्न स्वरूपो का विवेचन करनेवाला नन्दीसूत्र नामक ग्रन्थ भी इन्ही की रचना है जो कई सस्करणो में प्रकाशित हो चुका है। इसके प्रारम्भ में आगमो की परम्परा जिन वाचकाचार्यों के माध्यम से प्राप्त हुई उनकी प्रशसात्मक गाथाएँ भी हैं जिनका पहले यथास्थान उल्लेख कर चुके है। ऊपर वर्णित नागार्जुन के बाद इस में गोविन्द, भूतदिन्न, लोहित्य और दूसगणी इन आचार्यों को वन्दन किया है। कल्पसूत्र में देवर्धि की प्रशसा में एक गाथा है। इसके ऊपर उल्लिखित आचार्यों के बाद जम्बू, नन्दिय, देसिगणी, स्थिरगुप्त तथा कुमारधम इन आचार्यो के नाम है तथा अन्त में देवर्धि की स्तुति है।

अन्य आचार्य

इस शताब्दी के अन्य आचार्यों में हरिवशपुराण की गुरुपरम्परा में उल्लिखित नागहस्ती, नन्दिषेण, दीपसेन तथा धरसेन का समावेश होता है।

शिलालेखो से भी इस शताब्दी के कुछ आचार्यों का परिचय मिलता है। इनमे एक मध्यप्रदेश में विदिशा के निकट उदयगिरि पहाडी की गुहा में प्राप्त हुआ है। इसके

१ यह नगर उस समय सौराष्ट्र के मैत्रक वशीय राजाओं की राजधानी था। वर्तमान भावनगर के समीप वला नामक ग्राम के रूप में यह पहचाना गया है।

अनुसार आचार्य भद्र की परम्परा के गोशर्मा आचार्य के शिष्य शकर ने सन् ४२६ मे पाश्वतीथकर की प्रतिमा की स्थापना की थी। यह सुन्दर प्रतिमा अब भी उक्त गुहा में विद्यमान है। दूसरा लेख सन् ४३२ का है। यह मथुरा में प्राप्त जिनमूर्ति की स्थापना कोटिक गण की विद्याधरी शाखा के आचार्य दत्तिल के उपदेश से ग्रहमित्रपालित की पत्नी श्यामाढ्या ने की थी।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख ९१-९२]

कमप्रकृति और शतक नामक प्राकृत ग्रन्थो के रचयिता शिवशर्मा भी इसी शताब्दी के आचाय माने जाते है। इन दो ग्रन्थो में जीवो के कर्मबन्ध का विवरण दिया गया है।

श्रीदत्त इस शताब्दी के प्रसिद्ध तपस्वी और वादी थे। इनका नाम पूज्यपाद के जैनेन्द्रव्याकरण मे उल्लिखित है। जिनसेन के आदिपुराण में इनकी प्रशसा मे एक श्लोक है। विद्यानन्द के तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के अनुसार इन्होने ६३ वादियो को पराजित किया था। इनका ग्रन्थ जल्पनिणय अभी प्राप्त नही हुआ है।

श्रीवीर निर्वाण सवत् की ग्यारहवी शताब्दी

[ईसवी सन् ४७३ से ५७३]

यतिवृषभ

कषायप्राभृत के चूर्णिसूत्र के कर्ता के रूप में यतिवृषभ का उल्लेख ऊपर हो चुका है। इनका दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ तिलोयपण्णत्ती है। आठ हजार श्लोको जितने विस्तृत इस प्राकृत ग्रन्थ में स्वर्ग, पृथ्वी और नरक इन तीनो लोको के सम्बन्ध में प्राचीन मान्यताओ का विस्तृत वर्णन है। यह दो खण्डो में प्रकाशित हो चुका है। गणित के विषय में दो हजार श्लोकों में षट्करणस्वरूप यह ग्रन्थ भी यतिवृषभ ने लिखा था जो उपलब्ध नही है। तिलोयपण्णत्ती में वीर सवत् १००० तक के भारतीय राजवशो का उल्लेख है—इसके कुछ ही वर्ष बाद इस ग्रन्थ की रचना हुई होगी।

हरिषेण के कथाकोश मे प्राप्त एक कथा के अनुसार यतिवृषभ श्रावस्ती नगर में राजा जयसेन को धर्मोपदेश देने गये थे। वहा किसी शत्रु द्वारा भेजे गये एक गुप्तचर ने यतिवृषभ के शिष्य का वेश धारण कर राजा की एकान्त में हत्या कर दी। तब जैन सघ को राजघात के कलक से बचाने के लिए यतिवृषभ ने आत्मबलिदान किया था।

[तिलोयपण्णत्ती की प्रस्तावना में डॉ हीरालाल जैन व डॉ उपाध्ये ने ग्रन्थकर्ता व ग्रन्थ के बारे में विस्तृत विवेचन किया है। प प्रेमी का जैन साहित्य और इतिहास में सकलित निबन्ध भी महत्त्वपूर्ण है।]

शिवार्य

शीतीभूत जगद् यस्य वाचाराध्य चतुष्टयम्।
मोक्षमार्ग स पायान्न शिवकोटिमुनीश्वर ॥

—जिनसेन–महापुराण प्रारम्भ

आराधना नामक महत्त्वपूर्ण प्राकृत ग्रन्थ की रचना शिवार्य ने की थी। ये जिननन्दि, सर्वगुप्त और मित्रनन्दि के शिष्य थे। जिनसेन के उपर्युक्त श्लोक के अनुसार इनका नाम शिवकोटि इस रूप में भी प्रसिद्ध था।

आराधना—जिसे भगवती आराधना भी कहा जाता है—२१७० गाथाओ का ग्रन्थ है। समाधिमरण के विस्तृत विवेचन से इसका प्रारम्भ होता है। जैन मुनियो की आचारपद्धतियो का—जिनमें नग्नता, केशलोच, अस्नान आदि अभी भी जैनेतर समाज

की दृष्टि में लोकविलक्षण प्रतीत होती है—भावपूर्ण समर्थन इस ग्रन्थ की विशेषता है। ज्ञान, दशन, चारित्र और तप इन चार आराधनाओ का विस्तृत विवरण इसमें मिलता है। इस सम्बन्ध में अनेक पुरातन कथाओ के उल्लेख भी शिवाय ने किये है। आगे चलकर आराधना की गाथाओ के दृष्टान्तो के रूप में अनेक कथाकोशो की रचना हुई। आराधना पर अपराजित, आशाधर तथा शिवजीलाल की सस्कृत टीकाएँ मिलती है। अमितगति ने इसका सस्कृत में रूपान्तर किया था।

शिवार्य ने सस्कृत में सिद्धिविनिश्चय नामक ग्रन्थ भी लिखा था ऐसा शाकटायन के व्याकरण से ज्ञात होता है, यह अभी प्राप्त नही हुआ है।

[प प्रेमी के जैन साहित्य और इतिहास में आराधना पर विस्तृत निबन्ध है।]

पूज्यपाद

श्रीपूज्यपादमुनिरप्रतिमौषर्धद्धि जीयाद् विदेहजिनदर्शनपूतगात्र ।
यत्पादधौतजलसस्पर्शप्रभावात् कालायस किल तदा कनकीचकार ॥[1]

इनका मूल नाम देवनन्दि था। उत्कृष्ट बुद्धि के कारण जिनेन्द्रबुद्धि तथा लोकपूजित होने से पूज्यपाद ये उनके अन्य नाम प्रसिद्ध हुए।

पूज्यपाद ने जैन साहित्य में अनेक नये विषयो का प्रारम्भ किया। उनका जैनेन्द्र व्याकरण सस्कृत भाषा के व्याकरण के क्षेत्र में किसी जैन विद्वान् द्वारा किया गया पहला प्रयास है। छन्दो के विषय में उनकी कोई रचना थी जिसकी जयकीर्ति आदि छन्द शास्त्रज्ञो ने चर्चा की है, यह अभी प्राप्त नही हुई है। इसी प्रकार उनके वैद्यकशास्त्र का उग्रादित्य आदि ने उल्लेख किया है, यह भी अप्राप्त है।

पूज्यपाद की प्रकाशित रचनाओ में तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि व्याख्या महत्त्वपूण है। आगम, तर्क और व्याकरण सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूण स्पष्टीकरण इसमें उपलब्ध होते है।

कुन्दकुन्द के अध्यात्म सम्बन्धी विचारो का सस्कृत में सरस रूपान्तर पूज्यपाद के इष्टोपदेश तथा समाधितन्त्र इन दो छोटे ग्रन्थो में प्राप्त होता है। आत्मचिन्तन के लिए इनका एक-एक पद्य अमूल्य निधि-जैसा है।

दशभक्ति में पूज्यपाद ने सिद्ध, श्रुत, चारित्र, योगी, आचाय, नन्दीश्वर, चैत्य, निर्वाणभूमि, शान्ति और समाधि की भावपूर्ण अलकृत स्तुतियाँ लिखी है। मुनियो के नित्यपठन में इन्हे स्थान मिला है।

पाणिनीय तथा जैनेन्द्र व्याकरण के न्यास, नयो के विषय से सारसग्रह नामक ग्रन्थ तथा जिनाभिषेकपाठ ये पूज्यपाद की अन्य रचनाएँ अप्राप्त है।

ज्ञानसागर की तीर्थवन्दना के अनुसार पूज्यपाद का नेत्ररोग पाली नगर में

---

१ जैन शिलालेख सग्रह, भाग १ पृ २११—यह श्लोक सन् १४३३ के लेख में है, यह लेख श्रवणबेलगोल के विन्ध्यगिरि पर्वत पर स्थित सिद्धरबसति के एक स्तम्भ पर है।

शान्तिनाथस्तुति की रचना से शान्त हुआ था। यह शान्त्यष्टक स्तुति कई स्तुतिसग्रहो मे प्रकाशित हुई है। इन्ही के दानवणन में कहा गया है कि पूज्यपाद ने बारह वष तक एकान्त उपवास की तपस्या की थी।

शीर्षकनिर्दिष्ट श्लोक के अनुसार पूज्यपाद को औषध ऋद्धि प्राप्त थी, उन्होने विदेह के तीथकर का दर्शन किया था तथा उनके चरणजल से लोहे का स्वर्ण में रूपान्तर हुआ था।

प्रसिद्ध है कि गग वश के राजा दुर्विनीत पूज्यपाद के शिष्य थे। उनके दूसरे शिष्य वज्रनन्दि ने मदुरा में द्राविड सघ की स्थापना की थी। दक्षिण भारत में सामाजिक गतिविधियो के केन्द्रो के रूप में मन्दिरो का विकास हुआ था। मन्दिरो को काफी सम्पत्ति दान दी जाती थी। इसकी व्यवस्था के लिए साधुओ को खेती आदि की देखरेख करना आवश्यक हो गया था। सम्भवत इसी कारण वज्रनन्दि को द्राविड सघ के रूप में जैन साधुसघ में एक नया उपक्रम प्रारम्भ करना पडा। इस सघ के अनेक प्रभावी आचार्यों का आगे यथास्थान उल्लेख होगा। एक विद्वान् ग्रन्थकर्ता के रूप में वज्रनन्दि का सादर स्मरण जिनसेन के हरिवशपुराण में प्राप्त होता है। श्रवणबेलगोल के एक शिलालेख में इनकी कृति का नाम नवस्तोत्र बताया गया। यह अभी अप्राप्त है।

[समाधितन्त्र की प्रस्तावना में प मुख्तार ने पूज्यपाद का विस्तृत परिचय दिया है। जैन साहित्य और इतिहास में प प्रेमी का निबन्ध भी महत्त्वपूर्ण है।]

पात्रकेसरी

महिमा स पात्रकेसरिगुरो पर भवति यस्य भक्त्यासीत्।
पद्मावती सहाया त्रिलक्षणकदथन कर्तुम्॥[1]

समन्तभद्र की आप्तमीमासा के पठन से प्रभावित होकर पात्रकेसरी ने जैन धर्म स्वीकार किया। कथा के अनुसार वे अहिच्छत्र नगर के राजपुरोहित थे। इनका जिनेन्द्रगुणसस्तुति नामक स्तोत्र समन्तभद्र की रचनाओ के समान ही तकदृष्टि से लिखा गया है। तर्कशास्त्र में किसी पक्ष की सिद्धि करने में हेतु का बडा महत्त्व होता है। हेतु का बौद्ध आचार्यों ने जो लक्षण बतलाया था उसका खण्डन करने के लिए पात्रकेसरी ने त्रिलक्षणकदर्थन नामक ग्रन्थ लिखा था। यह उपलब्ध नही है। शीषक निर्दिष्ट श्लोक के अनुसार इस ग्रन्थ का आधारभूत सूत्र पद्मावती देवी की कृपा से प्राप्त हुआ था। उग्रादित्य के कल्याणकारक में पात्रकेसरी रचित शल्यतन्त्र (शस्त्रक्रिया सम्बन्धी ग्रन्थ) का उल्लेख है। यह भी अभी नही मिला है।

[प्रभाचन्द्र के कथाकोश में पात्रकेसरी की कथा है, श्रवणबेलगोल तथा हुम्मच के कई शिलालेखो में इनकी प्रशसा मिलती है।]

---

१ जैन शिलालेख सग्रह, भाग १ पृ १०३—यह श्लोक श्रवणबेलगोल के सन् ११२८ के मल्लिषेणप्रशस्ति नामक लेख में है।

भद्रबाहु (द्वितीय)

आगमो के सकलन के साथ ही उनके अध्ययन के लिए सहायक ग्रन्थो का निर्माण भी प्रारम्भ हुआ। इनमें भद्रबाहु की निर्युक्तियो का स्थान पहला है। आचार और सूत्रकृत ये अग, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन और आवश्यक ये मूलसूत्र, व्यवहार, बृहत् कल्प और दशाश्रुतस्कन्ध ये छेद सूत्र, सूयप्रज्ञप्ति उपाग तथा ससक्त और ऋषिभाषित ये प्रकीण इन ११ ग्रन्थो पर नियुक्तियाँ लिखी गयी थी। इन ग्रन्थो के विभिन्न प्रकरणो का परस्पर सम्बन्ध, पूव-ग्रन्थो से सम्बन्ध, कठिन प्रकरणो का अथ समझने के लिए उपयोगी सूचनाएँ, दृष्टा त रूप मे कथाओ के सकेत आदि समझने के लिए ये गाथाएँ बडी महत्त्वपूर्ण है।

टीकाकारो के परम्परागत वर्णनो में तो नियुक्ति-कर्ता को श्रुतकेवली भद्रबाहु ही कहा है किन्तु आधुनिक विद्वान् इनमे भेद करते है। कथाओ में भद्रबाहु को प्रतिष्ठान नगर में प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर—जिनकी ग्रन्थरचना सन् ५०५ के आसपास की है—के बन्धु के रूप में बताया है। पयुषण में पढे जानेवाले भद्रबाहु कृत कल्पसूत्र में देवर्धि गणी की प्रशसा है। इससे भी आगम सकलन के समय ही इन भद्रबाहु का कायकाल मालूम होता है। कल्पसूत्र में तीथकरो के जीवन सम्बन्धी सक्षिप्त वणन, महावीर से देवर्धि तक की परम्परा तथा साधुओ के आचरणसम्बन्धी सक्षिप्त नियम ये तीन भाग है। यह ग्रन्थ काफी लोकप्रिय रहा है। पाश्वतीथकर की प्रशसा में ५ गाथाओ का उपसगहर स्तोत्र भी इन्ही भद्रबाहु ने लिखा है। कहा गया है कि वराहमिहिर मृत्यु के बाद व्यन्तर देव होकर जैन श्रावकों को कष्ट पहुँचाने लगा तब उसके उपद्रव से रक्षा के लिए इस स्तोत्र की रचना हुई थी। भद्रबाहुसहिता नामक एक ज्योतिषग्रन्थ सस्कृत मे है। प्राकृत मे भी भद्रबाहु के नाम से कोई ग्रन्थ इसी विषय पर था। वसुदेवचरित या हरिवश की रचना का श्रेय भी भद्रबाहु को दिया गया है। यह उपलब्ध नही है।

[आत्मानन्द जन्मशताब्दी स्मारक ग्रन्थ में मुनि चतुरविजय का भद्रबाहु पर विस्तृत लेख छपा है। कथाएं प्रबन्धकोष, प्रबन्धचिन्तामणि आदि में प्राप्त होती है।]

मल्लवादी

सिद्धसेन के समान मल्लवादी तर्कशास्त्र के प्रमुख ज्ञाता के रूप में प्रसिद्ध हुए थे। प्रभावकचरित, प्रबन्धकोश तथा प्रबन्धचिन्तामणि में इनकी जीवनकथा वर्णित है। इसके अनुसार इनका जन्म गुजरात की राजधानी वलभी में हुआ था। उस समय इनके मामा आचार्य जिनानन्द वाद-विवाद में एक बौद्ध आचाय से पराजित हुए थे। इसके फलस्वरूप राजा शिलादित्य ने जैन मुनियो को निर्वासित कर दिया तथा शत्रुजय के प्रसिद्ध तीथ को भी बौद्धो के अधिकार में दे दिया। बालक अवस्था में ही जैन सघ की यह दुरवस्था देखकर मल्लवादी क्षुब्ध हुए और दृढ निश्चय से अध्ययन में सलग्न हुए। शीघ्र ही उन्होने तर्कशास्त्र में अद्भुत निपुणता प्राप्त की और बौद्ध आचार्यो को राजा

शिलादित्य की सभा में पराजित कर खोया हुआ गौरव पुन प्राप्त किया। मल्लवादी का द्वादशार नयचक्र नामक ग्रन्थ किसी समय बहुत प्रसिद्ध था, अब यह मूल रूप में नही मिलता किन्तु सिंहसूरि द्वारा उसपर लिखी गयी टीका प्रकाशित हो गयी है। सन्मतिसूत्र की टीका तथा पद्मचरित ये उनके अन्य ग्रन्थ भी अप्राप्त हैं। मल्लवादी के बन्धु अजितयश ने भी तकशास्त्र पर कोई ग्रन्थ लिखा था, यह भी अभी नही मिला है।

सघदास और धमसेन

प्राकृत कथा साहित्य में वसुदेवहिण्डी एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसकी रचना सघदास और धमसेन आचार्यों ने की थी। सौ अध्यायो के इस ग्रन्थ का विस्तार २८ हजार श्लोको जितना है। यह अधिकतर गद्य में है। श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव की साहस और रोमाचकारी प्रसगो से परिपूर्ण यात्राओ का और विवाहो का वणन इसका प्रमुख विषय हैं। प्रसगोपात्त आख्यानो में ऋषभदेव, शान्तिनाथ, जम्बूस्वामी, त्रिपृष्ठ आदि अनेक जैन पुराणपुरुषो की कथाएँ विस्तार से बतायी है। प्राकृत में गुणाढ्य की बृहत्कथा एक प्रसिद्ध ग्रन्थ था जो अब नही मिलता। इसके सस्कृत सक्षेपो से मालूम होता है कि सघदास और धमसेन ने गुणाढ्य की प्रेमकथाओ को धमकथा के अगो के रूप मे कुशलता से सयोजित किया है। प्राकृत गद्य के साहित्यिक सौन्दय की दृष्टि से यह रचना पठनीय है।

[मुनि चतुरविजय द्वारा सम्पादित इस ग्रन्थ का पूर्वार्ध प्रकाशित हुआ है।]

वीरदेव, विजयकीर्ति और चन्द्रनन्दि

मैसूर प्रदेश के मालूर तालुके में स्थित नोणमगल ग्राम से प्राप्त दो ताम्रपत्रों से इस प्रदेश के तीन प्राचीन आचार्यो का परिचय मिलता है। गगवश के महाराज माधववर्मा (द्वितीय) ने अपने राज्य के तेरहवें वष में पेब्बोलल ग्राम के मूलसघ के जिनमन्दिर के लिए कुमारपुर ग्राम और कुछ भूमि का दान दिया था ऐसा प्रथम ताम्र-पत्र में वणन है। यह दान आचाय वीरदेव के उपदेश से दिया गया था। लेख के वणना-नुसार ये आचार्य अपने (जैन) और दूसरो के (जैनेतर) सिद्धान्तो के ज्ञाता थे तथा श्री वीरशासनरूपी आकाश को प्रकाशित करनेवाले सूय के समान थे। दूसरे ताम्रपत्र के अनुसार माधववर्मा के पुत्र महाराज कोगुणिवर्मा अविनीत ने अपने राज्य के पहले वर्ष में उरनूर ग्राम के मूलसघ के जिनमन्दिर के लिए वेन्नैल्करनि ग्राम दान दिया था। इस दान की प्रेरणा महाराज के उपाध्याय विजयकीर्ति ने दी थी—लेख के अनुसार इनकी कीर्ति सभी दिशाओ में फैली थी। इस समय मूलसघ में चन्द्रनन्दि आचार्य प्रमुख थे यह भी लेख से ज्ञात होता है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख ९० और ९४]

कुमारदत्त आदि आचार्य

मैसूर प्रदेश के बेलगाँव ज़िले में स्थित हलसी ग्राम पुरातन समय में पलाशिका नगर के नाम से प्रसिद्ध था तथा कदम्ब वश के राजाओं का एक प्रमुख स्थान था। यहाँ से प्राप्त सात ताम्रपत्रो से कदम्ब राजाओ द्वारा जिनमन्दिरो को दिये गये दानो का विवरण मिलता है। इनमे से तीन ताम्रपत्रो में पाँच आचार्यों के नाम मिलते है, शेष ताम्रपत्रो में सामान्य रूप से मुनिसघो का उल्लेख है। प्रथम ताम्रपत्र के लेख के अनुसार राजा रविवर्मा के प्रसाद से प्रतीहार जयकीर्ति ने अष्टाह्निका महापव में जिनपूजा के लिए पुरुखेटक ग्राम दान दिया था। जयकीर्ति के कुल की प्रतिष्ठा का श्रेय निमित्तज्ञान में पारगत आचार्य बन्धुषेण को दिया गया है। इसी लेख में यापनीय सघ के प्रमुख आचाय कुमारदत्त का वणन है—वे परिश्रमपूवक अनेक शास्त्रो का अध्ययन करते थे तथा उत्तम तपस्यारूपी धन से सम्पन्न थे। दूसरे लेख में राजा हरिवर्मा ने सेनापति सिह के पुत्र मृगेश द्वारा निर्मित जिनमन्दिर को वसन्तवाटक ग्राम दान दिया ऐसा वणन है। यह दान कूचक सघ के प्रमुख चन्द्रक्षान्त आचार्य को दिया था। इस सघ के पूर्वाचाय के रूप में वारिषेण का नाम भी उल्लिखित है। तीसरे लेख में राजा हरिवर्मा ने अहरिष्टि सघ के जिनमन्दिर को मरदे ग्राम दान दिया ऐसा वणन है। इस मन्दिर के अधिष्ठाता आचाय का नाम धमनन्दि बताया है। कदम्ब राजाओ के तीन दानलेख धारवाड ज़िले के देवगिरि नामक ग्राम से भी प्राप्त हुए है, इनमे मुनिसघो का सामान्य उल्लेख है, किसी विशिष्ट आचाय का नामोल्लेख नही है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख १००, १०३, १०४]

जिननन्दि

महाराष्ट्र मे कोल्हापुर के समीप अलते ग्राम से प्राप्त एक ताम्रपत्र से जिननन्दि का परिचय प्राप्त हुआ है। ये कनकोपलसभूतवृक्षमूल गण के आचार्य थे। लेख मे इनकी गुरुपरम्परा इस प्रकार बतायी है—समस्त सिद्धान्त के ज्ञाता सिद्धनन्दि के शिष्य चितकाचार्य हुए जिन्हे देव भी प्रणाम करते थे, उनके पाँच सौ शिष्यो में प्रमुख नागदेव हुए तथा नागदेव के शिष्य जिननन्दि हुए। ये अनेक राजाओ द्वारा सम्मानित महान् तपस्वी और शास्त्रो के ज्ञाता थे। चालुक्य वश के महाराज पुलकेशी (प्रथम) ने इन्हें त्रिभुवनतिलक जिनमन्दिर के लिए भूमिदान दिया था।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख १०६]

गुहनन्दि

बगाल मे राजशाही ज़िले के पहाडपुर से प्राप्त ताम्रपत्र से इस प्रदेश के एक पुरातन जैन मठ का परिचय मिलता है। वटगोहाली ग्राम (वर्तमान गोआलभिटा)

में स्थित यह मठ काशी के पचस्तूपनिकाय के आचार्य गुहनन्दि के शिष्य-प्रशिष्यो द्वारा सचालित था। ब्राह्मण नाथशर्मा ने सन् ४७९ में इस मठ को कुछ भूमि दान दी थी।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग ४, लेख १९]

अन्य आचार्य

इस शताब्दी के अन्य आचार्यो में हरिवशपुराण की गुरुपरम्परा मे उल्लिखित धमसेन, सिहसेन, नन्दिषेण और ईश्वरसेन का समावेश होता है।

उद्द्योतन की कुवलयमाला कथा की प्रशस्ति से भी इस शताब्दी के कुछ आचार्यों का परिचय मिलता है। इसमें कहा गया है कि चन्द्रभागा नदी (वर्तमान चिनाब) के तीर पर पव्वइया नगर में राजा तोरमाण ने गुप्तवशीय जैन आचाय हरिगुप्त का उपदेश सुना था। हरिगुप्त के शिष्य देवगुप्त का त्रिपुरुषचरित्र नामक ग्रन्थ उद्द्योतन के समय प्रसिद्ध था। यह अभी प्राप्त नही हुआ है।

पचसग्रह नामक प्राकृत ग्रन्थ के रचयिता चन्द्रर्षि भी इस शताब्दी के माने जाते है। इस ग्रन्थ में जीवो के कमबन्ध का विवरण दिया गया है।

श्रीवीर निर्वाण सवत् की बारहवी शताब्दी

[ईसवी सन् ५७३ से ६७३]

मानतुग

इनका भक्तामरस्तोत्र समग्र जैन समाज में बहुत लोकप्रिय रहा है। उत्कट भक्ति और अलकारो से विभूषित साहित्यिक सस्कृत भाषा का सुन्दर समन्वय इस स्तोत्र में मिलता है। प्राकृत में इनका भयहरस्तोत्र भी सुप्रसिद्ध है। भक्तामरस्तोत्र की टीकाओ में तथा प्रभावकचरित आदि की कथाओ में मानतुग को कवि बाण और मयूर का समकालीन माना है। कथा है कि मयूर का कुष्ठरोग सूयशतक के प्रभाव से दूर हुआ तथा बाण के कटे हुए हाथ-पैर चण्डीशतक के प्रभाव से ठीक हो गये। राजा हृष ने ऐसा ही कोई चमत्कार जैन आचाय से भी देखने की इच्छा प्रकट की तब मानतुग को कारागृह में बन्द किया गया जहाँ भक्तामरस्तोत्र की रचना के प्रभाव से वे बन्धनमुक्त हो गये।

[प्रबन्धचिन्तामणि में हृष के स्थान पर भोज राजा का नाम मिलता है]

जिनभद्र

आगमो के व्याख्याकारो में भद्रबाहु के बाद जिनभद्र का स्थान महृत्त्वपूण है। इनका विशेषावश्यक भाष्य सन् ६०६ में पूण हुआ था। आवश्यकसूत्र की इस व्याख्या में लगभग ३६०० गाथाएँ है। ज्ञान, नय, निक्षेप, परमेष्ठी, गणधर आदि का विस्तृत विवेचन इसमें प्राप्त होता है। इनका दूसरा महृत्त्वपूण ग्रन्थ जीतकल्प (सूत्र और भाष्य) है जिसमें मुनियो के प्रायश्चित्त सम्बन्धी नियमो का वणन है। बृहत् सग्रहणी और बृहत् क्षेत्रसमास इन ग्रन्थो में जिनभद्र ने चार गतियो और तीन लोको के विषय मे प्राचीन मान्यताओ का विस्तृत वर्णन किया है। विशेषणवती इनकी एक और रचना है।

[डॉ जगदीशचन्द्र जैन के प्राकृत साहित्य का इतिहास के विभिन्न प्रकरणो से सकलित।]

प्रभाचन्द्र और रविकीर्ति

मैसूर प्रदेश के धारवाड ज़िले में आडूर ग्राम से प्राप्त एक शिलालेख से परलूरगण के आचाय प्रभाचन्द्र का परिचय मिलता है। ये विनयनन्दि के शिष्य वासुदेव के शिष्य

थे। इन्हे चालुक्य वश के महाराज कीर्तिवर्मा (प्रथम) के राज्यकाल मे दोण, एक आदि ग्रामपतियो ने एक जिनमन्दिर के लिए भूमिदान दिया था। इस लेख की स्थापना धर्मगामुण्ड के पुत्र श्रीपाल ने की थी जो प्रभाचन्द्र का शिष्य था।

इसी प्रदेश के विजापूर ज़िले में ऐहोले ग्राम मे एक भव्य जिनमन्दिर से एक विस्तृत शिलालेख प्राप्त हुआ है। कीर्तिवर्मा के पुत्र पुलकेशी (द्वितीय) के दिग्विजय का सुन्दर वर्णन इस लेख में प्राप्त होता है। इस राजा के प्रसाद से इस मन्दिर का निर्माण रविकीर्ति ने सन् ६३४ में करवाया था। उत्तम कविता के कारण वे कालिदास और भारवि के समकक्ष माने जाते थे ऐसा लेख के अन्त में कहा गया है। इस प्रकार इन दोनो महाकवियो के समयनिणय का एक महत्त्वपूण आधार इस लेख में प्राप्त होता है। मैसूर प्रदेश के उपलब्ध जिनमन्दिरो मे ऐहोले का यह मन्दिर सबसे प्राचीन समझा जाता है। इसी समय के लगभग चालुक्यो की राजधानी वातापि (वतमान बदामी) में उत्कीण गुहाओ मे भी कुछ सुन्दर जिनमूर्तियाँ प्राप्त होती है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख १०७-१०८]

अन्य आचार्य

इस शताब्दी के अन्य आचार्यों में हरिवशपुराण की गुरुपरम्परा मे उल्लिखित नन्दिषेण, अभयसेन, सिद्धसेन और भीमसेन का समावेश होता है।

उद्द्योतन की कुवलयमाला कथा की प्रशस्ति मे उल्लिखित देवगुप्त के शिष्य शिवचन्द्र और उनके शिष्य यक्षदत्त इस शताब्दी में हुए थे। शिवचन्द्र के विपय में कहा गया है कि वे जिनदर्शन के लिए भिल्लमाल नगर में रहे थे। अब यह नगर भिनमाल नामक छोटा गाँव है। राजस्थान में स्थित इस नगर को उस समय राजधानी का गौरव प्राप्त हुआ था।

विशेषावश्यक टीका के कर्ता कोट्याचार्य तथा उपदेशमाला के कर्ता धर्मदास भी इसी शताब्दी के माने जाते है। उपदेशमाला पर अनेक टीकाएँ प्राप्त हुई है जिनमें कथाओ द्वारा धर्मोपदेश दिया गया है।

श्रवणबेलगोल के शिलालेख में लिपि के स्वरूप को देखकर सन् ६५० के आस-पास के माने गये कुछ लेख है। इनमे बलदेव, शान्तिसेन और अरिष्टनेमि इन आचार्यों के समाधिमरण का उल्लेख है। शान्तिसेन के विषय मे कहा गया है कि भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त द्वारा समृद्धि को प्राप्त हुए जिनधर्म का तेज क्षीण होने पर शान्तिसेन के प्रभाव से उसका पुनरुत्थान हुआ। अरिष्टनेमि के विषय में कहा गया है कि इनके अनेक शिष्य थे तथा इनके समाधिमरण के समय दिण्डिकराज उपस्थित थे। जैन शिलालेख सग्रह भाग १ में ये लेख सम्पादित हुए हैं।

श्रीवीर निर्वाण सवत् की तेरहवीं शताब्दी

[ईसवी सन् ६७३ से ७७३]

जटासिंहनन्दि

जैन आचार्यो द्वारा सस्कृत में लिखित ललित साहित्य में जटासिंहनन्दि के वरागचरित का स्थान प्रथम और उत्तम है। उद्द्योतन, दोनों जिनसेन, धवल, चामुण्ड-राय आदि समथ कवियो ने उनकी प्रशसा की है। वराग एक वीर राजकुमार था जिसे सौतेली माँ और विश्वासघाती मन्त्री के षड्यन्त्रो से निर्वासित होना पडा, उसने अपनी वीरता और साहस से प्रतिकूल स्थिति पर विजय पायी और एक नये राज्य की स्थापना की। अन्त में तीथकर नेमिनाथ के गणधर वरदत्त से दीक्षा लेकर उसने तपस्या की और निर्वाण प्राप्त किया। विविध रसो के परिपोष सहित इस कथा के माध्यम से आचाय ने जैनधम के सिद्धान्तो का सुन्दर वर्णन किया है। बौद्ध साहित्य में अश्वघोष की कृतियो का जो महत्त्व है वही जैन साहित्य में जटासिंहनन्दि की इस कृति का है।

मैसूर प्रदेश के रायचूर जिले में स्थित कोप्पल नगर पुरातन समय मे कोप्पल कहलाता था तथा एक पवित्र तीथ के रूप मे प्रसिद्ध था। इसके समीप की पहाडी पर आचार्य जटासिंहनन्दि के चरणचिह्न है जिन्हे चावय्य नामक श्रावक ने उत्कीर्ण कराया था, सम्भवत यही उनके समाधिमरण का स्थान है। इनकी प्रशसा जटिल या जटाचार्य इस सक्षिप्त नाम से भी की गयी है।

[डॉ आ. ने उपाध्ये द्वारा सम्पादित वरागचरित माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई से प्रकाशित हुआ है। इसकी प्रस्तावना में सम्पादक ने लेखक और कृति से सम्बद्ध विषयो का विस्तृत विवेचन किया है।]

रविषेण

इनका पद्मचरित पद्मपुराण के नाम से प्रसिद्ध है। इसका हिन्दी अनुवादो के माध्यम से काफी प्रचार रहा है। १२३ अध्यायो के और लगभग १८ हजार श्लोको के इस ग्रन्थ की समाप्ति वीर सवत् १२०३ = सन् ६७६ में हुई थी। ग्रन्थकर्ता ने अपनी परम्परा के चार पूर्वाचार्यो के नाम बताये है—इन्द्रगुरु—दिवाकरयति—अहन्मुनि—लक्ष्मण-सेन (ग्रन्थकर्ता के गुरु)। विमल के प्राकृत पद्मचरित का सस्कृत-भाषी विद्वानो के लिए किया गया पल्लवित रूपान्तर होने पर भी काव्य-सौन्दय की दृष्टि से यह ग्रन्थ

- ~ ९ । २८।।७९ उद्द्योतन न कुवलयमाला मे तथा जिनसेन ने हरिवशपुराण मे रविषेण का सादर स्मरण किया है। स्वयम्भूदेव का अपभ्रश पउमचरिउ रविषेण के ही ग्रन्थ पर आधारित है।

[प प्रेमी के जैन साहित्य और इतिहास में रविषेण पर एक निबन्ध है।]

जिनदास

नियुक्ति और भाष्यो के बाद आगमो के अध्ययन मे सहायक ग्रन्थो में जिनदास की चूर्णियो का स्थान महत्त्वपूण है। आचाराग, सूत्रकृताग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति, आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, निशीथ, दशाश्रुतस्कन्ध, नन्दी और अनुयोगद्वार इन ग्यारह ग्रन्थो पर चूर्णियाँ प्राप्त है। इनमें से निशीथसूत्र की चूर्णि सन् ६७६ में पूण हुई थी तथा विस्तार में सबसे बडी है। प्राचीन प्राकृत शब्दो के स्पष्टीकरण के साथ ही इन चूर्णियो मे कई मनोरजक, उपदेशात्मक और ऐतिहासिक कथाएँ भी मिलती है इसलिए साहित्यिक दृष्टि से भी इनका विशेष महत्त्व है।

[डॉ जगदीशचन्द्र जैन के प्राकृत साहित्य का इतिहास से सकलित।]

उदयदेव आदि आचार्य

मैसूर प्रदेश के धारवाड जिले मे लक्ष्मेश्वर नगर है। इसका पुरातन समय में पुरिकर, पुलिगैरे या हुलिगेरे यह नाम था। यहाँ नेमिनाथ का एक भव्य मन्दिर है जिसे शखजिनेन्द्र मन्दिर या शखतीर्थवसति कहा जाता था। यहाँ ८७ पक्तियो का एक विस्तृत शिलालेख है। इससे ज्ञात होता है कि मूलसघ के अन्तर्गत देवगण के आचार्य इस तीर्थ की देखभाल करते थे। बदामी के चालुक्य वश के महाराज विनयादित्य ने सन् ६८६ में इस गण के एक आचार्य (जिनका नाम अस्पष्ट है) को कुछ दान दिया था। इनके पुत्र महाराज विजयादित्य ने सन् ७२९ में पण्डित उदयदेव को कदम नामक गाँव दान दिया था। उदयदेव पूज्यपाद के शिष्य थे तथा महाराज विनयादित्य के उपाध्याय रहे थे। विजयादित्य के पुत्र विक्रमादित्य (द्वितीय) ने सन् ७३४ में मन्दिर के एक भाग धवलजिनालय का जीर्णोद्धार कराया था तथा आगामी समय में जीर्णोद्धार कराने के लिए ५० निवतन भूमि पण्डित विजयदेव को अर्पित की थी। विजयदेव तथा उनके गुरु जयदेव ने अनेक वादो में विजय प्राप्त किया था तथा जयदेव के गुरु रामदेव उत्तम तपस्या एव विद्वत्ता के कारण प्रसिद्ध हुए थे यह भी इस शिलालेख से ज्ञात होता है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख १११, ११३, ११४]

आर्यनन्दि आदि आचार्य

तमिलनाडु में जैन आचार्यों के विहार का उल्लेख भद्रबाहु के शिष्य विशाखाचाय तथा धरसेन के शिष्य भूतबलि की जीवनकथा में आ चुका है। इस प्रदेश की प्राचीन

तमिल भाषा में कुरल, नालदियार आदि महत्त्वपूर्ण जैन ग्रन्थ भी मिलते है। इनके कर्ता और सयय आदि के विषय में पर्याप्त सामग्री प्राप्त न होने से ऊपर इनका विवरण नही दिया जा सका। तमिल प्रदेश में जैन समाज की इस महत्त्वपूर्ण स्थिति को सन् ६०० के आसपास शिवभक्ति आन्दोलन से बडा आघात पहुँचा। उस समय अनेक जैन मुनियो को विरोधी साम्प्रदायिक गतिविधियो के कारण आत्मबलिदान करना पडा जिसके दृश्य मदुरा के मीनाक्षी मन्दिर में अभी भी दिखाये जाते है। इस दुरवस्था के समय मे जैन समाज के पुन सगठन मे जिन आचार्यों ने भाग लिया उनमें आयनन्दि प्रमुख थे। मदुरा के समीपवर्ती आनैमलै, अलगरमलै, उत्तमपालैयम्, कीलक्कुडि, कोगरपुलियगुलम् आदि अनेक स्थानो की पहाडियो मे उत्कीण जिनमूर्तियो के शिलालेखो में आर्यनन्दि का नाम मिलता है। इनमें तिथि का उल्लेख नही है फिर भी अक्षरो की बनावट से विशेषज्ञो ने इनका समय सन् ७०० के आसपास निश्चित किया है। कीलक्कुडि के लेख मे आयनन्दि की माता का नाम गुणमति बताया है। यहा गुणसेन-वर्धमान-गुणसेन (द्वितीय) तथा कनकनन्दि-अभिनन्दन-अभिमण्डल-अभिनन्दन (द्वितीय) इन दो आचार्यपरम्पराओ के उल्लेख भी है। मुत्तुप्पट्टि ग्राम के लेख मे अष्टोप-वासी-गुणसेन-कनकवीर यह परम्परा उल्लिखित है। यही के एक अन्य लेख में अष्टोप-वासी गुरु के शिष्य माघनन्दि का नाम मिलता है।

[जैनिज्म इन साउथ इण्डिया मे डॉ देसाई ने इन लेखो का विस्तृत परिचय दिया है।]

अकलकदेव

जैन तकशास्त्र के परिपक्व रूप का दर्शन अकलकदेव के ग्रन्थो मे होता है। बौद्ध पण्डितो के आक्षेपो का समुचित विस्तृत उत्तर उन्ही के ग्रन्थो में मिलता है। इनके जीवन के विषय मे प्रभाचन्द्र के कथाकोश में कुछ वणन है तथा श्रवणबेलगोल के मल्लिषेणप्रशस्ति शिलालेख में भी इस विषय के कुछ श्लोक है। कथानुसार अकलकदेव राजा शुभतुग (राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्णराज प्रथम) के मन्त्री पुरुषोत्तम के पुत्र थे। बाल वय में ही अपने भाई निष्कलक के साथ इन्होने ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार किया। प्रारम्भिक अध्ययन पूण होने पर बौद्ध तकशास्त्र के विशिष्ट अभ्यास के लिए ये गुप्त रूप से एक बौद्ध मठ में रहने लगे। वहाँ इनके जैन होने का पता लगने पर अकलक तो किसी प्रकार बच निकले किन्तु निष्कलक उस मठ के समथक सैनिको द्वारा मारे गये। बाद में आचार्य पद प्राप्त होने पर अकलक ने कलिगनरेश हिमशीतल की सभा में बौद्धो से वादविवाद किया। कहा गया है कि विरोधी पक्ष के पण्डित एक घडे मे तारादेवी की स्थापना करते थे और उसकी कृपा से वाद मे अजेय होते थे। अकलकदेव ने शासनदेवता की कृपा प्राप्त कर वह घडा फोड दिया और वाद में विजय प्राप्त किया।

अकलक की कृतियो में तत्त्वार्थसूत्र की टीका तत्त्वार्थवार्तिक—जिसे राजवार्तिक

भी कहा जाता है—सबसे विस्तृत है। लगभग १६ हजार श्लोको जितना इसका विस्तार है। इसके प्रथम और चतुर्थ अध्याय विशेष महत्त्वपूर्ण हैं—इनमें मोक्ष और जीवस्वरूप सम्बन्धी विभिन्न विचारो का परीक्षण प्राप्त होता है। अष्टशती समन्तभद्र कृत आप्त-मीमासा की व्याख्या है—नाम के अनुसार इसका विस्तार आठ सौ श्लोको जितना है। लघीयस्त्रय में प्रमाण, नय और प्रवचन ये तीन प्रकरण हैं। न्यायविनिश्चय में भी तीन प्रकरण है, इनमें प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीन प्रमाणो का विवेचन है। प्रमाणसग्रह में ९ प्रकरण हैं, इनमें प्रमाण सम्बन्धी विभिन्न विषयो की चर्चा है। सिद्धि-विनिश्चय मे १२ प्रकरण है, इनमें प्रमाण, नय, जीव, सवज्ञ आदि विषयो का विवेचन है। इन चार ग्रन्थो में मूल श्लोको के साथ गद्य स्पष्टीकरणात्मक अश भी अकलकदेव ने जोडा है।

जैन पण्डितों में अकलक के ग्रन्थो का बडा आदर हुआ। अष्टशती पर विद्यानन्द ने, लघीयस्त्रय पर अभयचन्द्र और प्रभाचन्द्र ने, न्यायविनिश्चय पर वादिराज ने तथा प्रमाणसग्रह और सिद्धिविनिश्चय पर अनन्तवीय ने विस्तृत व्याख्याएँ लिखी है। माणिक्य-नन्दि का परीक्षामुख अकलकदेव के ही विचारो का सूत्रबद्ध रूप प्रस्तुत करता है।

[आधुनिक समय में प महेन्द्रकुमार द्वारा अकलक के ग्रन्थो के लिए लिखी गयी प्रस्तावनाएँ महत्त्वपूर्ण है, इनमें सिद्धिविनिश्चय की प्रस्तावना विशेष विस्तृत है।]

हरिभद्र

इनका जन्म चित्तौड के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। कुलक्रमागत वेदादि ग्रन्थों का अध्ययन पूण होने पर ज्ञान के गव से इन्होंने प्रतिज्ञा की कि जिसका वचन मैं न समझ सकूँ उसका शिष्यत्व स्वीकार करूँगा। एक बार याकिनी महत्तरा नामक जैन साध्वी आगमो का पठन कर रही थी। उनकी प्राकृत गाथा का अथ हरिभद्र नही समझ सके और प्रतिज्ञानुसार उनकी सेवा में शिष्य-रूप में उपस्थित हुए। साध्वी ने अपने गुरु जिनभटसूरि से उनकी भेंट करायी। उनसे मुनिदीक्षा ग्रहण कर आगमो का विधिवत् अध्ययन होने पर हरिभद्र को आचार्य पद दिया गया।

हरिभद्र के दो शिष्यो—हस और परमहस की कथा—जो प्रभावकचरित, प्रबन्धकोश आदि में उपलब्ध है—अकलक-निष्कलक के समान है—अर्थात् बौद्ध सिद्धान्तो का अध्ययन करने के लिए वे किसी बौद्ध मठ में गुप्त रूप से रहे और वास्तविकता प्रकट होने पर बौद्धो ने उनकी हत्या कर दी ऐसा कहा गया है। इससे क्षुब्ध होकर हरिभद्र ने भी बौद्धो को वाद मे पराजित कर मृत्युदण्ड देने का सकल्प किया किन्तु गुरु द्वारा समझाये जाने पर वह सकल्प छोड दिया। हरिभद्र की अनेक रचनाओ के अन्तिम श्लोक में भवविरह यह शब्द मिलता है जो इसी शिष्य-विरह का सूचक माना गया है।

विस्तार, विविधता और गुणवत्ता इन तीनो दृष्टियो से हरिभद्र की रचनाएँ जैन साहित्य में महत्त्वपूण है। परम्परानुसार इनके कुल ग्रन्थो की सख्या १४४४ कही गयी है। इसमे कुछ अतिशयोक्ति हो सकती है। तत्त्वाथ के अपवाद को छोडकर आगमो का अध्ययन प्राकृत भाषा तक सीमित था। हरिभद्र ने आवश्यक, प्रज्ञापना, नन्दी, अनुयोग-द्वार, ओघनिर्युक्ति, दशवैकालिक, जीवाभिगम, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि आगम-ग्रन्थो पर सस्कृत टीकाओ की रचना की जिससे सस्कृतभाषी विद्वानो के लिए इन आगमो का अध्ययन सुकर हुआ। पुराने प्राकृत व्याख्या साहित्य में आयी हुई अनेक कथाओ से ये टीकाएँ सुशोभित है।

अनेकान्तजयपताका, अनेकान्तवादप्रवेश, शास्त्रवार्तासमुच्चय आदि ग्रन्थो में विभिन्न भारतीय दर्शनो के तत्त्वो का जैन दृष्टि से परीक्षण कर हरिभद्र ने जैन तत्त्वो को तकशास्त्र के अनुकूल सिद्ध किया है। षड्दशनसमुच्चय नामक सक्षिप्त ग्रन्थ मे उन्होने जीव, जगत् और धर्म सम्बन्धी भारतीय दशनो की मान्यताएँ प्रामाणिक रूप में सकलित की है।

समरादित्यकथा और धूर्ताख्यान ये उनके ग्रन्थ प्राकृत के साहित्यिक सौन्दय के लिए प्रसिद्ध है। समरादित्यकथा में क्रोध कषाय की भयकरता गुणसेन और अग्निशर्मा के दस जन्मो की कहानी बताकर स्पष्ट की है। इस विस्तृत कथाग्रन्थ में भारतीय जीवन की विविध छटाओ का मनोहर, सूक्ष्म व अलकृत चित्रण उपलब्ध होता है। धूर्ताख्यान मे ब्राह्मणो की पुराणकथाओ की अविश्वसनीयता व्यग्य कथाओ के माध्यम से स्पष्ट की है।

योगबिन्दु, योगदृष्टिसमुच्चय, योगविंशिका आदि मे लोकप्रसिद्ध पातजल योग की प्रक्रियाओ का जैन परम्परा से समन्वय स्थापित करने का सफल प्रयत्न हरिभद्र ने किया है। इस विषय का उनका विवेचन जैन साहित्य में एक नयी विचारसरणी का प्रारम्भ बिन्दु सिद्ध हुआ।

सावयपण्णत्ती, दसणसत्तरी, पचवस्तुक आदि में गृहस्थो और मुनियो के आचार-विचारो का विस्तृत प्रतिपादन हरिभद्र ने किया है।

धमबिन्दु, उपदेशपद, सम्बोधप्रकरण, अष्टकप्रकरण, षोडशक, विंशिका आदि छोटे-छोटे प्रकरणो में विविध दाशनिक और धार्मिक विषयो का सक्षिप्त किन्तु प्रभावी वर्णन उपलब्ध होता है। अपने समय के समाज में यथोचित सुधार के लिए अनेक सूचनाएँ इनमें प्राप्त होती है। हरिभद्र ने अपने अनेक ग्रन्थो पर स्वय छोटे-बडे विवरण भी लिखे है।

[हरिभद्र-विषयक साहित्य विशाल है। अनेकान्तजयपताका की श्री कापडिया लिखित प्रस्तावना तथा धूर्ताख्यान की डॉ उपाध्ये लिखित प्रस्तावना विशेष महत्त्वपूर्ण है।]

संघदास (द्वितीय)

आवश्यक सूत्र के जिनभद्र कृत भाष्य का उल्लेख ऊपर हुआ है। इसके लगभग एक शताब्दी बाद सघदास ने निशीथ, बृहत्कल्प और व्यवहार इन सूत्र ग्रन्थो पर विस्तृत भाष्य लिखे। प्राकृत भाषा में लिखित इन भाष्यो से साधु-जीवन और तत्कालीन समाज के विषय मे महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है। दृष्टान्तो के रूप में कई मनोरजक कथाएँ भी भाष्यो में प्राप्त होती है। उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, पिण्डनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति पर भी भाष्य प्राप्त है किन्तु इनके कर्ता के विषय मे कुछ ज्ञात नही है।

[डॉ जगदीशचन्द्र जैन के प्राकृत साहित्य का इतिहास से सकलित]

शीलगुण

गुजरात के चावडा वश के सस्थापक वनराज का प्रारम्भिक जीवन साधारण अवस्था मे बीता था। बाल वय में उसका विद्याध्ययन शीलगुण सूरि के पास हुआ था। सन् ७४५ मे अणहिलपुर राजधानी की स्थापना करते समय वनराज ने आदरपूर्वक गुरु को वहाँ आमन्त्रित किया और उनके उपदेश के अनुसार पार्श्वनाथ मन्दिर का निर्माण कराया। यह मन्दिर पचासर पाश्वनाथ के नाम से अभी भी प्रसिद्ध है तथा इसमे पूजक रूप में वनराज की मूर्ति भी स्थापित है। शीलगुण से प्रारम्भ हुई जैन गुरुओ के सम्मान की परम्परा गुजरात में पाँच शताब्दियो तक चलती रही। यहाँ के राजाओ के कुल-क्रमागत शैव सम्प्रदाय से जैनो के सम्बन्ध प्राय स्वस्थ प्रतिस्पर्धा के रहे।

[प्रबन्धचिन्तामणि, प्र १, प्र ४]

अन्य आचार्य

इस शताब्दी के अन्य आचार्यों में हरिवशपुराण की गुरु-परम्परा में उल्लिखित जिनसेन, शान्तिषेण, जयसेन और अमितसेन का समावेश होता है। जयसेन के विषय मे कहा गया है कि उन्होने षट्खण्डसिद्धान्त का अध्ययन किया था तथा व्याकरणशास्त्र के वे प्रभावी विद्वान थे। अमितसेन के विषय में कहा गया है कि वे सौ वष से अधिक आयु प्राप्त कर चुके थे तथा शास्त्रदान के लिए प्रसिद्ध थे। इनके गुरुबन्धु कीर्तिषेण ही हरिवशपुराणकर्ता जिनसेन के गुरु थे।

उद्द्योतन की कुवलयमालाकथा की प्रशस्ति में उल्लिखित आचार्य यक्षदत्त के शिष्य इस शताब्दी मे हुए थे। नाग, विन्द, मम्मट, दुर्ग, अग्निशर्मा और वटेश्वर ये इनके नाम बताये हैं। इनके उपदेश से गुर्जर देश में अनेक जिनमन्दिर बनवाये गये थे। इनके शिष्य तत्त्वाचार्य ही उद्द्योतन के गुरु थे।

हरिवशपुराण में प्रशसित सुलोचना कथा के कर्ता महासेन, उत्प्रेक्षा अलकार के लिए प्रसिद्ध शान्त (शान्तिषेण), गद्य-पद्य मे विशेष योग्यता के लिए प्रसिद्ध विशेषवादी तथा वधमानपुराण के कर्ता आदित्य इसी शताब्दी के प्रतीत होते है। इन चारो के ग्रन्थ

अभी प्राप्त नही हुए है। इसी प्रकार कुवलयमाला में प्रशसित राजर्षि प्रभजन का यशोधरचरित भी अभी प्राप्त नही हुआ है।

प्रभावकचरित मे वर्णित मानदेव सूरि का वृत्तान्त भी इसी शताब्दी का प्रतीत होता है। इनकी शान्तिनाथस्तुति के प्रभाव से तक्षशिला नगर मे फैले हुए सक्रामक रोग शान्त हुए थे ऐसा इस कथा मे कहा गया है।

श्रवणबेलगोल के शिलालेखो में लिपि के प्राचीन रूप को देखकर सन् ७०० के आसपास जिनका समय निर्धारित किया गया है ऐसे कई लेख है। इनमे उल्लिखित आचार्यों मे मौनिगुरु के शिष्य गुणसेन और वृषभनन्दि, धर्मसेन के शिष्य बलदेव, पट्टिनिगुरु के शिष्य उग्रसेन, ऋषभसेन के शिष्य नागसेन आदि के नाम पाये जाते है। इनकी कुल सख्या तीस है। जैन शिलालेख सग्रह भाग १ में इनका पूरा विवरण दिया गया है। ये सब लेख समाधिमरण के स्मारक हैं।

इसी प्रकार जैन शिलालेख सग्रह भाग ४ में उल्लिखित कुछ आचार्य भी सन् ७०० के आसपास के है। इनमे से आयनन्दि आचार्य को सेन्द्रक वश के राजा इन्द्रणन्द ने भूमिदान दिया था। यह लेख मैसूर प्रदेश के गोकाक नगर से प्राप्त हुआ है। इसी प्रदेश के कुलगाण नगर से प्राप्त लेख के अनुसार गगवश के राजा श्रीवल्लभ पृथ्वीकोगणि के समय केल्लिपुसूर ग्राम के जिनमन्दिर के लिए चन्द्रसेन आचार्य को भूमिदान दिया गया था।

श्रवणबेलगोल के मल्लिषेण प्रशस्ति नामक शिलालेख में उल्लिखित श्रीवर्धदेव और महेश्वर भी इसी शताब्दी के प्रतीत होते है। श्रीवधदेव के विषय में कहा गया है कि महाकवि दण्डी ने इनकी प्रशसा की थी। महेश्वर के विषय मे बताया है कि इन्होने सत्तर वादो मे विजय पाया था तथा ब्रह्मराक्षस ने इनकी पूजा की थी।

श्रीवीर निर्वाण सवत् की चौदहवीं शताब्दी

[ईसवी सन् ७७३ से ८७३]

विमलचन्द्र

मैसूर प्रदेश के नागमगल तालुके में देवरहल्लि ग्राम से प्राप्त ताम्रशासन से इनका परिचय मिलता है। ये नन्दिसघ के पुलिकल गच्छ के आचार्य थे। इनकी गुरुपरम्परा चन्द्रनन्दि—कुमारनन्दि—कीर्तिनन्दि—विमलचन्द्र इस प्रकार बतलायी है। गगवश के महाराज श्रीपुरुष के सामन्त बाणवशीय पृथिवीनिर्गुन्दराज की पत्नी कुन्दाच्चि ने श्रीपुर के समीप लोकतिलक नामक जिनमन्दिर इन आचार्य के उपदेश से बनवाया था तथा उसके लिए सन् ७७६ मे एक ग्रामदान दिया था। श्रवणबेलगोल के मल्लिषेण प्रशस्ति शिलालेख में प्रसिद्ध वादी के रूप में विमलचन्द्र की प्रशसा की गयी है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख १२१।]

अपराजित

इनका दूसरा नाम श्रीविजय था। शिवार्य की आराधना पर इनकी श्रीविजयोदया नामक विस्तृत सस्कृत टीका प्रकाशित हुई है। ये चन्द्रनन्दि के शिष्य बलदेव के शिष्य थे। नागनन्दि आचाय से इन्होने आगमो का ज्ञान प्राप्त किया और श्रीनन्दि गणि के आग्रह से इन्होने आराधना टीका की रचना की थी। इनकी दशवैकालिक सूत्र पर भी टीका थी किन्तु यह अभी प्राप्त नही हुई है।

[प प्रेमीजी ने जैन साहित्य और इतिहास में इनका विस्तृत परिचय दिया है।]

उद्द्योतन

ये तत्त्वाचाय के शिष्य थे। इन्होने वीरभद्र से सिद्धान्त और हरिभद्र से तर्क का अध्ययन किया था। सन् ७७९ में जाबालिपुर (जालोर, राजस्थान) में रणहस्ती वत्सराज के राज्य में इन्होने कुवलयमाला नामक गद्य-पद्य मिश्रित कथा की रचना की। विभिन्न प्राकृतो, देशी भाषाओ तथा अलकारो के प्रयोग से यह सुशोभित है। प्रारम्भ में आचार्य ने कई पूर्ववर्ती कवियो की प्रशसा में सुन्दर गाथाएँ लिखी हैं जो ऐतिहासिक दृष्टि से बडे महत्त्व की हैं। प्रशस्ति में भी कवि ने अपनी गुरुपरम्परा का विस्तृत वर्णन किया है। क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह के वशीभूत पाँच पुरुषो की कथाओ को आधार बनाकर प्रत्येक के पाच-पाँच जन्मो की कथाएँ कुशलता से एक सूत्र में पिरोकर

यह महाकथा निष्पन्न हुई है। साहित्यिक सौन्दय के साथ ही राजनीति, ज्योतिष, मन्त्र, धातुवाद, शकुन, चित्र, भूगोल आदि विविध विषयो के विस्तृत समावेश के कारण यह कथा प्राचीन भारत के अध्ययन के लिए अमूल्य निधि बन गयी है। ह्री देवी की कृपा से प्रहर-भर में सौ श्लोको की रचना की शक्ति प्राप्त होने का कवि ने उल्लेख किया है। पूरी कथा लगभग तेरह हजार श्लोको जितने विस्तार की है। इसका सस्कृत में सक्षिप्त रूपान्तर रत्नप्रभ ने छह सौ वर्ष बाद किया था।

[मूल कथा और रूपान्तर दोनो प्रकाशित हो चुके है जिनका सम्पादन डॉ उपाध्ये ने किया है।]

जिनसेन

ये पुन्नाट सघ के आचार्य कीर्तिषेण के शिष्य थे। इनका हरिवशपुराण सन् ७८३ मे वर्धमानपुर (वढवाण, गुजरात) में *नन्नराज द्वारा निर्मित जिनमन्दिर मे पूण हुआ था। इसमें ६६ सग और लगभग दस हजार श्लोक है। तीथकर नेमिनाथ, श्रीकृष्ण-बलदेव तथा कौरव-पाण्डवो की कथा इसका मुख्य विषय है। प्रसगोपात्त तीथकर ऋषभदेव, मुनिसुव्रत व महावीर, चक्रवर्ती हरिषेण, मुनि विष्णुकुमार आदि की कथाएँ भी आयी है। वसुदेवहिण्डी के समान वसुदेव के प्रवास और विवाहो की कथाएँ भी है। प्रारम्भ में पुरातन आचार्यों की प्रशसा तथा अन्त में विस्तृत गुरुपरम्परा के वणन के कारण ऐतिहासिक दृष्टि से यह ग्रन्थ बहुत महत्त्व का है। प्रशस्ति मे ऊजयन्त (गिरनार) की देवी सिहवाहिनी की कृपा का आचाय ने उल्लेख किया है। यह ग्रन्थ दो बार प्रकाशित हो चुका है।

[प प्रेमीजी के जैन साहित्य और इतिहास में जिनसेन पर एक निबन्ध है।]

प्रभाचन्द्र (द्वितीय)

मैसूर प्रदेश के नेलमगल तालुके में स्थित मण्णे ग्राम से प्राप्त दो ताम्रशासनो से इस प्रदेश के एक प्रभावशाली आचार्य प्रभाचन्द्र का परिचय मिलता है। ये कोण्डकुन्दा-न्वय के तोरणाचार्य के शिष्य पुष्पनन्दि के शिष्य थे। गग वश के राजकुमार मारसिह के महासामन्त श्रीविजय ने राजधानी मान्यपुर (वर्तमान मण्णे) में प्रभाचन्द्र के लिए एक भव्य जिनमन्दिर बनवाया था तथा सन् ७९७ में उन्हें एक ग्राम दान दिया था। पाँच वष बाद राष्ट्रकूट सम्राट् गोविन्दराज (तृतीय) के ज्येष्ठ बन्धु स्तम्भराज इस प्रदेश पर शासन कर रहे थे। उन्होने अपने पुत्र बप्पय्य के निवेदन पर प्रभाचन्द्र को उपर्युक्त श्रीविजय-जिनमन्दिर के लिए एक ग्राम दान दिया था।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख १२२-१२३]

श्रीवीर निर्वाण सवत् की चौदहवीं शताब्दी

वधमान

कोण्डकुन्दान्वय के एक अन्य आचाय वर्धमान का परिचय मैसूर प्रदेश के बदनगुप्पे ग्राम से प्राप्त ताम्रशासन से मिलता है। ये कुमारनन्दि के शिष्य एलवाचार्य के शिष्य थे। स्तम्भराज ने अपने पुत्र शकरगण की प्राथना पर इन्हे सन् ८०८ में तलवन नगर की श्रीविजयवसति के लिए एक ग्राम दान दिया था। ताम्रशासन मे वधमान को सब प्राणियो के लिए हितकर, सिद्धान्तो के अध्ययन मे तत्पर तथा सवज्ञ के समान गुणो से उन्नत कहा गया है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग ४, लेख ५४]

अर्ककीर्ति

ये यापनीय नन्दिसघ के पुन्नागवृक्षमूलगण के आचार्य थे। कीर्त्याचार्य की परम्परा में कूविलाचाय के शिष्य विजयकीर्ति हुए। अर्ककीर्ति इन्ही के शिष्य थे। राष्ट्रकूट सम्राट् गोविन्दराज (तृतीय) के सामन्त विमलादित्य शनिग्रह की बाधा से पीडित थे। इससे मुक्ति पाने के लिए उन्होंने सम्राट् से निवेदन कर जालमगल नामक ग्राम सन् ८१२ मे अर्ककीर्ति को अर्पित किया था। यह विवरण मैसूर प्रदेश के कडब ग्राम में प्राप्त ताम्रशासन से प्राप्त हुआ है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख १२४]

अपराजित

ये सेनसघ के आचार्य थे। इन्हे राष्ट्रकूट वश के राजा ककराज ने नवसारी (गुजरात) के जिनमन्दिर के लिए सन् ८२१ में कुछ भूमि दान दी थी। इसका वर्णन करनेवाला ताम्रशासन सूरत से प्राप्त हुआ है। अपराजित के प्रगुरु का नाम मल्लवादी और गुरु का नाम सुमति कहा गया है। इतिहासज्ञो का अनुमान है कि इन्ही मल्लवादी ने प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थ न्यायबिन्दुटीका (धर्मोत्तर कृत) पर टिप्पण लिखे थे। श्रवणबेलगोल के मल्लिषेणप्रशस्ति शिलालेख में सुमतिदेव के सुमतिसप्तक नामक ग्रन्थ का उल्लेख है। यह अभी प्राप्त नही हुआ है। सिद्धसेन कृत सन्मति प्रकरण पर इनकी टीका की चर्चा वादिराज के पास्वचरित मे की गयी है। यह भी अप्राप्त है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग ४, लेख ५५)

बप्पभट्टि

ये सिद्धसेन के शिष्य थे। बाल वय में ही दीक्षा लेकर इन्होने शास्त्राध्ययन किया। अध्ययनकाल मे इनका राजकुमार आम (जो इतिहास मे प्रतिहार कुल के राजा नागभट के रूप में प्रसिद्ध है) से दृढ स्नेह हुआ जो जीवन-भर कायम रहा। आम ने बप्पभट्टि के उपदेश से गोपगिरि (वतमान ग्वालियर, मध्यप्रदेश) दुर्ग में भव्य जिनमन्दिर

बनवाया था। इनके साथ शत्रुजय, गिरनार आदि तीर्थों का दर्शन भी आम ने किया था। बप्पभट्टि की काव्यप्रतिभा और दृढ व्रतनिष्ठा की कई मनोरजक कथाएँ मिलती है। बगाल के राजा धमपाल ने भी इनका सम्मान किया था। गोविन्दसूरि और नन्नसूरि इनके गुरुबन्धु थे। बप्पभट्टि रचित शान्तो वेष इत्यादि जिनस्तुति प्रसिद्ध हैं। सन् ८३८ में इनका स्वगवास हुआ था।

[प्रभावकचरित, प्र ११, प्रबन्धकोश, प्र ९]

वीरसेन

प्रथम सिद्धान्त-ग्रन्थ षटखण्डागम की एकमात्र उपलब्ध व्याख्या धवला की रचना वीरसेन ने की थी। ये चन्द्रसेन के शिष्य आयनन्दि के शिष्य थे। इनका विद्याभ्यास चित्रकूट (चित्तौड) में एलाचार्य के पास हुआ था तथा धवला की रचना वाटग्राम (यह विदर्भ में था, इसकी निश्चित पहचान अभी नही हो सकी है) में हुई थी। धवला का विस्तार ७२ हजार श्लोको जितना है तथा यह अधिकतर प्राकृत में है—कही-कही सस्कृत अश है। यह ग्रन्थ व्याख्या कैसी होनी चाहिए इसका आदर्श उदाहरण है। मूल ग्रन्थ की अनेक पोथियो के पाठो की तुलना, विषय के पूर्वापर सम्बन्ध का स्पष्टीकरण, प्रत्येक वाक्य के अथ की साधक-बाधक चर्चा, पुराने आचार्यों के ग्रन्थो से समथन, अन्य प्रामाणिक ग्रन्थो से विरोध की आशकाओ का परिहार आदि से यह ग्रन्थ सर्वांग परिपूण बन गया है। सिद्धान्त, छन्द, ज्योतिष, व्याकरण, तर्क आदि विषयो में वीरसेन की निपुणता इस एक ही व्याख्या से स्पष्ट है। उनके शिष्य जिनसेन के कथनानुसार उनका सब शास्त्रो का ज्ञान देखकर सवज्ञ के अस्तित्व के विषय में लोगो की शकाएँ नष्ट हो गयी थी। दूसरे सिद्धान्त ग्रन्थ कषायप्राभृत पर जयधवला नामक व्याख्या का प्रारम्भ भी वीरसेन ने किया था किन्तु लगभग एक तिहाई रचना होने के बाद उनका स्वगवास हो गया। तब जिनसेन ने वह व्याख्या पूण की। इसकी प्रशस्ति में श्रीपाल द्वारा सम्पादन का भी उल्लेख है।

[डॉ हीरालाल जैन ने षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड की प्रस्तावना में तथा प प्रेमी ने जैन साहित्य और इतिहास के एक निबन्ध मे वीरसेन के कृतित्व के विषय में विस्तृत विवेचन किया है। प परमानन्द ने जैनग्रन्थप्रशस्ति सग्रह, भा २ में नयनन्दि के सकलविधिविधान काव्य के उद्धरण दिये हैं जिनसे ज्ञात होता है कि धवला—जयधवला का रचनास्थान वाटग्राम विदभ में था तथा यही महाकवि धनजय और स्वयम्भूदेव भी हुए थे।]

जिनसेन (द्वितीय)

जयधवला की रचना में इनके योगदान की चर्चा ऊपर आ चुकी है। यह काय सन् ८३७ में पूण हुआ था। इसके कई वष पूव ही पार्श्वाभ्युदय काव्य की रचना से

जिनसेन प्रसिद्ध हो चुके थे। कालिदास के मेघदूत की एक-एक दो-दो पक्तियों मे अपनी दो या तीन पक्तियाँ मिलाकर जिनसेन ने मूल प्रेमकाव्य को वैराग्य-काव्य में परिवर्तित कर दिया है। उनके ज्येष्ठ गुरुबन्धु विनयसेन के आग्रह से यह रचना हुई थी।

महापुराण उनकी महान् कृति है। समग्र जैन पुराणकथाओ का यह विशाल सग्रह कई दृष्टियो से महत्त्वपूण है। वज्रजघ-श्रीमती उपाख्यान में साहित्यिक सौन्दर्य उत्कृष्ट है तो महाबल-उपाख्यान में तकचर्चा पठनीय है। प्रारम्भ मे लोकस्वरूप का विस्तृत वर्णन है। भरत के राज्य के वणन में आदर्श राजनीति का उपदेश है। जैन समाज में विवाहादि विधियो के लिए मन्त्रो का विधान सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ में मिलता है। इसके श्रावकधर्म सम्बन्धी विवरण से स्पष्ट होता है कि उस समय कई ब्राह्मणो ने जैनधम को स्वीकार किया था और जैन समाज में उनकी एकात्मता के लिए जिनसेन ने काफी विचार किया था। प्रथम तीर्थंकर और उनके समय के महापुरुषो का वणन जिनसेन ने लगभग दस हजार श्लोको में पूण किया। दुर्भाग्य से तभी उनका देहान्त हुआ। तब शेष कथाओ का सक्षिप्त वणन उनके शिष्य गुणभद्र ने पूर्ण किया। राष्ट्रकूट सम्राट अमोघवष की जिनसेन पर बडी श्रद्धा थी ऐसा उत्तरपुराण की प्रशस्ति से ज्ञात होता है।

[प प्रेमी ने जैन साहित्य और इतिहास में जिनसेन पर विस्तृत निबन्ध लिखा है।]

गुणभद्र

ये जिनसेन के शिष्य थे। दशरथ गुरु का भी इन्होने सादर स्मरण किया है। गुरु के देहावसान से अपूण रहे महापुराण को इन्होने लगभग दस हजार श्लोको की रचना कर पूर्ण किया। इनका यह अश उत्तरपुराण कहलाता है। सभी जैन पुराण कथाओ का यह प्रथम विस्तृत सकलन है। गुणभद्र ने आत्मानुशासन नामक सुन्दर सुभाषित ग्रन्थ की भी रचना की है। आत्मचिन्तन के लिए उपयोगी २७२ श्लोक इसमें हैं। जिनदत्तचरित नामक एक छोटा-सा काव्यग्रन्थ भी इनके नाम से प्रसिद्ध है। उत्तरपुराण की प्रशस्ति में इनके प्रधान शिष्य लोकसेन की सविनय सेवा का उल्लेख है। देवसेन ने दर्शनसार में गुणभद्र की प्रशसा में एक गाथा दी है। इसके अनुसार वे पक्षोपवासी महातपस्वी थे। उत्तरपुराणप्रशस्ति में सन् ८९८ में राजा लोकादित्य की राजधानी बकापुर में इस पुराण की पूजा का उल्लेख किया गया है।

[प प्रेमीजी के जैन साहित्य और इतिहास में गुणभद्र के विषय में विस्तृत चर्चा मिलती है, आत्मानुशासन की प बालचन्द्र शास्त्री लिखित प्रस्तावना भी महत्त्व पूर्ण है।]

कुमारसेन

देवसेन के दर्शनसार में वर्णन है कि जिनसेन के गुरुबन्धु विनयसेन के शिष्य कुमारसेन थे। इन्होने नन्दियड ग्राम (वर्तमान नान्देड, महाराष्ट्र) में सन् ८३१ में काष्ठासघ की स्थापना की थी। देवसेन के वर्णनानुसार कुमारसेन ने सन्यास (सम्भवत सल्लेखना) ग्रहण कर उसका भग किया और फिर प्रायश्चित्त नही लिया। जो भी हो, इसमे सन्देह नही कि इनका काष्ठासघ आगे चलकर खूब विस्तृत हुआ और इसमें अनेक यशस्वी आचार्य हुए।

शीलांक

जिनसेन और गुणभद्र के महापुराण के समान लगभग इन्ही के समय में एक प्राकृत ग्रन्थ चउपन्नमहापुरिसचरिय की रचना शीलाक आचार्य ने की। आगमो की परम्परा से प्राप्त तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव और नारायणो की कथाओ का इसमें वर्णन है। इसका आदिनाथ और महावीर सम्बन्धी अश विशेष विस्तृत है। प्राकृत में सब शलाका पुरुषों की कथाओ का यह पहला ग्रन्थ है।

[प्राकृत ग्रन्थ परिषद् द्वारा प्रकाशित सस्करण की प्रस्तावना में शीलाक का परिचय मिलता है।]

महावीर

प्राचीन धार्मिक साहित्य में, भूगोल-ग्रन्थो में और ज्योतिष ग्रन्थो में गणित का विस्तृत उपयोग होता था। किन्तु गणित को स्वतन्त्र विषय का महत्व देकर ग्रन्थ लिखने का श्रेय सर्वप्रथम आचार्य महावीर ने प्राप्त किया। इनके गणितसारसग्रह में ८ अध्यायों में लगभग १२०० श्लोक है। प्रारम्भिक श्लोको में आचार्य ने नृपतुग (सम्राट् अमोघवर्ष) की विस्तृत प्रशसा लिखी है। इस ग्रन्थ पर वल्लभ ने कन्नड में और मल्लण ने तेलुगु में टीकाएँ लिखी हैं। दक्षिण भारत में किसी समय इसका व्यापक उपयोग होता रहा है। यह दो बार प्रकाशित हो चुका है।

[डॉ लक्ष्मीचन्द्र जैन ने अपनी प्रस्तावना में महावीर के गणितशास्त्र में योगदान का विस्तृत विवेचन किया है।]

शाकटायन

इनका मूल नाम पाल्यकीर्ति था। व्याकरण में निपुणता के कारण शाकटायन यह नाम भी उन्हें मिला (शाकटायन प्राचीन समय का एक प्रसिद्ध व्याकरणकर्ता था जो पाणिनि के पूर्व हुआ था)। इनकी प्रसिद्ध रचना शब्दानुशासन है जिसपर इन्ही की अमोघवृत्ति नामक व्याख्या भी है। सस्कृत के इस व्याकरण का किसी समय जैन समाज में अच्छा प्रचार था। व्याख्या के नाम से और कुछ नियमो के उदाहरणो से मालूम

होता है कि यह ग्रन्थ सम्राट् अमोघवर्ष के राज्यकाल में लिखा गया था। स्त्रीमुक्ति-केवलिभुक्ति प्रकरण में आचार्य ने तर्कदृष्टि से स्त्रियो की मुक्ति और केवलज्ञानियो के आहारग्रहण का समर्थन किया है।

[प प्रेमी के जैन साहित्य और इतिहास मे शाकटायन का विस्तृत परिचय देनेवाला निबन्ध है।]

उग्रादित्य

ये श्रीनन्दि के शिष्य थे। आन्ध्र प्रदेश में रामगिरि (वर्तमान रामकोण्ड, विजयनगरम् के पास) पर्वत पर निवास करते हुए इन्होने कल्याणकारक नामक वैद्यकग्रन्थ की रचना की। आन्ध्र के राजा विष्णुवर्धन ने श्रीनन्दि गुरु का सम्मान किया था। तथा उग्रादित्य ने राजा अमोघवर्ष की सभा में कल्याणकारक के अन्तिम अध्याय का व्याख्यान किया था। लगभग पचीस सौ श्लोको के इस ग्रन्थ में आयुर्वेद के सभी अगो पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है।

[प वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री द्वारा सम्पादित कल्याणकारक की प्रस्तावना में ग्रन्थ और कर्ता के विषय मे चर्चा की गयी है।]

जयसिंह

इनका धर्मोपदेशमालाविवरण नामक विस्तृत ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। इसकी रचना सन् ८५८ मे राजस्थान के नागौर नगर में प्रतीहारवंशीय भोज राजा के राज्य में पूर्ण हुई थी। इसकी प्रशस्ति के अनुसार ग्रन्थकर्ता की गुरुपरम्परा इस प्रकार थी—वटेश्वर–तत्त्वाचार्य–यक्षमदहर–कृष्णमुनि–जयसिंह। यक्षमदहर ने खट्टउय नगर में और कृष्णमुनि ने नागौर आदि अनेक स्थानो में जिनमन्दिर बनवाये थे ऐसा प्रशस्ति में कहा गया है। ग्रन्थ में धर्मोपदेश की प्राकृत गाथाओ के विवरण के रूप में प्राकृत व संस्कृत में लगभग सौ कथाएँ दी गयी है। जयसिंह ने सन् ८५६ में धर्मदासकृत उपदेशमाला का विवरण भी लिखा था जो अभी अप्राप्त हैं। इनके शिष्य जयकीर्ति का शीलोपदेशमाला नामक ग्रन्थ प्राप्त है।

[धर्मोपदेश मालाविवरण के सम्पादक प लालचन्द गान्धी नें प्रस्तावना में जयसिंह का परिचय दिया है।]

नागनन्दि

मैसूर प्रदेश के धारवाड जिले में स्थित राणिबेण्णूर ग्राम से प्राप्त लेख में इनका परिचय मिलता है। ये सिंहवूर गण के आचार्य थे। सम्राट् अमोघवर्ष ने नागुलबसदि नामक जिनमन्दिर के लिए सन् ८६० में इन्हे कुछ भूमि प्रदान की थी।

महाराष्ट्र के औरगाबाद जिले में स्थित एलोरा के प्रसिद्ध गुहामन्दिरो मे जगन्नाथ-सभा नामक जैन गुहा भी है। इसमें प्राप्त एक लेख मे भी नागनन्दि का नामोल्लेख है। इनके साथ दीपनन्दि तथा कुछ श्रावको के नाम भी दिये है। सम्भवत इनके द्वारा उक्त गुहा मे उत्कीण जिनमूर्तियो की प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई थी।

तमिलनाडु मे अर्काट जिले में स्थित पचपाण्डवमलै पहाडी पर एक लेख में भी नागनन्दि का नाम मिलता है। वहाँ इनके शिष्य नारण द्वारा पोन्नियक्कियार् (स्वर्ण-यक्षी) मूर्ति की प्रतिष्ठापना हुई थी।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग ४, लेख ५६, भाग ५, लेख १२ तथा भाग २, लेख ११५]

वधमानचरित और शान्तिनाथपुराण नामक सस्कृत महाकाव्यो के रचयिता असग नागनन्दि के शिष्य थे। इनमें से प्रथम काव्य सन् ८५३ में पूर्ण हुआ था। कवि ने भावकीर्ति और आयनन्दि का भी गुरु-रूप में उल्लेख किया है। इस काव्य का रचना-स्थान मौद्‌गल्य पवत बताया है। बाद में चोड देश की वरला नगरी में इन्होने आठ ग्रन्थो की रचना की थी ऐसा प्रशस्ति में उल्लेख है। इन स्थानो की पहचान अभी नही हो सकी है।

[जैन ग्रन्थ प्रशस्ति सग्रह, भाग १, प्रशस्ति ७९-८०]

देवेन्द्र

मैसूर प्रदेश के धारवाड जिले में स्थित कोन्नूर ग्राम से प्राप्त शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। ये देशी गण के त्रैकालयोगी के शिष्य थे। इन्हें लेख में सैद्धान्तिकाग्रणी कहा गया है। कोलनूर में सम्राट् अमोघवष के सामन्त बकेयराज ने एक जिन-मन्दिर बनवाया था तथा उसके लिए सम्राट् से निवेदन कर एक ग्राम सन् ८६० में देवेन्द्र को अर्पित किया था।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख १२७]

कमलदेव

उत्तर प्रदेश के झाँसी जिले में बेतवा नदी के तीर पर स्थित देवगढ एक प्राचीन तीथक्षेत्र है। यहाँ प्राप्त शिलालेखो मे सबसे पुराना लेख एक स्तम्भ पर है। सन् ८६२ में इस स्तम्भ की स्थापना आचाय कमलदेव के शिष्य श्रीदेव ने की थी। उस समय वहाँ प्रतीहार वश के सम्राट् भोजदेव का शासन चल रहा था। कमलदेव के मागदशन में प्रवर्तित देवगढ की शिल्पपरम्परा आगे चलकर काफी समृद्ध हुई। पचास से अधिक मन्दिर एव सैकडो मूर्तियो और स्तम्भो के अवशेष यहाँ प्राप्त होते है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख १२८]

शान्तिवीर

तमिलनाडु मे मदुरा के समीप ऐवरमलै पहाडी पर स्थित जिनमूर्तियो के पास प्राप्त शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। ये गुणवीर के शिष्य थे। पाण्ड्य वश के राजा वरगुण के समय सन ८७० में इन्होने पाश्वनाथ और यक्षी मूर्तियो का जीर्णोद्धार करवाया था। इस कार्य के लिए प्राप्त सुवणमुद्राओ के दान का लेख मे वणन है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग ४, लेख ५८]

श्रीवीर निर्वाण सवत् की पन्द्रहवीं शताब्दी

[ईसवी सन् ८७३ से ९७३]

विद्यानन्द व माणिक्यनन्दि

मैसूर प्रदेश के धारवाड जिले में स्थित अण्णिगेरि तथा गावरवाड इन दो ग्रामो में एक बृहत् शिलालेख प्राप्त हुआ है। इसमें गग वश के राजा बूतुग तथा उनकी रानी रेवकनिमडि द्वारा निर्मित जिनमन्दिर का वणन है। इस मन्दिर के लिए बलगार गण के आचाय गुणकीर्ति को चार गाँव दान दिये गये थे। लेख में गुणकीर्ति के गुरु के रूप में महावादी विद्यानन्द तथा तार्किकाक माणिक्यनन्दि का प्रशसात्मक उल्लेख है। इन दोनो के गुरु वधमान थे जो तपस्या और उत्तम ज्ञान के कारण प्रसिद्ध हुए थे तथा गग वश के राजाओ के गुरु थे।[1]

विद्यानन्द जैन तर्कशास्त्र के प्रौढ लेखको में प्रमुख हैं। इनके नौ ग्रन्थ ज्ञात है। तत्त्वाथसूत्र की व्याख्या श्लोकवार्तिक का विस्तार १८००० श्लोको जितना है। इसका पूर्वार्ध—जो प्रथम सूत्र की भूमिका के रूप मे है—तकदृष्टि से जीव और मोक्ष का विशद विवेचन प्रस्तुत करता है। अद्वैतवाद के विभिन्न रूपो का विस्तृत निरसन इसमें उपलब्ध होता है। अष्टसहस्री में विद्यानन्द ने समन्तभद्र की आप्तमीमासा का विस्तृत विवरण और समथन प्रस्तुत किया है। नाम के अनुसार इसका विस्तार आठ हजार श्लोको जितना है। इसकी रचना में कुमारसेन के सहयोग का आचार्य ने प्रशस्ति में उल्लेख किया है। समन्तभद्र की दूसरी कृति युक्त्यनुशासन पर भी विद्यानन्द की व्याख्या प्राप्त है।

इन तीन व्याख्याग्रन्थो के अतिरिक्त छह स्वतन्त्र ग्रन्थो की भी रचना विद्यानन्द ने की। आप्तपरीक्षा मे मोक्षमार्ग के उपदेशक सवज्ञ के स्वरूप का विवेचन है। जगत्-कर्ता ईश्वर की मान्यता का खण्डन इसमें विस्तार से प्राप्त होता है। प्रमाणपरीक्षा में प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान के विभिन्न प्रकारो का विवेचन है। पत्रपरीक्षा में वादविवादो में प्रयुक्त होनेवाले पत्र (=कूट श्लोक) का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। सत्यशासन-परीक्षा में दस जैनेतर मतो के निरसन के साथ अनेकान्तवाद का समर्थन प्राप्त होता है। श्रीपुर के पाश्वनाथ की स्तुति में भी इन विभिन्न मतो का सक्षिप्त खण्डन किया गया

---

१ जैन शिलालेख सग्रह भाग ४, लेख १५४—इस शिलालेख की उपलब्धि से विद्यानन्द की तिथि के विषय में पुरानी मान्यता बदली है।

है। तर्कशास्त्र सम्बन्धी विविध विषयों का विचार करते हुए विद्यानन्दमहोदय नामक विस्तृत ग्रन्थ विद्यानन्द ने लिखा था। यह अभी प्राप्त नही हुआ है।

आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा तथा युक्त्यनुशासनटीका के अन्त मे विद्यानन्द ने सत्यवाक्य शब्द का प्रयोग किया है। इससे तर्क किया गया है कि गग वश के राजा सत्यवाक्य राजमल्ल के शासनकाल में—उनके सहयोग से—ये ग्रन्थ लिखे गये थे। विद्यानन्द के गुरु वर्धमान गगराजगुरु कहे गये हैं यह ऊपर बताया जा चुका है।

विद्यानन्द के गुरुबन्धु माणिक्यनन्दि भी तर्कशास्त्र के प्रमुख लेखको में से एक है। इनका परीक्षामुख नामक सूत्रग्रन्थ प्रमाणो के मूलभूत ज्ञान के लिए बहुत उपयोगी है। अकलक के गम्भीर और दुर्गम ग्रन्थो के विचार सरल सूत्र शैली में निबद्ध कर यह ग्रन्थ लिखा गया है। इसपर अनेक छोटी-बडी व्याख्याएँ प्राप्त होती है। आधुनिक समय में जैन तकशास्त्र की पाठ्यपुस्तक के रूप में यह समादृत हुआ है।

[आप्तपरीक्षा की प्रस्तावना में प दरबारीलाल ने विद्यान द के विषय में विस्तृत विवरण दिया है।]

इन्द्रकीर्ति

मैसूर प्रदेश के धारवाड जिले में स्थित सौन्दत्ती नगर के जिनमन्दिर से प्राप्त शिलालेख में इनका परिचय मिलता है। ये कारेय गण के आचाय मूलभट्टारक के शिष्य गुणकीर्ति के शिष्य थे। इनके उपदेश से राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्णराज (द्वितीय) के सामन्त रट्टवशीय पृथ्वीराम ने सौन्दत्ती का यह जिनमन्दिर बनवाया तथा उसके लिए गुरु को सन् ८७५ में भूमिदान दिया था।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख १३०]

सर्वनन्दि

मैसूर प्रदेश के कूडगु जिले के विलियूर ग्राम से प्राप्त शिलालेख में इनका परिचय मिलता है। ये शिवनन्दि सिद्धान्त भट्टारक के शिष्य थे। पेण्णेगडग नगर के सत्यवाक्य जिनालय के लिए राजा सत्यवाक्य कोगुणिवर्मा (राजमल्ल द्वितीय) ने सन् ८८७ में इन्हें विलियूर आदि १२ ग्राम अर्पित किये थे। जिनमन्दिर के नाम से स्पष्ट होता है कि उसका निर्माण राजा सत्यवाक्य के द्वारा ही हुआ था।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख १३१]

इस समय से कुछ ही वष पूर्व—सन् ८८१ में दिवगत हुए एक अन्य आचार्य का नाम भी सवनन्दि था। ये एकचट्टुगद भट्टारक के शिष्य थे। इनका समाधिलेख मैसूर प्रदेश के तीथस्थल कोप्पल की एक पहाडी चट्टान पर उत्कीर्ण है। लेख में इनके निरन्तर विद्यादान की प्रशसा की गयी है।

[जैनिज्म इन साउथ इण्डिया, पृ ३४०]

कनकसेन

तमिलनाडु प्रदेश के सेलम जिले में स्थित धर्मपुरी ग्राम से प्राप्त शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। ये सेनगण के आचाय विनयसेन के शिष्य थे। इनके उपदेश से निधियण्ण और चण्डियण्ण नामक श्रावको ने धमपुरी में जिनमन्दिर बनवाया था। इस मन्दिर की देखभाल के लिए वहाँ के नोलम्ब वशीय राजा महेन्द्र ने सन् ८९३ में मूलपल्ली नामक ग्राम कनकसेन को अर्पित किया था। कुछ वष बाद महेन्द्र के पुत्र अय्यपदेव ने भी इस मन्दिर के लिए एक ग्राम दान दिया था।

[जैनिज्म इन साउथ इण्डिया, पृ १६२]

मौनि भट्टारक व माधवचन्द्र

इनका परिचय मैसूर प्रदेश के शिवमोग्गा जिले में स्थित तीर्थस्थान हुम्मच में प्राप्त दो शिलालेखो से मिलता है। पहला लेख सन् ८९७ का है। हुम्मच के सान्तर वशीय राजा तोलापुरुष विक्रमादित्य ने मौनि सिद्धान्त भट्टारक के लिए एक जिनमन्दिर बनवाया तथा उसके लिए उन्हे भूमिदान दिया ऐसा इस लेख में वर्णन है।

दूसरे लेख में वणन है कि तोलापुरुष की पत्नी पालियक्क द्वारा अपनी माता की स्मृति में एक जिनमन्दिर बनवाया गया। माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव के शिष्य नागचन्द्र के पुत्र मादेय द्वारा इसकी पुन प्रतिष्ठा की गयी थी। इस लेख की तिथि सन् ९५० के आसपास अनुमानित है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख १३२ तथा १४५]

कुमारसेन (द्वितीय)

मैसूर प्रदेश के क्यातनहल्लि ग्राम से प्राप्त एक लेख के अनुसार राजा सत्यवाक्य ने वहाँ के जिनमन्दिर के लिए आचाय कुमारसेन को कुछ दान दिया था। इसी प्रदेश के कूलगेरी ग्राम के सन् ९०९ के लेख के अनुसार राजा नीतिमाग ने कनकगिरि तीर्थ के जिनमन्दिर के लिए कनकसेन को कुछ करो की आय समर्पित की थी। कनकसेन कुमारसेन के शिष्य वीरसेन के शिष्य थे ऐसा मैसूर प्रदेश के ही मुलगुन्द नगर से प्राप्त लेख से ज्ञात होता है। सन् ९०३ के इस लेख के अनुसार अरसार्य नामक श्रावक ने अपने पिता द्वारा निर्मित जिनमन्दिर के लिए कनकसेन को कुछ भूमि प्रदान की थी।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख १३७-१३९]

सिद्धर्षि

ये दुर्गस्वामी के शिष्य थे। सन् ९०६ में इन्होने उपमितिभवप्रपचा नामक विस्तृत कथा की रचना की। ससारचक्र से जीव की मुक्ति का तात्त्विक वणन इसमें उपन्यास की तरह साहित्यिक रूप में प्रस्तुत किया है। भारतीय साहित्य में रूपक कथा

का यह पहला विस्तृत ग्रन्थ है। सिद्धसेन के न्यायावतार की व्याख्या, उपदेशमाला विवरण तथा चन्द्रकेवलीचरित ये सिद्धर्षि के अन्य ग्रन्थ हैं। हरिभद्र विरचित ललित-विस्तरा नामक चैत्यवन्दनवृत्ति के अध्ययन से जैन मार्ग में दृढ श्रद्धा हुई ऐसा सिद्धर्षि ने कहा है।

वर्धमान (द्वितीय)

ये द्राविड सघ के आचाय लोकभद्र के शिष्य थे। महाराष्ट्र में नासिक के समीप चन्दनपुरी में अमोघवसति नामक जिनमन्दिर के लिए राष्ट्रकूट सम्राट् इन्द्रराज (तृतीय) ने सन् ९१५ में इन्हें दो गाँव प्रदान किये थे। समीपवर्ती वडनेर ग्राम की उरिअम्म-वसति के लिए भी इन्हे छह गाँव प्रदान किये गये थे। द्राविड सघ के आचार्यों का प्रभावक्षेत्र मुख्यत तमिलनाडु और मैसूर प्रदेश में पाया गया है। महाराष्ट्र में इस सघ का यह एक ही उल्लेख प्राप्त हुआ है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग ५, लेख १४-१५]

वासुदेव-शान्तिभद्र

राजस्थान में उदयपुर के समीप बिजापुर से प्राप्त एक विस्तृत शिलालेख में इस प्रदेश के ईसवी सन् की दसवी शताब्दी के कई आचार्यों का परिचय मिलता है। हस्ति-कुण्डी नगर के राष्ट्रकूट वश के राजा विदग्धराज ने आचाय वासुदेव के उपदेश से विशाल जिनमन्दिर बनवाया था तथा अपनी सुवर्णतुला कराकर वह धन उन्हें अर्पित किया था। इस मन्दिर के लिए विदग्धराज ने सन् ९१६ में कई करो की आय बलभद्र-गुरु को अर्पित की थी। विदग्धराज के पुत्र मम्मटराज ने सन् ९३९ में उपर्युक्त दान को अपनी सहमति प्रदान की थी। इस दान के वर्णन के अन्त मे केशवसूरि की परम्परा के लिए इसका उपयोग होता रहे ऐसी शुभकामना प्रकट की है। पुन हस्तिकुण्डी के व्यापारी वर्ग ने सन् ९९७ में उपर्युक्त जिनमन्दिर का जीर्णोद्धार करवाया तथा आचाय वासुदेव के उत्तराधिकारी शान्तिभद्र द्वारा प्रतिष्ठा करवायी। इस अवसर पर सूर्याचाय ने ४० श्लोको की सुन्दर प्रशस्ति की रचना की जो इस शिलालेख मे खुदी है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग ४, लेख ८१]

पद्मनन्दि

मैसूर प्रदेश के बेल्लारी जिले में स्थित हलहरवि ग्राम से प्राप्त शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। सन् ९३२ के इस लेख के अनुसार राष्ट्रकूट राजा कृष्णराज की रानी चन्दियव्वे ने नन्दवर ग्राम में एक जिनमन्दिर बनवाया था तथा उसकी देखभाल के लिए पद्मनन्दि को कुछ करो की आय प्रदान की थी।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग ४, लेख ७९]

देवसेन

ये विमलसेन के शिष्य थे। इन्होने धारा नगर में सवत् ९९० में दर्शनसार नामक ग्रन्थ लिखा। जैनधर्म के विभिन्न सम्प्रदायो और कुछ जैनेतर सम्प्रदायो की स्थापना के विषय में परम्परागत कथाएँ इसमें सक्षेप से दी गयी है। नयचक्र नामक प्राकृत गाथाबद्ध ग्रन्थ में इन्होने निश्चय और व्यवहार नयो के विभिन्न उपभेदो का वर्णन किया है। इसी विषय को सस्कृत में आलापपद्धति नामक ग्रन्थ में दिया गया है। यह भी देवसेन की ही रचना है। तत्त्वसार और आराधनासार ये इनके प्राकृत ग्रन्थ आत्मचिन्तन के लिए उपयोगी है। इनका एक और ग्रन्थ भावसग्रह भी प्राकृत में है। जीव के विभिन्न भावो का इसमें विस्तार से वणन है। देवसेन के नाम से एक अपभ्रश ग्रन्थ सुलोचना-चरित भी मिला है जो अभी अप्रकाशित है, शेष सब ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके है। इनके एक शिष्य माइल्लधवल ने द्रव्यस्वभाव प्रकाश नाम से नयचक्र का विस्तृत सस्करण लिखा है। यह भी छप चुका है। अपभ्रश में देवसेन का एक ग्रन्थ सावयधम्म दोहा भी प्रकाशित हुआ है। इसमें श्रावको के धर्माचरण का वणन है।

[प प्रेमीजी के जैन साहित्य और इतिहास में देवसेन पर विस्तृत निबन्ध है।]

हरिषेण

पुन्नाट सघ के आचार्य हरिषेण ने सन ९३२ में कथाकोश नामक बृहद् ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ वधमानपुर (वढवाण) में लिखा गया था जहाँ लगभग १५० वर्ष पूर्व इसी पुन्नाट सघ के आचाय जिनसेन ने हरिवशपुराण लिखा था। हरिषेण ने अपनी गुरुपरम्परा इस प्रकार बतलायी है—मौनि भट्टारक—हरिषेण (प्रथम)—भरतसेन—हरिषेण (ग्रन्थकर्ता)। १२ हजार से अधिक श्लोको के इस ग्रन्थ मे १५७ कथाएँ है जिनमें आराधना की गाथाओ के उदाहरणस्वरूप पुरातन आख्यान दिये गये है। इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण चाणक्य, भद्रबाहु, धरसेन आदि की कई कथाएँ इसमें मिलती हैं।

[डॉ उपाध्ये ने कथाकोश की प्रस्तावना में ग्रन्थ और ग्रन्थकर्ता के विषय में विस्तृत विवेचन किया है।]

नागदेव

मैसूर प्रदेश के धारवाड जिले में स्थित सूदी ग्राम से प्राप्त ताम्रशासन से इनका परिचय मिलता है। ये वडियूर गण के प्रमुख थे। गग वश के राजा बूतुग की रानी दीवलाम्बा ने सूदी में एक भव्य जिनमन्दिर बनवाया और उसके लिए नागदेव को सन् ९३८ में भूमिदान दिया था।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख १४२]

उद्द्योतन-सर्वदेव

तपागच्छ पट्टावली के अनुसार उद्द्योतन सूरि ने सन् ९३८ में सर्वदेव को सूरिपद प्रदान किया था। आबू के यात्रा के लिए जाते हुए टेली ग्राम के समीप एक विशाल वटवृक्ष की छाया में यह काय सम्पन्न हुआ जिसकी स्मृति मे सवदेव का शिष्य परिवार वडगच्छ (जिसका सस्कृत रूपान्तर बृहद् गच्छ हुआ) कहलाया।

हेलाचार्य व इन्द्रनन्दि

दक्षिण भारत में मलयपर्वत के समीप हेमग्राम में द्रविड गण के प्रमुख हेलाचार्य का निवास था। एक बार उनकी शिष्या कमलश्री किसी ब्रह्मराक्षस द्वारा पीडित हुई। उसके उपचारार्थ आचार्य ने ज्वालामालिनी देवी की आराधना की। देवी द्वारा दिये गये मन्त्र के प्रभाव से कमलश्री का कष्ट दूर हुआ। देवी के कथनानुसार मन्त्रो की साधना के विषय में आचाय ने ज्वालिनीमत नामक ग्रन्थ लिखा। गगमुनि-नीलग्रीव-विजाव-आर्या क्षान्तिरसव्वा-क्षुल्लक विरुवट्ट इस परम्परा से आता हुआ यह शास्त्र पढकर इन्द्रनन्दि ने सुन्दर सस्कृत छन्दो मे ज्वालिनीमत ग्रन्थ की रचना की। हेलाचाय का मूल ग्रन्थ तो अब प्राप्त नही है, इन्द्रनन्दि का ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है। राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्णराज (तृतीय) के राज्यकाल मे उनकी राजधानी मान्यखेट मे सन् ९३९ मे इसकी रचना हुई थी। अन्त में ग्रन्थकर्ता ने अपनी गुरुपरम्परा इन्द्रनन्द्रि—वासवनन्दि—बप्पनन्दि—इन्द्रनन्दि (द्वितीय) इस प्रकार बतायी है।

[जैन ग्रन्थ प्रशस्ति सग्रह, भाग १, प्रशस्ति ९१]

पद्मकीर्ति

ये माथुर गच्छ के आचाय थे। इनकी गुरुपरम्परा चन्द्रसेन—माधवसेन—जिनसेन—पद्मकीर्ति इस प्रकार बतलायी है। अपभ्रश भाषा में रचित पार्श्वपुराण इनकी एकमात्र कृति है जो सन् ९४३ में पूर्ण हुई थी। यह १८ सन्धियो का सुन्दर काव्य है जिसमें तेईसवें तीथकर पाश्वनाथ की कथा का विस्तृत और अलकृत वणन है।

[डॉ प्रफुल्लकुमार मोदी द्वारा सम्पादित यह ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है।]

गुणचन्द्र

मैसूर प्रदेश के धारवाड जिले में नरेगल ग्राम से प्राप्त शिलालेख में इनका परिचय मिलता है। ये देशी गण के महेन्द्र पण्डित के शिष्य वीरनन्दि के शिष्य थे। गग वश के राजा बूतुग की रानी पद्मव्वरसि द्वारा निर्मित जिनमन्दिर मे दानशाला के लिए मारसिंघय्य ने एक तालाब अर्पित किया था। सन् ९५० में यह दान गुणचन्द्र को अर्पित किया गया था।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग ४, लेख ८३]

वासवचन्द्र

मध्य प्रदेश के छतरपुर जिले में स्थित खजुराहो नगर के शान्तिनाथ मन्दिर के स्थापना लेख (सन् ९५५) में इनका नाम उपलब्ध होता है। इन्हें महाराजगुरु कहा गया है। चन्देल वश के राजा धग द्वारा सम्मानित पाहिल नामक श्रावक ने यह मन्दिर बनवाया था। मध्ययुग की भारतीय कलाकृतियो में खजुराहो के इस जैन मन्दिर का महत्त्वपूण स्थान है। इसी के अहाते मे आदिनाथ मन्दिर और पाश्वनाथ मन्दिर भी है जिनकी भित्तियो पर उत्कीण दिव्यागना मूर्तियाँ विश्वविख्यात हुई है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख १४७]

सोमदेव

देवसघ के आचार्य यशोदेव के शिष्य नेमिदेव थे। इनके शिष्य सोमदेव महान् ग्रन्थकर्ता थे। इन्होने सन् ९५९ मे यशस्तिलक चम्पू (गद्यपद्यमिश्र काव्य) की रचना की। अहिंसा का महत्त्व प्रतिपादन करनेवाली राजा यशोधर की कथा इसमे काव्यमय रूप में ग्रथित है। प्राचीन भारत की सस्कृति का बडी सूक्ष्मता से चित्रण इस कृति में किया है। राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्णराज के सामन्त चालुक्य राजा बद्दिग की राजधानी गगधारा में यह रचना पूर्ण हुई थी। कथावणन के साथ ही श्रावक के आदर्श आचरण का विस्तृत उपदेश भी इस ग्रन्थ में है। दक्षिण भारत में जैन समाज में प्रचलित जिनपूजा का विस्तृत विधान सवप्रथम इसी ग्रन्थ में मिलता है। सोमदेव का नीतिवाक्यामृत जैन साहित्य में अपने ढग का अकेला ग्रन्थ है। इसमें राजनीति का सरस विवेचन किया है। टीकाकार के कथनानुसार कन्नौज के राजा महेन्द्रपाल के आग्रह से यह ग्रन्थ लिखा गया था। सोमदेव का अध्यात्मतरगिणी नामक आत्मचिन्तन पर ग्रन्थ भी प्राप्त है। इसके अतिरिक्त युक्तिचिन्तामणि, महेन्द्रमातलिसजल्प, षण्णवतिप्रकरण तथा स्याद्वादोपनिषत् ये इनके ग्रन्थ अभी अप्राप्त है। सोमदेव ने अनेक वादो में विजय पायी थी। उनके गुरु नेमिदेव और गुरुबन्धु महेन्द्रदेव भी अनेक वादो में विजयी हुए थे ऐसा सोमदेव के वर्णन से मालूम होता है। लौकिक विषयो मे जैनेतर साहित्य का भी नि सकोच उपयोग करना चाहिए ऐसा उनका मत था और इस उदारता का उन्होने अपने साहित्य में भी प्रयोग किया है। आन्ध्र प्रदेश के करीमनगर जिले में स्थित वेमुलवाड से प्राप्त एक शिलालेख के अनुसार राजा बद्दिग ने सोमदेव के लिए एक जिनमन्दिर का निर्माण कराया था।

[डॉ हन्दिकी ने यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर नामक ग्रन्थ में सोमदेव की कृति का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया है, इसका श्रावकाचार सम्बन्धी अश प कैलाशचन्द्र शास्त्री ने हिन्दी विवेचन के साथ सम्पादित किया है।]

एलाचार्य

मैसूर प्रदेश के धारवाड नगर से प्राप्त ताम्रशासन से इनका परिचय मिलता है। ये सूरस्थ गण के आचार्य थे। इनकी गुरुपरम्परा इस प्रकार बतलायी है—प्रभाचन्द्र—कल्नेलेदेव—रविचन्द्र—रविनन्दि—एलाचाय। गग वश के राजा मारसिह ने उसकी माता कल्लब्बे द्वारा निर्मित जिनमन्दिर के लिए इन्हें सन् ९६२ में कादलूर नामक ग्राम दान दिया था।

[जैन शिलालेख सग्रह, भा ४, लेख ८५]

नागनन्दि (द्वितीय)

मैसूर प्रदेश के रायचूर जिले में स्थित उप्पिनबेटगेरी ग्राम से प्राप्त एक शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। ये सूरस्थ गण के श्रीनन्दि के शिष्य विनयनन्दि के शिष्य थे। राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्णराज (तृतीय) के राज्यकाल मे महासामन्त शकरगण्ड ने कोप्पण तीर्थ में जयधीर जिनालय नामक मन्दिर बनवाया था उसके लिए महासामन्त राट्टय्य ने सन् ९६४ में नागनन्दि को भूमिदान दिया था।

[जैनिज्म इन साउथ इण्डिया, शिलालेख क्र ४६]

जयदेव

मैसूर प्रदेश के धारवाड जिले में स्थित प्राचीन तीथ लक्ष्मेश्वर से प्राप्त एक विस्तृत शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। ये देवगण के प्रधान देवेन्द्र के शिष्य एकदेव के शिष्य थे। गग वश के राजा मारसिह ने गगकन्दर्पजिन मन्दिर के लिए इन्हे सन् ९६८ मे भूमिदान दिया था।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख १४९]

अभयनन्दि

मैसूर प्रदेश के कडूर नगर से प्राप्त एक समाधिलेख से इनका परिचय मिलता है। ये देशी गण के आचाय थे। देवेन्द्र—चान्द्रायण—गुणचन्द्र–अभयनन्दि ऐसी इनकी परम्परा बतायी है। इनकी शिष्या नाणव्वे की शिष्या पाम्बव्वे ने सन् ९७१ में सल्लेखना द्वारा देहत्याग किया था।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख १५०]

वीरदेव, अर्हनन्दि और नाथसेन

आन्ध्र प्रदेश के पूर्व भाग के चालुक्य वश के राजा अम्मराज (द्वितीय) विजयादित्य के तीन दानपत्रो से इन आचार्यों का परिचय मिलता है। इस राजा का राज्य सन् ९४५ से ९७० तक रहा था।

धीरदेव यापनीय सघ के कोटिमड्डुव गण के प्रधान थे। अहनन्दि की परम्परा के जिननन्दि के शिष्य दिवाकर इनके गुरु थे। अम्मराज के सेनापति दुर्गराज ने धमपुरी के दक्षिण में कटकाभरण नामक जिनमन्दिर बनवाया था। उसके लिए राजा ने एक ग्राम धीरदेव को अर्पित किया था।

अहनन्दि बलहारिगण—अड्डकलि गच्छ के आचाय थे। सकलचन्द्र के शिष्य अय्यपोटि इनके गुरु थे। पट्टवर्धिक कुल की श्राविका ने अम्मराज से निवेदन कर सर्व-लोकाश्रय नामक जिनमन्दिर के लिए अहनन्दि को एक ग्राम अर्पित किया था।

अम्मराज के सामन्त भीम और नरवाहन ने विजयवाटिका (आधुनिक विजय-वाडा) में दो जिनमन्दिर बनवाये थे। इनके लिए राजा ने इन सामन्तो के गुरु चन्द्र-सेन के शिष्य नाथसेन को एक ग्राम अर्पित किया था।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख १४३ ४४ तथा भाग ४, लेख १००]

अमृतचन्द्र

कुन्दकुन्द के समयसार पर अमृतचन्द्र ने आत्मख्याति नामक सस्कृत व्याख्या लिखी है। सस्कृत के अध्यात्म-ग्रन्थो में इसका स्थान बहुत ऊँचा है। जीव और कम के सम्बन्ध को ससाररूपी रगभूमि पर अभिनीत नाटक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ज्ञानस्वरूप आत्मा की आनन्दमय अनुभूति का सुन्दर सस्कृत श्लोकों में वर्णन इस टीका की विशेषता है। ये श्लोक समयसार-कलश नाम से पृथक ग्रन्थ के रूप में भी सकलित हुए है। हिन्दी में इन्ही का रूपान्तर बनारसीदास विरचित नाटकसमयसार में प्राप्त होता है। प्रवचनसार और पचास्तिकाय पर भी अमृतचन्द्र की व्याख्याएँ उपलब्ध हैं। तत्त्वाथसार मे इन्होने तत्त्वार्थसूत्र के विषयो का पद्यबद्ध विवरण दिया है। पुरुषाथ-सिद्ध्युपाय यह अमृतचन्द्र की ही सुन्दर रचना है। अध्यात्म और व्यवहार का सुन्दर समन्वय करते हुए इसमें श्रावको के कर्तव्यो का विवेचन किया गया है। इसमें अहिंसा का जैसा सूक्ष्म तात्त्विक और व्यावहारिक विश्लेषण मिलता है वैसा अन्य किसी ग्रन्थ में प्राप्त नही होता। इनका शक्तिमणिकोष नामक एक और ग्रन्थ कुछ वष पूर्व मिला है। यह अभी अप्रकाशित है। प आशाधर ने अमृतचन्द्र का उल्लेख ठक्कुर इस विशेषण के साथ किया है। इससे ज्ञात होता है कि पूर्व वय में ये किसी गाव के जमीदार रहे होंगे।

[प प्रेमी के जैन साहित्य और इतिहास में अमृतचन्द्र के समय आदि के विषय में चर्चा की गयी है।]

योगीन्दु

अध्यात्मपर ग्रन्थो में योगीन्दु के परमात्मप्रकाश और योगसार का स्थान बहुत ऊँचा है। अपभ्रश दोहो में रचित इन ग्रन्थो में मार्मिक शब्दावली में आत्मसाधना के मार्ग का उपदेश दिया गया है। हिन्दी के निगुणवादी कवियो की शब्दावली का पूर्वरूप

इन दोहो मे उपलब्ध है। ग्रन्थ-रचना में प्रेरक के रूप में योगीन्दु ने भट्टप्रभाकर का उल्लेख किया है। सस्कृत में अमृताशीति और प्राकृत में निजात्माष्टक ये इनकी अन्य दो रचनाएँ भी प्रकाशित हुई है।

[परमात्मप्रकाश की प्रस्तावना में डॉ उपाध्ये ने योगीन्दु के विषय में विस्तृत विवेचन किया है।]

अन्य आचार्य

इस शताब्दी के अन्य आचार्यों मे आचाराग तथा सूत्रकृताग की सस्कृत टीकाओ के रचयिता शीलाक (द्वितीय), भुवनसुन्दरी कथा नामक विस्तृत प्राकृत काव्य के प्रणेता विजयसिंह तथा सयममजरी नामक अपभ्रश काव्य के लेखक महेश्वर प्रमुख है। लघुसवज्ञसिद्धि तथा बृहत् सवज्ञसिद्धि इन प्रकरणो के रचयिता अनन्तकीर्ति भी इसी शताब्दी में हुए थे।

कन्नड भाषा के प्रारम्भिक साहित्य से भी इस शताब्दी के कुछ जैन आचार्यो का परिचय मिलता है। कन्नड आदिपुराण के रचयिता पम्प ने गुणनन्दि के शिष्य देवेन्द्र का गुरु-रूप में स्मरण किया है, यह रचना सन् ९४१ की है। कन्नड शान्तिनाथपुराण के प्रणेता पोन्न भी इसी काल के है, इन्होने इन्द्रनन्दि और जिनचन्द्र का गुरु-रूप मे स्मरण किया है।

श्रीवीर निर्वाण सवत् की सोलहवीं शताब्दी

[ईसवी सन् ९७३ से १०७३]

अजितसेन

ये सेनगण के आचार्य आयसेन के शिष्य थे। इनके तीन महत्त्वपूर्ण शिष्यो का वृत्तान्त श्रवणबेलगोल के शिलालेखो से तथा उनके साहित्य से ज्ञात होता है।

श्रवणबेलगोल के चन्द्रगिरि पवत पर स्थित एक स्तम्भ पर गग वश के राजा मारसिह के समाधिमरण का स्मारक लेख है। मारसिह के राजनीतिक जीवन की सफलताओ का—विभिन्न युद्धो में प्राप्त विजया का तथा प्रशसात्मक विरुदो का उल्लेख करने के बाद कहा गया है कि उन्होने बकापुर में अजितसेन गुरु के सान्निध्य में समाधि-मरण स्वीकार किया। यह घटना सन् ९७४ की है।

मारसिह के उत्तराधिकारी राजमल्ल के सेनापति चामुण्डराय भी अजितसेन के शिष्य थे। इन्होने सस्कृत में चारित्रसार तथा कन्नड में त्रिषष्टिशलाकापुरुषपुराण (सन् ९७८) की रचना की है। ये दोनो ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। दोनों में ग्रन्थ-कर्ता के गुरु के रूप में अजितसेन का उल्लेख है। श्रवणबेलगोल के विन्ध्यगिरि पर्वत पर स्थित विश्वविख्यात गोम्मटेश्वर बाहुबली की महामूर्ति का निर्माण भी चामुण्डराय द्वारा ही किया गया था। यही के चन्द्रगिरि पवत पर भी चामुण्डरायवसति नामक मन्दिर है। इसमें चामुण्डराय के पुत्र जिनदेव द्वारा स्थापित जिनमूर्ति है।

कन्नड के महाकवि रन्न के अजितनाथ पुराण में भी अजितसेन का गुरु रूप में उल्लेख है। यह ग्रन्थ सन् ९९३ में पूर्ण हुआ था।

नेमिचन्द्र के गोम्मटसार में अजितसेन को गुण-समूह के धारक तथा भुवनगुरु कहा गया है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भा १ की प्रस्तावना में डॉ हीरालाल जैन ने तथा जैन साहित्य और इतिहास में प प्रेमी ने अजितसेन का परिचय दिया है।]

वीरनन्दि

ये गुणनन्दि के शिष्य अभयनन्दि के शिष्य थे। इनका चन्द्रप्रभचरित महाकाव्य सुप्रसिद्ध है। इसमें आठवें तीथकर की जीवनकथा पाच पूर्वजन्मो के साथ विस्तार से वर्णित है। सस्कृत भाषा के साहित्यिक सौन्दर्य की दृष्टि से यह रचना उच्च कोटि की

है। वादिराज ने पार्श्वचरित में इनकी प्रशसा में एक श्लोक लिखा है। नेमिचन्द ने गुरु-रूप में इनका स्मरण किया है।

इन्द्रनन्दि

इनकी श्रुतावतार नामक रचना सक्षिप्त होते हुए भी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व-पूण है। षट्खण्डागम तथा कषायप्राभृत इन सिद्धान्त ग्रन्थो तथा उनकी टीकाओ के विषय में महत्त्वपूर्ण विवरण इन्द्रनन्द्रि ने दिया है। जैन आचार्यों के कालक्रम को निश्चित करने में श्रुतावतार से बहुत सहायता मिली है। नेमिचन्द्र ने इनका भी गुरुरूप में स्मरण किया है।

[प प्रेमी ने जैन साहित्य और इतिहास में इन दोनो आचार्यो का परिचय दिया है।]

नेमिचन्द्र

ये सिद्धान्तचक्रवर्ती के विरुद से प्रसिद्ध है। उन्ही के कथनानुसार जिस प्रकार चक्रवर्ती अपने चक्र से भरत क्षेत्र के छह खण्डो को जीतता है उसी प्रकार बुद्धिरूपी चक्र से नेमिचन्द्र ने आगम के छह खण्डोको जीत लिया था। उनके इस गहन अध्ययन का सार गोम्मटसार नामक ग्रन्थ मे निबद्ध है। जीवकाण्ड और कमकाण्ड इन दो भागो में इस ग्रन्थ की रचना हुई है। लब्धिसार ग्रन्थ भी नेमिचन्द्र ने लिखा जो गोम्मटसार के परिशिष्ट के समान है। इनके त्रिलोकसार में लगभग एक हजार गाथाओ में विश्व-स्वरूप सम्बन्धी प्राचीन मान्यताएँ सकलित है। गोम्मटसार के विभिन्न प्रकरणो मे आचार्य ने अभयनन्दि, इन्द्रनन्दि, वीरनन्दि (इन तीनो का ऊपर उल्लेख हो चुका है), कनकनन्दि तथा अजितसेन का गुरुरूप में उल्लेख किया है। चामुण्डराय द्वारा गोमटेश्वर-मूर्ति के निर्माण का तथा वीरमार्तण्डी नामक देशी (कन्नड) व्याख्या का भी उल्लेख हुआ है। चामुण्डराय के आग्रह से सकलित होने के कारण ही गोम्मटसार यह नाम इस ग्रन्थ को दिया गया था। पहले द्रव्यसग्रह यह छोटा-सा ग्रन्थ भी इन्ही नेमिचन्द्र का माना गया था किन्तु अब यह भ्रम दूर हो चुका है।

[पुरातन जैन वाक्य सूची की प्रस्तावना में प मुख्तार ने नेमिचन्द्र के विषय में विस्तृत चर्चा की है।]

अमितगति

ये माथुर सघ के आचाय थे। इन्होने अपनी गुरुपरम्परा इस प्रकार बतलायी है—वीरसेन—देवसेन—अमितगति (प्रथम, जिनका योगसार नामक सस्कृत ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है)—नेमिषेण—माधवसेन—अमितगति (द्वितीय, प्रस्तुत ग्रन्थकर्ता)। इनकी सात सस्कृत रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं। सुभाषितरत्नसन्दोह में लगभग ९०० श्लोको में वैराग्य का उपदेश है। इसकी रचना राजा मुज के राज्य में सन् ९९३ में

हुई थी। धर्मपरीक्षा में वैदिक पुराणो की अविश्वसनीयता कथाओ के माध्यम से स्पष्ट की है। यह सन् १०१३ में पूण हुई थी। पचसग्रह की रचना सन् १०१६ मे धारा के समीप मसूतिका (वतमान मसोद ग्राम) में हुई थी। कमबन्ध सम्बन्धी विवरण देनेवाला यह ग्रन्थ इसी नाम के प्राकृत ग्रन्थ का सस्कृत रूपान्तर है। शिवार्य की आराधना का सस्कृत रूपान्तर भी अमितगति ने किया है। इनकी तत्त्वभावना में आत्मचिन्तन के विषय में १२० श्लोक है। बत्तीस श्लोको की भावना द्वात्रिंशतिका अमितगति की सबसे अधिक लोकप्रिय रचना है। यह सामायिक पाठ के नाम से भी प्रसिद्ध है। इनके उपासकाचार (या श्रावकाचार) में जैन गृहस्थो के आदर्श आचरण का सुन्दर विवरण है। तत्त्वज्ञान की भी विस्तृत चर्चा इसमें मिलती है। अमितगति के सभी ग्रन्थ सरल भाषा-शैली के कारण समाज में सुप्रचलित रहे हैं।

[प प्रेमी के जैन साहित्य और इतिहास में अमितगति का विस्तृत परिचय देने-वाला निबन्ध है।]

जयसेन

ये लाडबागड सघ के आचाय थे। इनका धमरत्नाकार नामक ग्रन्थ प्राप्त हुआ है। करहाटक (वतमान कऱ्हाड महाराष्ट्र) में सन् ९९९ में इसकी रचना पूर्ण हुई थी। प्रशस्ति के अनुसार जयसेन की गुरुपरम्परा इस प्रकार थी—धमसेन—शान्तिषेण—गोपसेन—भावसेन—जयसेन। ग्रन्थ अभी अप्रकाशित है।

[जैन ग्रन्थ प्रशस्ति सग्रह, भाग १, प्रशस्ति २]

महासेन

ये जयसेन के शिष्य गुणाकरसेन के शिष्य थे। मुज राजा ने इनका सम्मान किया था। मुज के उत्तराधिकारी सिन्धुराज के महामन्त्री पपट के आग्रह से इन्होंने प्रद्युम्नचरित महाकाव्य की रचना की। यह प्रकाशित हो चुका है। श्रीकृष्ण के पुत्र और कामदेव के रूप मे प्रसिद्ध प्रद्युम्नकुमार की रोचक कथा इसमें वर्णित है। शृगार, वीर, हास्य और शान्त रस का उत्तम परिपोष इसमें प्राप्त होता है।

[प प्रेमीजी ने जैन साहित्य और इतिहास में महासेन का परिचय दिया है।]

अभयदेव

सिद्धसेन के सन्मतिसूत्र पर अभयदेव ने वादमहार्णव नामक टीका लिखी जिसका विस्तार २५००० श्लोको जितना है। आत्मा, ईश्वर, सवज्ञ, मुक्ति, वेदप्रामाण्य आदि विविध विषयो का तर्कदृष्टि से विस्तृत परीक्षण इस ग्रन्थ में मिलता है। अभयदेव चन्द्र-कुल के प्रद्युम्नसूरि के शिष्य थे। इनके शिष्य धनेश्वर राजा मुज की सभा में सम्मानित हुए थे। इनकी परम्परा को राजगच्छ यह नाम मिला था।

[प सुखलालजी और प बेचरदासजी द्वारा सम्पादित सन्मतिटीका गुजरात पुरातत्त्व मन्दिर, अहमदाबाद से १९२३–३० मे प्रकाशित हुई है ।]

पद्मनन्दि

ये वीरनन्दि के शिष्य बलनन्दि के शिष्य थे । इनका जम्बूदीवपण्णत्तिसगह नामक प्राकृत ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है । राजस्थान के बारा नगर में जिनधम के प्रति वत्सल शक्ति राजा के राज्य में यह ग्रन्थ लिखा गया था । तेरह अधिकारो में लगभग २४०० गाथाओ में जम्बूद्वीप सम्बन्धी प्राचीन मान्यताओ का अच्छा विवरण इसमें प्राप्त होता है । माघनन्दि के शिष्य सकलचन्द्र के शिष्य श्रीनन्दि के आग्रह से पद्मनन्दि ने इस ग्रन्थ की रचना की थी ।

[डॉ हीरालाल जैन तथा डॉ उपाध्ये ने ग्रन्थ की प्रस्तावना में कर्ता का परिचय दिया है । जैन साहित्य और इतिहास में प प्रेमी का इस विषय पर निबन्ध भी उपयुक्त है ।]

वीरभद्र

इनके ग्रन्थ प्रकीर्णक इस नाम से आगमो में सम्मिलित किये गये है । चतु शरण में ६३ गाथाओ में अरहन्त, सिद्ध, साधु तथा जिनप्रणीत धम इन चार को शरण जाने योग्य बताया है । आतुरप्रत्याख्यान मे ७० गाथाओ में समाधिमरण का महत्त्व स्पष्ट किया है । भक्तपरिक्षा में १७२ गाथाएँ है, इसमें भी समाधिमरण के विषय में विवेचन है तथा चित्त को निराकुल बनाने की आवश्यकता स्पष्ट की है । देवेन्द्रस्तव में ३०७ गाथाएँ है, इसमें तीथकरो की वन्दना के प्रसग से देवो के इन्द्रो के विषय में विवरण दिया गया है । आराधनापताका में ९९० गाथाओ में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप का महत्त्व स्पष्ट किया है । इसकी रचना सन् १०२२ में हुई थी ।

[डॉ जगदीशचन्द्र जैन ने प्राकृत साहित्य का इतिहास, अ २ मे इन ग्रन्थो का विवरण दिया है ।]

जिनेश्वर

इनका जन्म उज्जयिनी के एक ब्राह्मणकुल मे हुआ था । ये चन्द्रकुल के आचार्य उद्द्योतन के शिष्य वधमान के शिष्य थे । उनके समय में प्राय सभी जैन आचाय स्थायी रूप से किसी जिनमन्दिर में निवास करते थे और इसलिए चैत्यवासी या मठपति कहलाते थे । वर्धमान ने इस स्थिति में सुधार कर पुरातन शास्त्रवर्णित मुनिचर्या को पुन प्रवर्तित करने का प्रयास किया । इस काय में जिनेश्वर की विद्वत्ता से काफी सफलता मिली । इन्होने अणहिलपुर में चौलुक्य राजा दुलभराज की सभा मे अपना पक्ष स्थापित कर प्रशसा प्राप्त की । इनकी परम्परा आगे चलकर खरतर गच्छ इस नाम से प्रसिद्ध हुई ।

जालोर में सन् १०२३ मे जिनेश्वर ने हरिभद्रकृत अष्टकप्रकरण पर विस्तृत व्याख्या लिखी। इसी वष यही पर इनके बन्धु बुद्धिसागर ने सस्कृत व्याकरण की रचना की। इसी स्थान पर सोलह वष बाद जिनेश्वर ने चैत्यवन्दनटीका की रचना की। इसके चार वष पूव आशापल्ली में वे निर्वाणलीलावती नामक विस्तृत कथाग्रन्थ की रचना कर चुके थे। उनका कथाकोष प्रकरण सन् १०५२ में पूर्ण हुआ था। इसमें धर्माचरण के दृष्टान्तस्वरूप ४० कथाएँ सुन्दर प्राकृत में लिखी गयी है। श्वेताम्बरो के पास अपना कोई विस्तृत प्रमाणशास्त्र नही है। इस आक्षेप को दूर करने के लिए इन्होने न्यायावतार के प्रथभ श्लोक को आधार के रूप मे लेकर प्रमालक्ष्म नामक वार्तिकग्रन्थ की रचना की। प्रमाण और तर्काधारित वाद की प्रक्रिया के विषय में विस्तृत विवरण इसमें प्राप्त होता है। षटस्थानकप्रकरण और पचलिंगीप्रकरण ये इनकी अन्य रचनाएँ है। पहली में श्रावको के छह गुणो का तथा दूसरी में सम्यक्त्व के पाँच लक्षणो का विवेचन है।

जिनेश्वर के तीन शिष्य प्रथितयश ग्रन्थकर्ता हुए। जिनभद्र—जिनका दूसरा नाम धनेश्वर था—ने सन् १०३८ में चड्डावली नगर में सुरसुन्दरी कथा की रचना की। जिनचन्द्र ने सन् १०६८ में सवेगरगशाला नामक विस्तृत कथाग्रन्थ लिखा। तीसरे शिष्य अभयदेव का परिचय आगे दिया गया है।

[सिघी ग्रन्थमाला में प्रकाशित कथाकोष प्रकरण की भूमिका में मुनि जिनविजयजी ने इनका विस्तृत परिचय दिया है।]

अभयदेव (द्वितीय)

धारा नगर के एक श्रेष्ठिकुल में अभयदेव का जन्म हुआ था। इन्हे खरतर गच्छ के आचार्य जिनेश्वरसूरि से शिक्षा-दीक्षा प्राप्त हुई। एक बार शम्भाणा ग्राम मे विहार करते हुए इन्हें कुष्ठरोग हुआ। रोग असाध्य समझकर उन्होने सल्लेखना का विचार किया किन्तु शासनदेवता की प्रेरणा से वह विचार छोडकर अनेक श्रावको के साथ स्तम्भन तीर्थ (खम्भात नगर) के समीप सेढी नदी के तट पर पहुँचे। वहा पलाश वृक्षो के झुरमुट में पाश्वनाथ की एक दिव्य प्रतिमा थी। आचार्य ने जय तिहुअण इन शब्दो से प्रारम्भ कर भक्तिपूवक पाश्वस्तुति की रचना की। इसके प्रभाव से उनका रोग पूर्णत दूर हो गया। यह स्तुति अब भी सुप्रसिद्ध है। खम्भात का यह पाश्वनाथ मन्दिर भी तीथ के रूप में प्रसिद्ध है। तदनन्तर अणहिलवाड पाटन की करडिहट्टी बसति में रहते हुए आचाय ने स्थानाग से विपाकश्रुताग तक नौ अग ग्रन्थो पर वृत्ति की रचना की, यह काय सन् १०६३ से १०७१ तक सम्पन्न हुआ। पाल्हउदा ग्राम में आचाय के कुछ भक्त श्रावक थे। उनके कुछ जहाज समुद्र में डूबने की अफवाह सुनकर वे दुखी हुए थे। आचाय मे उन्हे धैय रखने को कहा। बाद में उनके सभी जहाज सकुशल लौटे। तब उन श्रावको ने प्राप्त धन में से आधा भाग अगग्रन्थो की प्रतियाँ लिखवाने में खच किया। इस प्रकार आचार्य की वृत्तियो का व्यापक प्रसार हुआ। सन् १०७८ में इनका स्वर्गवास हुआ।

इनके शिष्य वर्धमान द्वारा रचित मनोरमा कथा तथा आदिनाथचरित प्राप्त है। इनके दूसरे शिष्य जिनवल्लभ का उल्लेख आगे हुआ है।

[प्रभावकचरित, प्र १९, प्रबन्धचिन्तामणि प्रकाश ५, प्र २१, खरतरगच्छ बृहद्-गुर्वावलि, पृ ६, ९०, नवागवृत्तियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं।]

धर्मघोष-वर्धमान

गुजरात के चौलुक्य वशीय महाराज भीमदेव के मन्त्री विमल चन्द्रावती नगर में शासन कर रहे थे। तब वहाँ धर्मघोष सूरि का विहार हुआ था। उनके उपदेश से प्रभावित होकर विमल ने आबू पवत पर नवीन भव्य जिनमन्दिर निर्माण करवाने का सकल्प किया। इस काय में अनेक बाधाएँ आयी किन्तु अन्ततोगत्वा १८ करोड सुवण-मुद्राओ का व्यय कर मन्त्रिवर ने प्रारब्ध काय पूर्ण किया। विमलवसही के नाम से प्रख्यात इस आदिनाथ मन्दिर की प्रतिष्ठा सन् १०३१ में वधमान सूरि के हाथो सम्पन्न हुई। श्वेत सगमरमर की सुन्दर कलाकृतियो से सुशोभित यह मन्दिर आज भी देश-विदेश के दशको को आश्चयचकित कर देता है।

[मुनि जयन्तविजय सम्पादित 'आबू' ग्रन्थ में इस मन्दिर का विस्तृत परिचय दिया गया है।]

शान्तिसूरि

इनका जन्म अणहिलपुर के समीप के एक ग्राम मे हुआ था। चन्द्रकुल के अन्तर्गत थारापद्र गच्छ के आचाय विजयसिह से इन्हें शिक्षा-दीक्षा प्राप्त हुई। अणहिलपुर के राजा भीमदेव की सभा में कवि और वादी के रूप में इन्हें प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। तदनन्तर महाकवि धनपाल के निमन्त्रण पर वे धारा पहुँचे। राजा भोजदेव की सभा में अनेक वादियो को पराजित कर ख्याति प्राप्त की जिसके फलस्वरूप राजा ने इन्हें वादिवेताल यह बिरुद प्रदान किया। धनपाल की तिलकमजरी कथा का सशोधन इनके द्वारा हुआ। अणहिलपुर के एक श्रेष्ठिपुत्र पद्म को सर्पदश हुआ था, वह आचार्य के मन्त्रप्रभाव से स्वस्थ हो गया। उत्तराध्ययनसूत्र पर इनकी विस्तृत व्याख्या सुप्रसिद्ध है। इनके प्रधान शिष्यो के नाम वीर, शालिभद्र और सवदेव बताये गये है। सोढ नामक श्रावक के सघ के साथ आचार्य गिरनाथ की वन्दना के लिए गये थे। वही सन् १०४० मे उनका स्वगवास हुआ।

[प्रभावकचरित में इनकी जीवनकथा विस्तार से दी है।]

शान्तिसूरि (द्वितीय)

प्राय उपयुक्त शान्तिसूरि के ही समय में पूणतल्ल गच्छ के आचाय वधमान के शिष्य शान्तिसूरि हुए। इन्होने सिद्धसेन के न्यायावतार पर वार्तिक की रचना की और

स्वय उसपर टीका भी लिखी। प्रमाण, प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन चार प्रकरणो में इस ग्रन्थ में प्रमाणशास्त्र का अच्छा विवेचन प्राप्त होता है। इन्होने घटकपर, वृन्दावन, मेघाभ्युदय, शिवभद्र, चन्द्रदूत तथा तिलकमजरी पर स्पष्टीकरणात्मक टीका-टिप्पण भी लिखे।

[प दलसुख मालवणिया ने न्यायावतार वार्तिकवृत्ति की प्रस्तावना में इनका परिचय दिया है।]

महेन्द्र

ये चन्द्रकुल के आचार्य थे। धारा नगर में राजा भोज द्वारा सम्मानित महाकवि धनपाल के पिता सर्वदेव से इनकी भेंट हुई। सर्वदेव के घर में कुछ भूमिगत धन था। आचाय की कृपा से उसकी प्राप्ति हुई। इसके प्रतिफल के रूप में सर्वदेव ने अपने कनिष्ठ पुत्र शोभन को आचार्य को सौप दिया। आगमो का अध्ययन करने के बाद शोभन ने अपने बडे भाई धनपाल को भी जैन बनाया। शोभन मुनि की चतुर्विंशतिजिनस्तुति प्रसिद्ध है। धनपाल की बुद्धिमत्ता, कवित्व शक्ति तथा धमप्रियता की अनेक कथाएँ प्राप्त होती है। इनकी तिलकमजरी कथा सस्कृत गद्य साहित्य में महत्त्वपूण स्थान प्राप्त कर चुकी है।

[प्रभावकचरित तथा प्रबन्धचिन्तामणि में धनपाल सम्बन्धी कथाएँ विस्तार से प्राप्त होती हैं।]

सूराचार्य

ये अणहिलपुर के राजा भीमदेव के मामा के पुत्र थे। द्रोणाचाय के पास इनकी शिक्षा-दीक्षा हुई। इनकी कविप्रतिभा की प्रशसा सुनकर राजा भोजदेव ने इन्हें आमन्त्रित किया। धारा में इनका सम्मान तो किया गया किन्तु वहाँ के पण्डित इनसे पराजित हुए। अपने सभापण्डितो के अपमान से क्षुब्ध होकर भोज ने इन्हे कैद करना चाहा किन्तु धनपाल की सहायता से ये गुप्त रूप से अणहिलपुर लौट गये। इनका नाभेयनेमिद्विसन्धान नामक महाकाव्य प्राप्त है जिसमें श्लेष अलकार का विस्तृत उपयोग कर एक ही काव्य में आदिनाथ और नेमिनाथ का चरित वर्णन किया गया है।

[प्रभावकचरित में इनकी कथा विस्तार से दी है।]

वादिराज

ये नन्दिसघ के अरुगल अन्वय के आचार्य श्रीपाल के शिष्य मतिसागर के शिष्य थे। इनके गुरुबन्धु दयापाल ने रूपसिद्धि नामक व्याकरण ग्रन्थ लिखा है। वादिराज ने अकलकदेव के न्यायविनिश्चय पर २० हज़ार श्लोको जितने विस्तार की टीका लिखी है जो प्रकाशित हो चुकी है। इससे जैन-जैनेतर दशनो का उनका अध्ययन और तकविद्या में निपुणता प्रकट होती है। तँकशास्त्र पर प्रमाणनिणय

नामक एक छोटा ग्रन्थ भी उन्होने लिखा था। यह भी प्रकाशित हुआ है। सन् १०२५ मे राजा जयसिंह के राज्यकाल में इनका पाश्वचरित पूण हुआ। तीथकर पार्श्वनाथ की नौ पूर्वभवो के साथ काव्यमय रूप में वर्णित कथा इसका विषय है। यह ग्रन्थ कट्टगेरी नामक स्थान मे पूण हुआ था। प्रशस्ति में वादिराज ने अपने प्रगुरु श्रीपाल को सिहपुरैक-मुख्य कहा है जिससे ज्ञात होता है कि इनके मठ के लिए सिंहपुर ग्राम दान मिला होगा। एकीभावस्तोत्र वादिराज की सुप्रसिद्ध रचना है। कथा के अनुसार इस स्तोत्र के प्रभाव से उनका कुष्ठरोग दूर हुआ था। स्तोत्र के चार श्लोको से भी सकेत मिलता है कि इसकी रचना के समय कवि किसी रोग से पीडित थे। दक्षिण के बीसो शिलालेखो में वादिराज की प्रशसा की गयी है जिससे मालूम होता है कि उन्होने त्रैलोक्यदीपिका नामक ग्रन्थ लिखा था (यह अप्राप्त है) तथा राजा जयसिंह उनका सम्मान करते थे। उनकी एक और रचना यशोधरचरित प्रकाशित हो चुकी है।

[प प्रेमी के जैन साहित्य और इतिहास में वादिराज के विषय में एक निबन्ध है।]

प्रभाचन्द्र

धारा नगर में महाराज भोजदेव के समय में विद्यमान विद्वन्मण्डल में प्रभाचन्द्र का विशिष्ट स्थान था। उनकी बहुमुखी प्रतिभा के प्रमाण चार महत्त्वपूण ग्रन्थो के रूप में उपलब्ध है। प्रमेयकमलमातण्ड माणिक्यनन्दि के परीक्षामुख की व्याख्या है। इसका विस्तार १२००० श्लोको जितना है। मूल ग्रन्थ में प्रमाणो का विवेचन है। इस व्याख्या में प्रमाणो के विषयो के रूप में, विश्व के स्वरूप के विषय में विविध वादविषयो की सूक्ष्म चर्चा उपलब्ध है। इसी प्रकार न्यायकुमुदचन्द्र अकलकदेव के लघीयस्त्रय की व्याख्या है। इसमें भी मूल ग्रन्थ के प्रमाण-विषयो के साथ प्रमेय-विषयो का विस्तृत विवेचन है। इसका विस्तार १६००० श्लोको जितना है। शब्दाम्भोज भास्कर जैनेन्द्र-व्याकरण की विस्तृत व्याख्या है जो अभी पूण रूप मे प्राप्त नही है। इन तीन व्याख्या-ग्रन्थो के समान ही प्रभाचन्द्र की स्वतन्त्र कृति—गद्यकथाकोष—भी बहुत महत्त्वपूण है। धर्माराधन के उदाहरणो के रूप में इसमें कथाएँ दी गयी है। समन्तभद्र, अकलक और पात्रकेसरी के विषय मे इनकी कथाओ का उल्लेख पहले हो चुका है। पुष्पदन्त के अपभ्रश महापुराण पर प्रभाचन्द्र के टिप्पण सक्षिप्त होते हुए भी अपभ्रश शब्दो के अथज्ञान के लिए महत्त्व के सिद्ध हुए हैं।

श्रवणबेलगोल के दो शिलालेखो में प्रभाचन्द्र की प्रशसा प्राप्त होती है। इससे ज्ञात होता है कि इनका प्रारम्भिक जीवन दक्षिण में बीता था। पद्मनन्दि और वृषभ-नन्दि उनके गुरु थे। उनके कई गुरुबन्धुओ के नाम भी इन लेखो में मिलते हैं। धारा नगर में उनके गुरुबन्धु नयनन्दि का आगे उल्लेख होगा।

[न्यायकुमुदचन्द्र की प्रस्तावना में प कैलाशचन्द्र और प महेन्द्रकुमार ने प्रभाचन्द्र के विषय में विस्तृत विवेचन किया है।]

नयनन्दि

इनके दो अपभ्रंश ग्रन्थ प्राप्त है। सुदर्शनचरित में नमस्कार मन्त्र और ब्रह्मचर्याणुव्रत का महत्त्व प्रकट करते हुए सुदशन श्रेष्ठी की कथा का काव्यमय वर्णन है। यह ग्रन्थ महाराज भोज के राज्यकाल में धारा नगर में सन् १०४३ में पूर्ण हुआ था। नयनन्दि के दूसरे ग्रन्थ सकलविधिविधान काव्य में श्रावको के आचारधम का अनेक कथाओ के उदाहरण देते हुए विस्तृत वर्णन दिया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण अनेक उल्लेख इस काव्य में प्राप्त होते है। कवि ने अपनी गुरुपरम्परा विस्तार से इस प्रकार बतलायी है—कुन्दकुन्दान्वय के पद्मनन्दि–विष्णुनन्दि—अनेक ग्रन्थो के कर्ता विश्वनन्दि–वृषभनन्दि–आगमो के उपदेशक, तपस्वी और राजाओ द्वारा पूजित रामनन्दि –त्रैलोक्यनन्दि–महापण्डित माणिक्यनन्दि–नयनन्दि।

[जैन ग्रन्थ प्रशस्ति सग्रह, भाग २ में प परमानन्द शास्त्री ने इन ग्रन्थो का परिचय दिया है।]

मल्लिषेण

इन्होने अपनी गुरुपरम्परा इस प्रकार बतलायी है–अजितसेन (जिनका पहले चामुण्डराय के गुरु के रूप में परिचय आ चुका है) – कनकसेन–जिनसेन–मल्लिषेण। इनके छह सस्कृत ग्रन्थ प्राप्त है। महापुराण में लगभग दो हजार श्लोको में शलाकापुरुषो की कथाओ का वर्णन है। इसकी रचना सन् १०४८ में मुलगुन्द नगर में हुई थी (मैसूर प्रदेश के धारवाड जिले में यह नगर है, यहाँ पुरातन जिनमन्दिर अब भी विद्यमान है)। नागकुमारचरित में लगभग ५०० श्लोको में नागकुमार की कथा सुन्दर शैली में बतलायी है। भैरवपद्मावतीकल्प, सरस्वतीकल्प, ज्वालिनीकल्प तथा कामचाण्डालीकल्प ये चार ग्रन्थ मन्त्रशास्त्र के है। इन देवताओ की आराधना द्वारा विविध विपत्तियो के परिहार और समृद्धि-प्राप्ति की विधियाँ इन ग्रन्थो में बतलायी है। जैन मन्त्रशास्त्र में इन ग्रन्थो का बडा महत्त्वपूर्ण स्थान है।

[प प्रेमी के जैन साहित्य और इतिहास में मल्लिषेण पर एक निबन्ध है।]

नरेन्द्रसेन-नयसेन

उपर्युक्त मुलगुन्द नगर से प्राप्त एक विस्तृत शिलालेख से मल्लिषेण की परम्परा के कुछ अन्य आचार्यों का भी परिचय मिलता है। मल्लिषेण के गुरु जिनसेन तथा प्रगुरु कनकसेन थे यह ऊपर बताया है। इस लेख में कनकसेन के दूसरे शिष्य नरेन्द्रसेन और उनके शिष्य नयसेन की प्रशसा मिलती है। ये दोनो व्याकरणशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् थे ऐसा लेख में कहा गया है। महासामन्त बेलदेव ने अपनी माता गोज्जिकब्बे की स्मृति में सन् १०५३ में नयसेन आचाय को कुछ भूमि दान दी थी। सिन्द कुल के सामन्त कचरस की भी नयसेन के प्रति श्रद्धा थी इसका भी लेख में वर्णन है।

वादिराज ने न्यायविनिश्चय विवरण की अन्तिम प्रशस्ति में श्लेष द्वारा कनकसेन और नरेन्द्रसेन का नामोल्लेख कर उनके प्रति अपना आदर प्रकट किया है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग ४, लेख १३८]

सुदत्त व शान्तिदेव

मैसूर प्रदेश के दक्षिण भाग में लगभग ३५० वर्षो तक शासन करनेवाले होयसल वश के प्रारम्भिक राजा जैन आचार्यों के शिष्य थे। सोरब ग्राम के लेख में कहा गया है कि इस वश के प्रथम राजा सल जब सुदत्त मुनि के दशन कर रहे थे तब एक चीता उनपर झपटा किन्तु सल ने साहसपूवक अपनी और गुरु की रक्षा की थी।

सल के बाद के प्रमुख राजा नृपकाम और उनके बाद विनयादित्य हुए। विनयादित्य द्वारा स्थान-स्थान पर जिनमन्दिर बनबाये गये थे। श्रवणबेलगोल के एक लेख के शब्दो में—मन्दिरो के लिए इटें बनवाने के लिए जहाँ से मिट्टी खोदी गयी वहाँ तालाब बन गये, पत्थरो के लिए जिन पहाडो में खुदाई हुई वे भूमि से समतल हो गये तथा चूने की गाडियाँ जिन रास्तो से गुजरी वहाँ घाटिया बन गयी। इसी समय के एक अन्य लेख में विनयादित्य की समृद्धि का श्रेय उनके गुरु शान्तिदेव की उपासना को दिया गया है। मूडगेरे तालुके में स्थित अगडि नामक स्थान में प्राप्त लेख के अनुसार शान्तिदेव सन् १०६२ में दिवगत हुए थे। उनकी स्मृति में नागरिको द्वारा स्थापित स्तम्भ पर यह लेख उत्कीण है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग ३, लेख ४५७, भाग १, लेख ५३-५४ तथा भाग २ लेख २००]

श्रीचन्द्र

इनकी दो अपभ्रश रचनाएँ प्राप्त है। रयणकरण्ड में श्रावको के व्रतो का महत्त्व कथाओ के माध्यम से २१ प्रकरणो में स्पष्ट किया है। इसकी रचना श्रीबालपुर में राजा कणदेव के राज्य में सन् १०६६ में पूर्ण हुई थी। इनका दूसरा ग्रन्थ कथाकोश अणहिलपुर में लिखा गया था। ज्ञान, दशन, चारित्र और तप की साधना के उदाहरण-स्वरूप कथाओ का इसमें सग्रह किया गया है। गुजरात के राजा मूलराज के दरबार में सम्मानित श्रेष्ठी सज्जन के पुत्र कृष्ण के पुत्रो के आग्रह से इसकी रचना हुई थी। ग्रन्थकर्ता ने अपनी गुरुपरम्परा विस्तार से बतलायी है। देशी गण के आचाय श्रीकीर्ति के शिष्य श्रुतकीर्ति हुए जो कलचुरि वश के राजा गागेय तथा मालवा के परमार वश के राजा भोजदेव द्वारा सम्मानित हुए थे। इनके शिष्य सहस्रकीर्ति के पाँच शिष्य थे—देवचन्द्र, वासवमुनि, उदयकीर्ति, शुभचन्द्र तथा वीरचन्द्र। इनमें से अन्तिम वीरचन्द्र ग्रन्थकर्ता के गुरु थे।

[जैन ग्रन्थ प्रशस्ति सग्रह, भाग २, प्रशस्ति ७-८, कथाकोश डॉ हीरालाल जैन द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ है ।]

वादीभसिंह

इनकी तीन महत्त्वपूर्ण रचनाएँ उपलब्ध हैं । गद्यचिन्तामणि एक विस्तृत गद्यकथा है जिसमे जीवन्धर की काव्यपूर्ण कथा का सुन्दर चित्रण प्राप्त होता है । सस्कृत गद्य साहित्य में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है । क्षत्रचूडामणि में जीवन्धर की ही कथा श्लोकबद्ध रूप में प्रस्तुत की है । इसकी विशेषता यह है कि प्राय प्रत्येक श्लोक में एक सुभाषित ग्रथित है और इस तरह प्रारम्भ से अन्त तक अर्थान्तरन्यास अलकार का लगातार प्रयोग किया गया है । सरल भाषा के कारण यह काव्य काफी लोकप्रिय रहा है—इसके अनेक अनुवाद विभिन्न भाषाओ मे प्रकाशित हुए हैं । तमिल भाषा का प्राचीन महाकाव्य तिरुतक्कदेव कृत जीवकचिन्तामणि इसी पर आधारित कहा जाता है । वादीभसिंह की तीसरी कृति स्याद्वादसिद्धि तकशास्त्र की रचना है जो अभी खण्डित रूप में प्राप्त हुई है । इसके सोलह प्रकरणो में जीव, सर्वज्ञ, ब्रह्म, ईश्वर आदि के विषय मे विद्वत्तापूण विवेचन प्राप्त होता है ।

गद्यचिन्तामणि मे वादीभसिंह के गुरु का नाम पुष्पसेन बताया है । इसी की एक प्रति में वादीभसिंह का मूल नाम ओडयदेव बताया गया है ।

[गद्यचिन्तामणि के सस्करण में कुप्पुस्वामी शास्त्री और स्याद्वादसिद्धि के सस्करण में प दरबारीलाल ने वादीभसिंह के विषय में विवेचन किया है ।]

शुभचन्द्र

इनका एकमात्र सस्कृत ग्रन्थ ज्ञानार्णव काफी महत्त्वपूर्ण और लोकप्रिय रहा है । ४२ अध्याय और लगभग २१०० श्लोको के इस ग्रन्थ में ध्यान का सर्वांगीण विवेचन प्रथमत उपलब्ध होता है । योगसाधना के प्राणायाम आदि अगो का विस्तृत वर्णन और ध्यान के पिण्डस्थ, पदस्थ आदि प्रकारो का विवेचन इस ग्रन्थ में है । साथ ही मुनि की जीवनचर्या के सम्बन्ध में आवश्यक विषयो का—महाव्रत, अनुप्रेक्षा आदि का भी सरल भाषा में वणन किया गया है । हेमचन्द्र के योगशास्त्र के आधारभूत ग्रन्थ के रूप में भी ज्ञानार्णव का महत्त्व है । इसके दो सस्करण प्रकाशित हो चुके है ।

[प प्रेमीजी के जैन साहित्य और इतिहास में शुभचन्द्र पर एक निबन्ध है ।]

वसुनन्दि

इनका उपासकाध्ययन नामक प्राकृत ग्रन्थ वसुनन्दि श्रावकाचार के नाम से भी प्रसिद्ध है । श्रावको की ग्यारह प्रतिमाओ का विशद वर्णन इसमें प्राप्त होता है । विशेष रूप से जिनपूजा और जिनबिम्बप्रतिष्ठा का महत्त्व इसमे प्रतिपादित हुआ है । इस विषय

पर सस्कृत में वसुनन्दि का प्रतिष्ठापाठ भी प्रकाशित हुआ है। उपासकाध्ययन में इनकी गुरुपरम्परा इस प्रकार दी है—कुन्दकुन्दान्वय में श्रीनन्दि के शिष्य नयनन्दि हुए, उनके शिष्य नेमिचन्द्र वसुनन्दि के गुरु थे। समन्तभद्र कृत आप्तमीमासा तथा जिनशतक एव वट्टकेर कृत मूलाचार पर वसुनन्दि की विस्तृत सस्कृत टीकाएँ प्रकाशित हुई हैं। इनसे तर्क, काव्य और आगम के उनके विस्तृत अध्ययन का परिचय मिलता है।

[प हीरालालजी द्वारा सम्पादित श्रावकाचार की प्रस्तावना में वसुनन्दि के विषय में विवेचन किया गया है।]

कनकामर

ये मगलदेव के शिष्य थे। आसाइय नगर में लिखित करकण्डुचरित नामक अपभ्रश काव्य के ये कर्ता हैं। इस काव्य में पाश्वनाथ और महावीर के मध्यवर्ती समय में हुए प्रत्येकबुद्ध राजर्षि करकण्डु की रोमाचपूर्ण कथा वर्णित है। विशेष महत्त्व की बात यह है कि इसमे महाराष्ट्र के उस्मानाबाद जिले में स्थित धाराशिव की गुहाओ का करकण्डु द्वारा निर्मित रूप मे वर्णन है। यहा की पाश्वनाथ-मूर्ति अग्गलदेव के नाम से मध्ययुग में प्रसिद्ध थी। इस काव्य के दो सस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

[डॉ हीरालाल जैन ने इस काव्य की प्रस्तावना में कनकामर और धाराशिव की गुहाओ का विस्तृत परिचय दिया है।]

अन्य आचार्य

इस शताब्दी के साहित्य और शिलालेखो से ज्ञात होनेवाले प्रमुख आचार्यों का परिचय अबतक प्रस्तुत किया। शिलालेखों से ज्ञात होनेवाले इस शताब्दी के अन्य आचार्यों का सक्षिप्त विवरण आगे दिया जा रहा है।

अनन्तवीर्य

मैसूर प्रदेश के कूडगु जिले मे स्थिति पेग्गूर ग्राम के शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। ये बेलगोल के वीरसेन के शिष्य गोणसेन के शिष्य थे। गग वश के राजा राजमल्ल के शासनकाल में सन् ९७७ मे इन्हे पेग्गूर के जिनमन्दिर के लिए कुछ दान दिया गया था। इसका शिलालेख चन्द्रनन्दि ने लिखा था।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख १५४]

कनकप्रभ

मैसूर प्रदेश के बेलगाँव जिले में स्थित येडरावी ग्राम से प्राप्त शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। सन् ९७९ में वहाँ के जिनमन्दिर के लिए बारह ग्रामप्रमुखो ने इन्हे कुछ भूमि प्रदान की थी।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग ५, लेख १८]

रविचन्द्र

मैसूर प्रदेश के गुब्बि तालुके में स्थित बिदरे ग्राम से प्राप्त समाधिलेख के अनुसार रविचन्द्र का स्वगवास सन ९७९ में हुआ था। ये त्रिलोकचन्द्र के शिष्य थे। इनके स्मृतिलेख की स्थापना भानुकीर्ति ने की थी।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख १५८]

बाहुबली

मैसूर प्रदेश के सौन्दत्ती नगर से प्राप्त सन् ९८० के लेख के अनुसार सामन्त शान्तिवर्मा ने वहाँ के जिनमन्दिर के लिए कण्डूर गण के प्रधान आचाय बाहुबली को भूमिदान दिया था। लेख के अनुसार ये व्याकरण और तर्कशास्त्र के विशिष्ट विद्वान् थे। इसी लेख मे रविचन्द्र, अर्हणन्दि, शुभचन्द्र, मौनिदेव तथा प्रभाचन्द्र इन आचार्यों के प्रशसात्मक श्लोक भी हैं।

[उपयुक्त, लेख १६०]

गुणवीर

तमिलनाडु प्रदेश के उत्तर अर्काट जिले में स्थित तिरुमलै नामक पहाडी स्थान से प्राप्त शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। चोल वश के राजा राजराज के शासन काल में उत्कीण इस लेख के अनुसार महामुनि गुणवीर ने गणिशेखर मरुपोचुरियन् की स्मृति में एक नहर का निर्माण कराया था। इसी प्रदेश के दक्षिण अर्काट ज़िले में स्थित चोलवाण्डिपुरम् ग्राम से प्राप्त शिलालेख में भी गुणवीर का नामोल्लेख है। यहाँ की पहाडी पर उत्कीण महावीर, पाश्वनाथ, गोम्मटदेव, बाहुबली तथा पद्मावती की मूर्तियो की पूजा के लिए गुणवीर भट्टारक को कुछ दान दिया गया था। इसमें गुणवीर के निवास स्थान का नाम कुरण्डि बताया है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख १७१ तथा भाग ४, लेख ८]

कुलचन्द्र-यशोनन्दि

उडीसा के प्रसिद्ध तीर्थस्थान खण्डगिरि के दो शिलालेखो से इनका परिचय मिलता है। समय निश्चित न होने पर भी अक्षरो की बनावट के आधार पर ये लेख सन् १००० के आसपास के माने गये है। देशी गण के आचाय कुलचन्द्र के शिष्य शुभ-चन्द का इन लेखो में नामोल्लेख है। इनसे ज्ञात होता है कि खारवेल द्वारा प्रवतित जैनधम के सम्मान की परम्परा उडीसा में दसवी शताब्दी में भी जीवित थी। यहीं के एक अन्य लेख में यशोनन्दि द्वारा यहा के प्राचीन स्थानो के जीर्णोद्धार का वर्णन है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग ४, लेख ९३-९५]

अनन्तवीर्य

मैसूर प्रदेश के विजापुर जिले में स्थित मरोल ग्राम से प्राप्त सन् १०२४ के शिलालेख में इनकी विस्तृत प्रशसा प्राप्त होती है। चालुक्य सम्राट् सत्याश्रय की कन्या महादेवी द्वारा इस ग्राम के जिनमन्दिर के लिए दिये गये दान के प्रसग में यह लेख खुदवाया गया था। इसके अनुसार अनन्तवीय व्याकरण, कोश, छन्द, गणित, ज्योतिष आदि कई शास्त्रो मे पारगत थे। इनके बाद के गुणकीर्ति और देवकीर्ति का तथा पूव के कई आचार्यों का भी वणन लेख मे है।

[जैनिज्म इन साउथ इण्डिया, पृ १०५]

कनकनन्दि

मैसूर प्रदेश के रायचूर जिले मे स्थित मस्की ग्राम से प्राप्त सन् १०३२ के लेख में इनका वणन मिलता है। इस ग्राम को उस समय राजधानी होने का गौरव प्राप्त हुआ था तथा चालुक्य सम्राट् जगदेकमल्ल की कन्या सोमलदेवी वहाँ शासन कर रही थी। सम्राट् के नाम पर वहाँ का मन्दिर जगदेकमल्ल जिनालय कहलाता था। इसके लिए सोमलदेवी ने भूमि दान दी थी। लेख में कनकनन्दि को अष्टोपवासी कहा गया है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग ४, लेख १२६]

बालचन्द्र

मैसूर प्रदेश के बेलगाँव जिले में स्थित हूलि ग्राम के सन् १०४४ के लेख में इनका वणन है। इस समय वहा के शासक की पत्नी लच्छियब्बे ने उक्त ग्राम में एक जिनमन्दिर का निर्माण कराया था तथा उसके लिए बालचन्द्र को दान दिया था। लेख के अनुसार ये यापनीय सघ के आचाय थे।

[उपयुक्त, लेख १३०]

गोवर्धन

मैसूर प्रदेश के धारवाड जिले में स्थित मुगद ग्राम से प्राप्त सन् १०४५ के शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। चावुण्ड नामक ग्रामप्रमुख ने वहाँ सम्यक्त्व-रत्नाकर नामक जिनमन्दिर बनवाया था तथा उसके लिए गोवधन को भूमिदान दिया था। गोवधन कुमुदि गण के आचाय थे। इनकी परम्परा के बहुत से आचार्यों के नाम लेख में मिलते है किन्तु बीच-बीच में लेख टूटा होने से इनका परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट नही होता।

[जैनिज्म इन साउथ इण्डिया, पृ १४२]

नागसेन

मैसूर प्रदेश के विजापुर जिले में स्थित अरसिबीडि नगर से प्राप्त सन् १०४७ के शिलालेख मे इनका वणन है। चालुक्य सम्राट् जयसिंह (द्वितीय) की बहन अक्कादेवी ने उसके नाम पर निर्मित जिनमन्दिर के लिए सेनगण के आचाय नागसेन को कुछ भूमि प्रदान की थी।

[उपयुक्त, पृ १०५]

केशवनन्दि

मैसूर प्रदेश के शिकारपुर तालुके के बेलगामि ग्राम के सन् १०४८ के शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। ये बलगार गण के मेघनन्दि आचार्य के शिष्य थे। इन्हें अष्टोपवासी कहा गया है। उक्त ग्राम के शान्तिनाथ जिनालय के लिए इन्हे महासामन्त चावुण्डराय ने भूमिदान दिया था।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख १८१]

महासेन

मैसूर प्रदेश के विजापुर ज़िले में स्थित होनवाड ग्राम से प्राप्त सन १०५४ के शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। अनेक राजाओ द्वारा सम्मानित सेनगण के आचार्य ब्रह्मसेन के शिष्य आर्यसेन के ये शिष्य थे। चालुक्य सम्राट् त्रैलोक्यमल्ल के सामन्त चाकिराज ने होनवाड में शान्तिनाथ मन्दिर का निर्माण कराया था तथा उसके लिए अपने गुरु महासेन को भूमि आदि दान दिया था।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख १८६]

इन्द्रकीर्ति

मैसूर प्रदेश के बल्लारी ज़िले में स्थित कोगलि ग्राम के सन् १०५५ के शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। इस स्थान के जिनमन्दिर का निर्माण राजा दुर्विनीत ने किया था। यहाँ के शास्त्राभ्यास की सुविधाएँ बढाने के लिए इन्द्रकीर्ति ने भूमि आदि दान दिया था। ये देशी गण के आचाय थे। लेख में इन्हे सम्राट् त्रैलोक्यमल्ल की सभा के भूषण, कवियो के गुरु, सब शास्त्रो के ज्ञाता तथा कोकलिपुर के स्वामी कहा गया है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग ४, लेख १४१]

गुणसेन

मैसूर प्रदेश के कूडगु ज़िले में स्थित मुल्लूर ग्राम से प्राप्त अनेक शिलालेखो से इनका परिचय मिलता है। कोगाल्व वश के राजा राजेन्द्र ने अपने पिता द्वारा निर्मित जिनमन्दिर के लिए गुणसेन को भूमिदान दिया था। सन् १०५८ के इस लेख में इन्हे द्रविड गण के आचाय कहा गया है। इस राजा की माता पोचव्वरसि तथा पुत्र ने भी इन्हे दान दिया था। गुणसेन ने उक्त स्थान में नगर के व्यापारी समूह की ओर से एक वापी का निर्माण कराया था ऐसा एक अन्य लेख से ज्ञात होता है। इस स्थान के जिन-मन्दिर के सम्मुख गुणसेन के गुरु पुष्पसेन के चरणचिह्न स्थापित है। श्रवणबेलगोल के मल्लिषेण-प्रशस्ति शिलालेख में भी गुणसेन की प्रशसा में एक श्लोक है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख १७७, १८८ से १९२]

सकलचन्द्र व माधवसेन

मैसूर प्रदेश के शिवमोग्गा ज़िले में स्थित तीर्थस्थान हुम्मच से प्राप्त सन् १०६२ के लेख से इनका परिचय मिलता है। राजा वीरसान्तर और पट्टणस्वामी नोक्क ने नोक्क द्वारा निर्मित जिनमन्दिर के लिए इन्हें भूमि आदि दान दिया था। इस विस्तृत शिलालेख की रचना सकलचन्द्र के शिष्य मल्लिनाथ ने की थी। लेख में पट्टणस्वामी के गुरु के रूप में दिवाकरनन्दि का नाम भी उल्लिखित है। पट्टणस्वामी की विस्तृत प्रशसा में उनके द्वारा स्थापित रत्नमूर्तियो और खुदवाये गये तालाबो का विवरण भी है। हुम्मच के इसी वष के एक अन्य लेख में राजा वीरसान्तर की पत्नी चागलदेवी द्वारा देवीमन्दिर के तोरणद्वार के निर्माण का वणन है। इस मन्दिर के लिए माधवसेन गुरु को भूमि आदि दान दिया गया था।

[उपर्युक्त, लेख १९७-९८]

अभयचन्द्र

होयसल वश के राजा विनयादित्य ने सन् १०६२ में मूलसघ के आचाय अभयचन्द्र को भूमि आदि दान दिया था। मैसूर के निकट तोललु ग्राम से प्राप्त शिला-लेख से यह विवरण ज्ञात हुआ है। इस ग्राम के दो नागरिको मुद्दगौड और तिप्पगौड ने भी आचार्य को कुछ भूमि अर्पित की थी यह भी लेख में कहा गया है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग ४, लेख १४५]

कनकनन्दि

मैसूर प्रदेश के शिवमोग्गा ज़िले के तीर्थ-स्थान हुम्मच से प्राप्त सन् १०६५ के लेख से इनका परिचय मिलता है। वहाँ के राजा भुजबल सान्तर ने स्वनिर्मित जिन-मन्दिर के लिए अपने गुरु कनकनन्दि को एक ग्राम दान दिया ऐसा लेख में वणन है।

[उपर्युक्त, भाग २, लेख २०३]

शान्तिनन्दि व माघनन्दि

मैसूर प्रदेश के धारवाड जिले में स्थित मोटेबेन्नूर ग्राम से प्राप्त सन् १०६६ के शिलालेख में शान्तिनन्दि का वर्णन है। उक्त ग्राम में आयचिमय्य द्वारा निर्मित जिनमन्दिर के लिए महासामन्त लक्ष्मरस ने इन्हे भूमिदान दिया था। ये चन्द्रिकवाट अन्वय के आचाय थे। महासामन्त लक्ष्मरस के ही दूसरे दानलेख की तिथि सन् १०६८ है, यह शिकारपुर तालुके के बलगावे से प्राप्त हुआ है। इसमे तालकोल अन्वय के आचाय माघनन्दि को राजधानी बलिगावे के जिनमन्दिर के लिए भूमिदान दिये जाने का वर्णन है। इस विस्तृत लेख में लक्ष्मरस के परिवार और माघनन्दि की पूव-परम्परा का विवरण भी मिलता है।

[उपर्युक्त, भाग ४, लेख १४७ तथा भाग २, लेख २०४]

त्रिभुवनचन्द्र

मैसूर प्रदेश के धारवाड जिले में स्थित अण्णिगेरि व गावरवाड ग्रामो के विस्तृत शिलालेख का उल्लेख ऊपर आ चुका है। गग राजा बूतुग द्वारा निर्मित यहाँ का जिन-मन्दिर चोल राजाओ के आक्रमण के समय खण्डित हुआ था। बाद में जब यहा चालुक्य सम्राटो की शक्ति सुदृढ हुई तो इस प्रदेश में नियुक्त महामण्डलेश्वर लक्ष्मरस ने उपर्युक्त मन्दिर का जीर्णोद्धार किया तथा इसकी देखभाल के लिए आचाय त्रिभुवनचन्द्र को सन् १०७१ में समुचित दान दिया था। इस प्रदेश के दूसरे शासक काटरस ने भी सन् १०७२ में त्रिभुवनचन्द्र को दान दिया था। लेख के अनुसार ये आचाय मन्त्रवाद में निपुणता के कारण विद्वानो द्वारा पूजित हुए थे। सुप्रसिद्ध तीर्थस्थान लक्ष्मेश्वर से प्राप्त एक लेख में भी इनका उल्लेख है। इस लेख के अनुसार महासामन्त जयकेशी ने सन् १०७४ में लक्ष्मेश्वर की बसदि के दशन किये थे तथा आचार्य के आग्रह से उसे पुर के रूप में मान्यता दी थी।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग ४, लेख १५४-५५,१५७]

श्रीवीर निर्वाण संवत् की सत्रहवीं शताब्दी

[ईसवी सन् १०७३ से ११७३]

अजितसेन (द्वितीय)

मैसूर प्रदेश के अनेक शिलालेखो मे द्राविड सघ के आचाय अजितसेन का वणन मिलता है। शिवमोग्गा जिले के प्रसिद्ध तीर्थ हुम्मच में प्राप्त सन १०७७ के लेख में इन्हे शब्दचतुमुख, तार्किकचक्रवर्ती और वादीभसिंह ये उपाधिया दी गयी है। लेख का उद्देश्य सान्तर वश के राजा विक्रमसान्तर देव द्वारा पचबसदि नाम से प्रसिद्ध जिनमन्दिर के निर्माण का वणन करना है। इसके लिए अजितसेन के गुरुबन्धु कुमारसेन के शिष्य श्रेयान्स पण्डितदेव को भूमि दान दी गयी थी। इसी स्थान के सन् १०८७ के एक लेख के अनुसार विक्रमसान्तर ने अजितसेन को कुछ गाँव दान दिये थे जिससे उपयुक्त मन्दिर की देखभाल हो सके। हुम्मच के समीपवर्ती दानसाले ग्राम से प्राप्त सन् ११०३ के लेख में अजितसेन के शिष्य सान्तरवशीय तैलुग द्वारा •एक जिनमन्दिर के निर्माण का वर्णन है। श्रवणबेलगोल के समीपवर्ती चामराज नगर से प्राप्त सन् १११७ के शिलालेख में वणन है कि होयसल वश के राजा विष्णुवधन के सेनापति पुणिसमय्य अजितमेन के शिष्य थे। इन्होने इस प्रदेश मे अनेक जिनमन्दिर बनवाये थे।

श्रवणबेलगोल के चन्द्रगिरि पर्वत पर पाश्वनाथ बसति में अजितसेन के शिष्य मल्लिषेण की स्मृति मे स्थापित स्तम्भ है। इनका स्वर्गवास सन् ११२८ में हुआ था। इस स्तम्भ पर ७२ श्लोको की एक सुन्दर प्रशस्ति खुदी है जिसमें दक्षिण भारत के प्रमुख जैन आचार्यों का इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूण वर्णन प्राप्त होता है जिसका पहले कई बार उल्लेख हो चुका है। इस लेख में अजितसेन के दो शिष्यो—कविताकान्त शान्तिनाथ और वादिकोलाहल पद्मनाभ की प्रशसा भी मिलती है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख २१४, २२६, २४८, २६४ तथा भाग १, लेख ५४]

नरेन्द्रसेन और नयसेन (द्वितीय)

ऊपर मुलगुन्द नगर के आचार्य नरेन्द्रसेन और उनके शिष्य नयसेन का परिचय आया है। समीपवर्ती तीथस्थान लक्ष्मेश्वर से प्राप्त एक विस्तृत शिलालेख से नयसेन के शिष्य नरेन्द्रसेन (द्वितीय) का परिचय मिलता है। चालुक्य सम्राट त्रिभुवनमल्ल के

अधीन महासामन्त एरेमय्य के बन्धु द्रोण ने इन्हे भूमिदान दिया था। इस दान की तिथि सन् १०८१ मे पडती है। लेख में नरेन्द्रसेन को राजपूजित, शास्त्रपारगत तथा नयी कल्पनाओ में भारवि के समान निपुण कहा गया है।

नरेन्द्रसेन (द्वितीय) के शिष्य नयसेन (द्वितीय) भी प्रख्यात ग्रन्थकर्ता थे। कन्नड भाषा में धर्मामृत नामक ग्रन्थ की रचना इन्होने मुलगुन्द नगर में सन् ११११२ के आसपास की थी। इसके कई सस्करण प्रकाशित हुए है। अनेक कथाओ से सुशोभित इस ग्रन्थ में श्रावको के धर्माचरण का विस्तृत वणन मिलता है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग ४, लेख १६५, जैनिज्म इन साउथ इण्डिया, पृ १३५-६]

चतुर्मुखदेव व उनका शिष्यमण्डल

श्रवणबेलगोल के चन्द्रगिरि पर्वत पर स्थित कत्तलेबसति नामक जिनमन्दिर के निकट स्थापित एक स्तम्भ पर एक विस्तृत लेख उत्कीण है जिससे इस प्रदेश के अनेक प्रभावशाली आचार्यो का परिचय प्राप्त होता है।

इसमें सवप्रथम कुन्दकुन्दाचाय की परम्परा में देशीय गण के प्रमुख देवेन्द्र सिद्धान्तदेव के शिष्य चतुर्मुखदेव का वणन है। इनका मूल नाम वृषभनन्दि था। एकेक दिशा के सम्मुख ध्यानस्थित होकर इन्होने आठ-आठ उपवास किये थे इससे ये चतुमुख-देव कहलाये। इनके चौरासी शिष्य थे।

चतुर्मुखदेव के शिष्यो में सवप्रथम गोपनन्दि की विस्तृत प्रशसा की गयी है। इन्होने अनेक वादियो पर विजय प्राप्त किया था तथा धूजटि के कुटिल मत को ध्वस्त कर दिया था। श्रवणबेलगोल से चार मील दूर हलेबेलगोल ग्राम मे प्राप्त एक लेख में भी गोपनन्दि की प्रशसा के ऐसे ही श्लोक है। इस लेख के अनुसार होयसल वश के राजकुमार एरेयग गोपनन्दि के शिष्य थे। उन्होने सन् १०९३ मे जिनमन्दिरो के जीर्णो-द्धार आदि के लिए तेरह ग्राम गुरु को समर्पित किये थे।

गोपनन्दि के गुरुबन्धु दामनन्दि भी प्रख्यात वादी थे। इन्होने विष्णुभट्ट नामक वादी को परास्त किया था। इनका पुराणसारसग्रह नामक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है। आयज्ञानतिलक नामक ग्रन्थ के कर्ता भट्ट वोसरि ने इनका गुरुरूप मे स्मरण किया है।

इनके गुरुबन्धु मलधारी गुणचन्द्र थे जो बलिपुर के मल्लिकामोद शान्तिनाथ-मन्दिर के प्रमुख थे।

इनके गुरुबन्धु माघनन्दि सिद्धान्त, तक और व्याकरण में प्रवीण थे।

इनके गुरुबन्धु जिनचन्द्र व्याकरण में पूज्यपाद के समान, तर्क में अकलक के समान तथा साहित्य में भारवि के समान प्रसिद्ध हुए थे।

इनके गुरुबन्धु देवेन्द्र बकापुर के मुनियो में प्रमुख तथा सिद्धान्त के ज्ञाता थे।

इनके गुरुबन्धु वासवचन्द्र तर्कशास्त्र में पारगत थे। इन्हे चालुक्य राजसभा में बालसरस्वती यह विरुद प्राप्त हुआ था।

इनके बन्धु यश कीर्ति भी प्रसिद्ध वादी थे। सिंहलद्वीप के राजा ने इनका सम्मान किया था।

उपर्युक्त गोपनन्दि आचार्य के शिष्यो का भी इस लेख मे वर्णन किया गया है। त्रिमुष्टि मुनि का नाम इनमें प्रथम है। ये केवल तीन मुट्ठी आहार लिया करते थे। हेमचन्द्र, गण्डविमुक्त, गौलमुनि तथा शुभकीर्ति इनके गुरुबन्धु थे।

इनके एक और गुरुबन्धु कल्याणकीर्ति थे जो शाकिनी आदि भूत-प्रेतो की बाधा दूर करते थे।

अन्त में इनके गुरुबन्धु बालचन्द्र की प्रशसा है। ये आगम, अध्यात्म, व्याकरण, साहित्य आदि में पारगत महान् विद्वान् थे।

इस प्रकार चतुर्मुखदेव के शिष्यमण्डल ने इस प्रदेश में अपनी बहुमुखी गतिविधियो द्वारा आदर और सम्मान प्राप्त किया था।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग १, लेख ५५ तथा ४९२]

मेघचन्द्र, वीरनन्दि व प्रभाचन्द्र

श्रवणबेलगोल के चन्द्रगिरि पवत पर मेघचन्द्र का स्मारक स्तम्भ है। इनकी गुरुपम्परा का विस्तृत वणन इस स्तम्भ के शिलालेख में है। चन्दिल वश के एक राजा गोल्ल प्रदेश का राज्य छोडकर मुनि हुए थे तथा गोल्लाचार्य नाम से प्रसिद्ध हुए थे। इनके शिष्य त्रैकाल्ययोगी हुए जिन्होने एक ब्रह्मराक्षस को शिष्य बनाया था। उनके शिष्य अभयनन्दि हुए। उनके शिष्य सकलचन्द्र ही मेघचन्द्र के गुरु थे। लेख में सिद्धान्त, तक और व्याकरण में निपुणता के कारण मेघचन्द्र को त्रैविद्य यह पद दिया गया है। इनका स्वगवास सन् १११५ में हुआ था। इनकी समाधि की प्रतिष्ठा होयसल वश के राजा विष्णुवधन के सेनापति गगराज की पत्नी लक्ष्मीमती ने करवायी थी।

मेघचन्द्र के शिष्य प्रभाचन्द्र का श्रवणबेलगोल के अनेक लेखो मे वणन है। राजा विष्णुवर्धन की रानी शान्तलदेवी ने श्रवणबेलगोल में चन्द्रगिरि पवत पर जिन-मन्दिर बनवाकर उसके लिए प्रभाचन्द्र को एक ग्राम दान दिया था। शान्तलदेवी का समाधिमरण सन् ११२८ में शिवगगा में हुआ था तब उपस्थित गुरुओ में भी प्रभाचन्द्र का नाम दिया है। श्रवणबेलगोल के समीपवर्ती मुत्तत्ति ग्राम से प्राप्त एक लेख में राजा विष्णुवधन के सेनापति विनयादित्य द्वारा निर्मित जिनालय के लिए प्रभाचन्द्र को कुछ भूमि दान दिये जाने का वर्णन है। प्रभाचन्द्र का स्वर्गवास सन् ११४६ में हुआ था।

प्रभाचन्द्र के गुरुबन्धु वीरनन्दि का भी अनेक लेखो में वर्णन है। इनका सस्कृत ग्रन्थ आचारसार प्रकाशित हो चुका है। इस पर इन्होने स्वय सन् ११५४ में कन्नड

व्याख्या लिखी थी । इनके कहने से नेमिनाथ नामक विद्वान् ने सोमदेव के नीतिवाक्यामृत पर कन्नड व्याख्या लिखी थी ।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग १ में इन आचार्यों से सम्बद्ध लेख प्राप्त होते हैं ।]

प्रभाचन्द्र

ये मडुव गण के रामचन्द्र आचाय के शिष्य थे । इन्हे त्रैविद्य, प्रसिद्ध मन्त्रवादी तथा वीरपुर तीथ के प्रमुख कहा गया है । चालुक्य वश के सम्राट् विक्रमादित्य (षष्ठ) त्रिभुवनमल्ल के शासनकाल में सन् ११२४ में सेडिम्ब ग्राम के तीन सौ महाजनो ने ग्राम मे शान्तिनाथ-जिनमन्दिर का निर्माण कराकर उसके लिए प्रभाचन्द्र को भूमिदान दिया था । महत्त्व की बात यह है कि ये तीन सौ महाजन वैष्णव वेदपाठी ब्राह्मण थे और यह अभिमानपूवक कहते थे कि उनके मन्त्रो के प्रभाव से काचीनगर जीता गया था। सम्भवत प्रभाचन्द्र की मन्त्रनिपुणता से प्रसन्न होकर इन ब्राह्मणो ने यह मन्दिर बनवाया था । मैसूर प्रदेश के गुलबर्गा जिले मे स्थित सेडम ग्राम (उपर्युक्त सेडिम्ब) में उक्त जीण मन्दिर में प्राप्त लेख में यह विवरण मिलता है ।

[जैनिज्म इन साउथ इण्डिया में डॉ देसाई ने इस लेख का सम्पादन किया है ।]

माघनन्दि

महाराष्ट्र में कोल्हापुर के पुरातन जिनमन्दिर से सम्बद्ध कई शिलालेखो से माघनन्दि का परिचय मिलता है । सागली ज़िले में तेरदाल नगर से प्राप्त लेख इनमें सबसे विस्तृत है । सन ११२३ में इस नगर में गोक नामक सामन्त ने एक जिनमन्दिर का निर्माण कर उसकी रक्षा के लिए कुछ भूमि दान दी थी । इस अवसर पर रट्ट वश के राजा कातवीय भी उपस्थित थे । लेख में माघनन्दि के गुरु का नाम कुलचन्द्र बताया है । माघनन्दि के शिष्यो के नाम इस प्रकार बताये है—कनकनन्दि, श्रुतकीर्ति, चन्द्र-कीर्ति, प्रभाचन्द्र और वधमान । महासामन्त निम्बदेव भी माघनन्दि के शिष्य थे। इन्होने कवडेगोल्ल नगर में एक जिनालय बनवाया था। इसकी रक्षा के लिए सन् ११३५ में श्रुतकीर्ति को कुछ भूमि अर्पित की गयी थी। श्रवणबेलगोल के चन्द्रगिरि पर्वत के शिलालेख क्र ४० (सन् ११६३) में माघनन्दि की विस्तृत प्रशसा है। इसमें उनके शिष्य गण्डविमुक्त के शिष्य देवकीर्ति के स्वगवास का उल्लेख है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग १, लेख ४०, भाग २, लेख २८० तथा भाग ४, लेख २२१ ।]

पद्मनन्दि

कोल्हापुर के महासामन्त निम्बदेव द्वारा सम्मानित आचाय पद्मनन्दि का पद्म-नन्दि पचविंशति नामक ग्रन्थ सुप्रसिद्ध है। इसके २५ प्रकरणो में दो प्राकृत मे और

शेष सस्कृत में है तथा इनमें मुनि और श्रावको के आचार-विचारो का हृदयग्राही वर्णन है। इसके कई सस्करण प्रकाशित हो चुके है तथा कुछ प्रकरणो का अलग-अलग प्रकाशन भी हुआ है। आचार्य ने अपने गुरु का नाम वीरनन्दि बताया है।

[जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर के सस्करण में डॉ॰ उपाध्येजी ने ग्रन्थकर्ता का विस्तृत परिचय दिया है।]

शुभचन्द्र

ये देशी गण के गण्डविमुक्त मलधारिदेव के शिष्य थे। होयसल वश के राजा विष्णुवधन के सेनापति गगराज की इन पर बडी श्रद्धा थी। श्रवणबेलगोल की दोनो पहाडियो पर गगराज ने मन्दिरो और मूर्तियो की प्रतिष्ठा करायी। उनके स्मृति लेखो में शुभचन्द्र का आदरसहित उल्लेख है। गगराज की माता पोचिकव्वे, पत्नी लक्ष्मीमती, मित्र बूचिराज आदि के स्मृति लेखो में भी इनका उल्लेख है। इनका स्वगवास सन् ११२३ में हुआ था।

[जैन शिलालेख सग्रह, भा १ में शुभचन्द्र सम्बन्धी १८ लेख है।]

श्रीपाल

ये द्राविड सघ के आचार्य थे। श्रवणबेलगोल के समीप चल्लग्राम से प्राप्त सन् ११२५ के एक लेख के अनुसार होयसल वश के राजा विष्णुवधन ने इन्हें यह ग्राम दान दिया था। बेलूर मे प्राप्त एक शिलालेख में भी इनकी विस्तृत प्रशसा मिलती है। इसके अनुसार विष्णुवधन के सेनापति बिट्टियण्ण ने सन् ११३७ में एक जिनमन्दिर का निर्माण किया तथा उसके लिए श्रीपाल को एक ग्राम दान दिया था। इसमें श्रीपाल को तार्किकचक्रवर्ती और वादीभसिंह ये विशेषण दिये है। इनके शिष्य वासुपूज्य का वणन सन ११७३ के लेख में मिलता है। राजा वीरबल्लाल के मन्त्री बूचिमय्य ने हासन तालुके के मकुली ग्राम में एक जिनमन्दिर बनवाकर उसकी देखभाल के लिए उस ग्राम की आय वासुपूज्य को अर्पित की थी।

[जैन शिलालेख सग्रह, भा १, लेख ४९३ तथा भाग ३, लेख ३०५, ३७९]

भानुकीर्ति

क्राणूर गण के आचार्य भानुकीर्ति का परिचय मैसूर प्रदेश के आठ शिलालेखो से मिलता है। ये मुनिचन्द्र के शिष्य थे तथा प्रसिद्ध मन्त्रवादी के रूप में इनकी प्रशसा की गयी है।

सन् ११३९ में सम्राट् जगदेकमल्ल के सामन्त एक्कल ने कनकजिनालय नामक मन्दिर के लिए इन्हें दान दिया था ऐसी जानकारी वुद्रि ग्राम से प्राप्त लेख मे मिलती है। कसलगेरि ग्राम के सन् ११४२ के लेख मे राजा विष्णुवधन के सामन्त सोम के गुरु

के रूप में भानुकीर्ति का नाम है। सोम ने एक जिनमन्दिर बनवाया था। हेरेकेरी ग्राम के सन् ११५९ के लेख के अनुसार राजा तैलप सान्तर की पौत्री अलियादेवी ने सेतु ग्राम के जिनमन्दिर के लिए भानुकीर्ति को दान दिया था। तेवरतेप्प ग्राम के सन् ११७१ के लेख में राजा सोविदेव के अधीन उस ग्राम के प्रमुख लोकगौंड द्वारा एक जिनमन्दिर के निर्माण का तथा उसके लिए भानुकीर्ति को दान दिये जाने का वणन है। एलेवाल ग्राम के सन् ११७६ के लेख में एकिसेट्टि द्वारा शान्तिनाथ मन्दिर के निर्माण का तथा उसके लिए भानुकीर्ति को दान दिये जाने का वर्णन है।

चिक्कमागडि के सन् ११८२ के लेख में भानुकीर्ति के शिष्य नयकीर्ति का, बन्दलिके के सन् १२०३ के लेख में उनमें शिष्य शकरसेट्टि का तथा सन् १२०७ के हुचि ग्राम के लेख मे उनके एक और शिष्य अनन्तकीर्ति का गौरवसहित उल्लेख मिलता है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग ३, लेख ३१३, ३१८, ३४९, ३७७, ३८९, ४०८, ४४८ तथा भाग ४, लेख ३२३]

नेमिचन्द्र

ये बृहद् गच्छ के उद्द्योतन सूरि के शिष्य आम्रदेव उपाध्याय के शिष्य थे। प्राकृत साहित्य में इनका प्रशसनीय योगदान रहा। उत्तराध्ययन सूत्र पर लगभग १२ हजार श्लोको जितने विस्तार की इनकी टीका है। इसकी अनेक कथाएँ सुन्दर साहित्यिक शैली में है अतएव पाठ्यग्रन्थो मे स्थान पाकर समादृत हुई है। रत्नचूडकथा और महावीरचरित (रचना सन् १०८५) ये इनके प्राकृत ग्रन्थ भी पठनीय है। आख्यानमणिकोश में इन्होने ५२ गाथाओ मे धर्माराधन के दृष्टान्त सकलित किये है जिसका विवरण १२७ कथाओ में प्राप्त है। पौराणिक और ऐतिहासिक महत्त्व की अनेक कथाओ का यह साहित्यिक सकलन बडा महत्त्वपूण है।

[आख्यानमणिकोश की प्रस्तावना मे मुनि पुण्यविजय ने नेमिचन्द्र का विस्तृत परिचय दिया है।]

देवभद्र

ये नवागवृत्तिकर्ता अभयदेव के शिष्य प्रसन्नचन्द्र के शिष्य थे। इनका पहला नाम गुणचन्द्र गणी था। प्राकृत साहित्य में इनके तीन ग्रन्थो का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनका कथारत्नकोष सन् ११०१ में पूर्ण हुआ था। इसमें धर्मोपदेश के दष्टान्तस्वरूप ५० कथाएँ हैं। दूसरा ग्रन्थ पार्श्वनाथचरित सन १११२ में भडौच मे पूर्ण हुआ था। महावीरचरित इनकी तीसरी प्राकृत रचना है। इसके अतिरिक्त तर्कशास्त्र पर प्रमाणप्रकाश नामक ग्रन्थ तथा कुछ स्तोत्रो की रचना भी इन्होने की थी।

[कथारत्नकोष की प्रस्तावना में मुनि पुण्यविजय ने देवभद्र का विस्तृत परिचय दिया है।]

अभयदेव व मलधारी हेमचन्द्र

प्रश्नवाहनकुल के हृषपुरीय गच्छ के आचाय जयसिंह शाकम्भरी मण्डल (अजमेर के समीपवर्ती प्रदेश) में प्रसिद्ध थे। इनके शिष्य अभयदेव हुए। ये दो ही वस्त्र धारण करते थे तथा घी को छोड अन्य सब विकृतियो का त्याग इन्होने किया था। बहुत समय से बन्द पडा हुआ ग्वालियर का जिनमन्दिर इनके आग्रह से वहाँ के राजा भुवनपाल ने खुलवाया था। मन्त्री शान्तू ने इनके उपदेश से भडौच के जिनमन्दिर पर सुवर्णकलश चढाये। अणहिलपुर में सिद्धराज जयसिंह ने इनका उपदेश सुनकर पर्वदिनो में जीववध बन्द करवाया। इनके सन्देश से पृथ्वीराज ने रणथम्भौर के जिनमन्दिर को सुवर्णकलश प्रदान किये। इनके अन्तिम सस्कार के लिए एकत्रित विशाल जनसमूह को देखकर सिद्धराज भी आश्चयचकित हुआ था।

अभयदेव के शिष्य मलधारी हेमचन्द्र प्रसिद्ध ग्रन्थकर्ता थे। अनुयोगद्वार, जीवसमास, शतक, आवश्यक इन प्राचीन ग्रन्थो पर इनकी विस्तृत व्याख्याएँ उपलब्ध है। भवभावना इनकी प्रसिद्ध रचना है। मेडता और छत्रपल्ली में लिखित यह कृति सन् ११२३ में पूर्ण हुई थी। यह इन्ही की उपदेशमाला की व्याख्या है जिसमें सुन्दर कथाओ के माध्यम से धम का उपदेश दिया है। इनका प्रवचन सुनने के लिए सिद्धराज स्वय सपरिवार जिनमन्दिर में उपस्थित होते थे। धन्धूका, सत्यपुर आदि मे जिनमन्दिरो के काय में अन्य धर्मियो द्वारा खडी की गयी बाधाएँ इनके उपदेश से सिद्धराज ने दूर करवायी तथा अनेक मन्दिरो पर सुवर्णकलश चढवाये। इन्होने एक विशाल सघ के साथ शत्रुजय और गिरनार की यात्रा की थी।

हेमचन्द्र के शिष्य श्रीचन्द्र ने आशापल्ली में सन् ११३६ में मुनिसुव्रतचरित नामक विस्तृत प्राकृत ग्रन्थ लिखा था। इनके दूसरे शिष्य विबुधचन्द्र के आग्रह से लक्ष्मण गणी ने मण्डलिपुरी में सुपार्श्वनाथचरित की रचना सन् ११४२ में की थी।

[सुपार्श्वनाथचरित की प्रस्तावना में उद्धृत मुनिसुव्रतचरित की प्रशस्ति से उपर्युक्त विवरण सकलित किया है।]

मुनिचन्द्र व देवसूरि

मुनिचन्द्र बृहद्गच्छ के यशोभद्र के शिष्य थे। ये अपने समय के प्रथितयश ग्रन्थकर्ता थे। हरिभद्र रचित अनेकान्तजयपताका, धमबिन्दु, उपदेशपद और ललितविस्तरा पर इनके टिप्पण प्राप्त है। स्वतन्त्र रूप से भी इन्होने अनुशासनाकुश, उपदेशामृत, मोक्षोपदेशपचाशिका, गाथाकोष, कालशतक आदि अनेक छोटे-छोटे प्रकरणो की रचना की है। ये उग्र तपस्वी के रूप में भी प्रसिद्ध थे। कहा गया है कि इन्होने आजीवन केवल काजी का ही आहार ग्रहण किया था।

मुनिचन्द्र के पट्टशिष्य देव प्रसिद्ध वादी थे और वादी देवसूरि इसी रूप में

उनका नाम विख्यात हुआ। इनका जन्म सन् १०८७ में हुआ था तथा ९ वर्ष की अवस्था में ही ये मुनि हुए। सन् १११८ में इन्हें सूरिपद प्राप्त हुआ। दक्षिण के प्रसिद्ध दिगम्बर विद्वान् कुमुदचन्द्र के साथ अणहिलपुर में राजा सिद्धराज जयसिह की सभा में इनका वाद हुआ था जिसका वर्णन अनेक ग्रन्थो में मिलता है। माणिक्यनन्दि के परीक्षा-मुख का परिवधन कर इन्होने प्रमाणनयतत्त्वालोक नामक सूत्रग्रन्थ लिखा और उस पर स्याद्वादरत्नाकर नामक बृहत्काय व्याख्या की रचना की। भारतीय दशन के क्षेत्र में उस समय प्रचलित प्राय सभी मान्यताओ का विस्तृत परीक्षण इस व्याख्या मे प्राप्त होता है। प्रारम्भिक विद्यार्थियो के लिए इसका सक्षेप रत्नाकरावतारिका इस नाम से इनके शिष्य रत्नप्रभ ने लिखा है। उपदेशमालावृत्ति और नेमिनाथचरित ये रत्नप्रभ की अन्य रचनाएँ भी प्राप्त है। राजस्थान में फलोधी और आरासण के जिनमन्दिर देवसूरि द्वारा प्रतिष्ठित माने जाते है। इनका स्वर्गवास सन् ११७० में हुआ था।

[प्रभावकचरित में इनकी कथा विस्तार से मिलती है।]

हेमचन्द्र

गुजरात में जैन समाज के गौरव का चरम उत्कष हेमचन्द्र के कृतित्व में प्रस्फुटित हुआ। धन्धूका नगर के वैश्य परिवार में सन् १०८८ में उनका जन्म हुआ था। बाल वय में ही देवचन्द्र के सघ में वे दीक्षित हुए और विविध शास्त्रो का अध्ययन पूण होने पर आयु के बाईसवें वष में ही उन्हे आचार्य पद प्राप्त हुआ। उस समय के गुजरात के यशस्वी राजा सिद्धराज जयसिह उनकी विद्वत्ता और काव्यप्रतिभा से अत्यधिक प्रभावित थे। उन्होने भोजराज के समय के विस्तृत साहित्य को धारा-विजय के अवसर पर देखा था और गुजरात के साहित्यिक इस क्षेत्र में बहुत पिछडे है यह देखकर वह व्यथित हुए थे। इस निमित्त से हेमचन्द्र ने गुजरात के साहित्य की श्रीवृद्धि का काय हाथ में लिया और सिद्धराज के सहयोग से उन्हे इसमें आशातीत सफलता मिली। सिद्धहेमशब्दानुशासन उनका पहला ग्रन्थ था जिसमें सस्कृत और प्राकृत भाषाओ के व्याकरण का विशद विवेचन है। इसका प्राकृत सम्बन्धी अध्याय विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसमें हेमचन्द्र ने पहली बार अपभ्रश को शास्त्रीय अध्ययन का विषय बनाया है। व्याकरण के साथ साहित्य के अध्ययन के अन्य अगो पर भी उन्होने ग्रन्थरचना की। अनेकार्यचिन्तामणि, देशीनाममाला, काव्यानुशासन तथा छन्दोनुशासन ये अपने-अपने क्षेत्र के महत्त्वपूण ग्रन्थ हैं।

विद्वत्ता के साथ ही सहृदयता और व्यवहारकुशलता भी उनमें थी। उनके जीवनसम्बन्धी आख्यानो में कितने ही जैनेतर विद्वानो के साथ सम्पक के वृत्तान्त मिलते है। अन्य सम्प्रदायो द्वारा जैनो पर किये गये आक्षेप भी वे इस प्रकार दूर करते थे जिससे कटुता दूर हो और सौमनस्य बढ़े।

पुत्रप्राप्ति की इच्छा से सिद्धराज ने जो तीर्थयात्रा की उसमें हेमचन्द्र उनके साथ रहे। शत्रुजय के आदीश्वर मन्दिर के लिए इस अवसर पर सिद्धराज ने बारह गाँव प्रदान किये थे। इसके पश्चात् गिरनार और सोमनाथ के दर्शन भी उन्होने किये थे।

गुजरात राज्य के उत्तराधिकार के इच्छुक कुमारपाल के प्रति सिद्धराज के मन मे तीव्र क्रोध था और उससे बचने के लिए कुमारपाल को साधुवेष में यहाँ-वहाँ भटकना पडा। इस अवधि में एक बार हेमचन्द्र के उपाश्रय में छिपकर प्राणरक्षा करनी पडी तब हेमचन्द्र ने उज्ज्वल भविष्य का आश्वासन देकर कुमारपाल को सान्त्वना दी थी। राजपद प्राप्त होने पर इस उपकार को स्मरण कर कुमारपाल ने हेमचन्द्र का आदरसहित दशन किया। इसके साथ ही उनके जीवन का दूसरा स्वर्णिम अध्याय प्रारम्भ हुआ। कुमारपाल ने राजधानी अणहिलपुर में तथा शत्रुजय, तारगा, भडौच आदि अनेक स्थानो में जिन-मन्दिर बनवाये तथा पुराने अनेक मन्दिरो का जीर्णोद्धार करवाया। कुमारपाल ने स्वय मासाहार का त्याग किया तथा नवरात्र आदि में देवताओ को दी जानेवाली पशुबलि पर प्रतिबन्ध लगाया। शत्रुजय और गिरनार की यात्रा भी कुमारपाल ने हेमचन्द्र के साथ की। इस अवधि में भी हेमचन्द्र ने कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित में उन्होने परम्परागत जैन पुराणकथाओ का वणन किया। इसके अन्तिम भाग में भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद छह शताब्दियो में हुए प्रमुख आचार्यों की जीवनकथाएँ भी है जो इतिहास की दृष्टि से विशेष महत्त्व की है। सिद्धहेम व्याकरण के नियमो के सब उदाहरण प्रस्तुत करने की दृष्टि से प्रारम्भ किया गया उनका द्वयाश्रय महाकाव्य भी इसी अवधि में पूण हुआ। इसमें चौलुक्य राजवश का इतिहास ही प्रमुख वर्ण्य विषय है। वीतरागस्तव, योगशास्त्र और प्रमाणमीमासा ये इस युग की उनकी अन्य रचनाएँ है। सन् ११७२ में उनका स्वर्गवास हुआ।

[जॉर्ज बुह्लर के लाइफ ऑफ हेमचन्द्राचार्य में हेमचन्द्र के साहित्य और उनके सम्बन्ध की कथाओ का विवेचन प्राप्त होता है। काव्यानुशासन, द्वयाश्रय काव्य, प्रमाणमीमासा आदि के विभिन्न सस्करणो की विस्तृत प्रस्तावनाएँ भी उपयोगी है।]

जिनवल्लभ

ये पहले आशी दुग में कूर्चपुरीय गच्छ के जिनेश्वर के शिष्य थे। सिद्धान्ता भ्यास के लिए अणहिलपुर में अभयदेव के पास काफी समय तक रहने के बाद ये भी उन्ही के खरतरगच्छ में सम्मिलित हुए। इन्होने ज्योतिष का विशेष अध्ययन किया था। चित्तौड में इनकी प्रेरणा से खरतरगच्छ का पहला मन्दिर बनवाया गया। धारा के राजा नरवर्मा ने समस्यापूर्ति से सन्तुष्ट होकर इनका सम्मान किया था। नागौर और नरवर में भी इन्होने मन्दिरो की प्रतिष्ठा सम्पन्न की। सन् १११० में इन्हे चित्तौड में सूरिपद प्राप्त हुआ किन्तु चार मास बाद ही इनका स्वगवास हुआ। सूक्ष्माथसिद्धान्त-

विचार, आगमिकवस्तुविचार आदि प्रकरणो के अतिरिक्त लगभग सौ स्तोत्रो की रचना भी इन्होने की थी।

जिनदत्त

इनका जन्म धोलका नगर में सन् १०७६ में हुआ था। ९ वष की आयु में इन्हे दीक्षा दी गयी। चित्तौड में सन् १११२ मे ये खरतरगच्छ के सूरिपद पर प्रतिष्ठित हुए। अजमेर में राजा अर्णोराज ने इनका सम्मान किया। वहाँ मन्दिर की प्रतिष्ठा भी इनके द्वारा सम्पन्न हुई। रुद्रपल्ली के निकट एक गाँव में एक श्रावक व्यन्तर से पीडित था। सूरिजी ने उसकी पीडामुक्ति के लिए गणधरसप्तति की रचना की जिसके प्रभाव से वह स्वस्थ हो गया। त्रिभुवनगिरि मे राजा कुमारपाल ने इनका सम्मान किया। विक्रमपुर, नागौर आदि मे भी इनका विहार हुआ था। सन् ११५५ में इनका स्वगवास हुआ। खरतरगच्छ के श्रावक अब भी विघ्नपरिहार के लिए इनके नाम का स्मरण करते है। उपदेशरसायन, कालस्वरूपकुलक, चचरी, सुगुरुपारतन्त्र्यस्तव आदि इनकी रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी है।

जिनचन्द्र

जिनदत्त ने विक्रमपुर मे सन् ११४९ मे इन्हें सूरिपद प्रदान किया था। त्रिभुवनगिरि, अजमेर, मरुकोट, सागरपाट आदि स्थानो में इनका विहार हुआ। इन्होने मथुरा की भी यात्रा की थी। चौरसिन्दानक ग्राम के पास जब ये सघसहित ठहरे थे तो मुसलमान सिपाहियो का एक दल वहाँ से गुज़रा किन्तु सूरिजी के मन्त्र-प्रभाव से वह दल सघ को देख नही पाया। दिल्ली में राजा मदनपाल ने इनका सम्मान किया था। यहाँ अधिबल नामक व्यन्तरदेव को मासबलि रोककर इन्होने उसे पाश्वनाथ मन्दिर के एक स्तम्भ में स्थापित किया था। सन् ११६६ में इनका स्वगवास हुआ।

[उपयुक्त तीन आचार्यों का परिचय बृहत् खरतरगच्छगुर्वावलि से लिया गया है।]

अन्य आचार्य

इस शताब्दी के शिलालेखो से ज्ञात अन्य आचार्यों का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

कुलचन्द्र

मैसूर प्रदेश के शिकारपुर तालुके में स्थित बन्दलिके ग्राम से प्राप्त सन् १०७४ के शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। ये क्राणूर गण के आचाय रामनन्दि के शिष्य थे। चालुक्य सम्राट् भुवनैकमल्ल के सामन्त उदयादित्य ने बन्दलिके के शान्तिनाथ मन्दिर का जीर्णोद्धार कर उसके लिए कुलचन्द्र को भूमिदान दिया था।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख २०७]

पद्मनन्दि

मैसूर प्रदेश के सोरब तालुके मे स्थित कुप्पटूर ग्राम के सन् १०७५ के शिलालेख से इनका परिचय मिलता है । ये क्राणूर गण के आचार्य थे । कुप्पटूर में इनके द्वारा जिनमन्दिर की प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई थी । इसके लिए कदम्ब वश के राजा कीर्तिदेव की रानी माकलदेवी ने भूमिदान दिया था ।

[उपर्युक्त, लेख २०९]

श्रीनन्दि

मैसूर प्रदेश के गुडिगेरी ग्राम से प्राप्त सन् १०७६ के शिलालेख से इनका परिचय मिलता है । लक्ष्मेश्वर के आनेसेज्ज बसति के अधिकार की भूमि का सरक्षण इनकी देखरेख में होता था । जिनपूजा और शास्त्रलेखन के लिए भूमि से समुचित आय होने हेतु किये गये प्रबन्ध का विवरण लेख मे दिया गया है । लेख के अनुसार श्रीनन्दि श्रेष्ठ वादी, तपस्वी और व्याख्यानकुशल थे । इनकी शिष्या अष्टोपवासी कन्ति की भी लेख में प्रशसा की गयी है ।

[उपर्युक्त, लेख २१०]

रामसेन

मैसूर प्रदेश के शिकारपुर तालुके में स्थित बलगावे ग्राम से प्राप्त सन् १०७७ के लेख से इनका परिचय मिलता है । ये सेनगण के आचार्य गुणभद्र के शिष्य थे । गुणभद्र के गुरुबन्धु महासेन की प्रशसा भी लेख में है । चालुक्यगगपेर्मानडि जिनमन्दिर के लिए महासामन्त बमदेव द्वारा रामसेन को एक ग्राम दान दिया गया था । व्याकरण, तक और काव्य में इनकी निपुणता की प्रशसा भी लेख मे प्राप्त होती है ।

[उपर्युक्त, लेख २१७]

कमलभद्र

ये द्राविड सघ के आचार्य थे । मैसूर प्रदेश के शिवमोग्गा जिले के तीथस्थल हुम्मच से प्राप्त सन् १०७७ के तीन लेखो में इनका वणन है । राजा भुजबल सान्तर की माता चट्टलदेवी द्वारा निर्मित पचवसति के लिए कमलभद्र को ग्राम और भूमि का दान दिया गया था । कमलभद्र की परम्परा और भुजबलसान्तर के कुल का विस्तृत परिचय इन लेखो में प्राप्त होता है । श्रवणबेलगोल के मल्लिषेणप्रशस्ति शिलालेख में भी कमलभद्र की प्रशसा में दो श्लोक है ।

[उपर्युक्त, लेख २१३-१४ तथा २१६]

आन्ध्र प्रदेश के चार आचार्य

आन्ध्र के मेडक जिले मे स्थित चिन्तलघाट ग्राम से सन् १०८१ का शिलालेख प्राप्त हुआ है। इसके अनुसार वहाँ के जिनमन्दिर के लिए महासामन्त कद्दरस ने माधवचन्द्र आचाय को कुछ दान दिया था।

इसी जिले के अल्लदुग नामक स्थान से सन् १०८४ का शिलालेख मिला है। इसमें कीर्तिविलास शान्ति जिनालय नामक मन्दिर के लिए महासामन्त आहवमल्ल द्वारा आचार्य कमलदेव को दिये गये दान का वर्णन है।

आन्ध्र के महबूबनगर जिले के सुदूर ग्राम से सन् १०८७ के दो शिलालेख मिले है। एक के अनुसार देशी गण के आचाय पद्मनन्दि द्वारा स्थापित जिनमन्दिर के लिए महासामन्त जत्तरस ने भूमि, उद्यान आदि का दान दिया था। दूसरे लेख मे द्राविड सघ के पल्लव जिनालय के लिए आचाय कनकसेन को महासामन्त हल्लवरस ने भूमि दान दी ऐसा वर्णन है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग ५, लेख ५२-५३ और ५५-५६]

श्रीधर व वासुपूज्य

मैसूर प्रदेश के बेलगाँव जिले के कोण्णूर ग्राम से प्राप्त सन् १०८७ के लेख से इनका परिचय मिलता है। बलात्कार गण की परम्परा में गुणचन्द्र, पक्षोपवासी, नयनन्दि, श्रीधर (प्रथम) तथा चन्द्रकीर्ति इन आचार्यों की प्रशसा के बाद इस लेख में चन्द्रकीर्ति के शिष्य श्रीधर (द्वितीय) का वर्णन है। इनके शिष्य वासुपूज्य त्रैविद्य की विस्तृत प्रशसा के बाद बताया गया है कि महासामन्त सेन के अधीन ग्रामप्रमुख निधियम ने इन आचार्यों को कुछ दान दिया था। वासुपूज्य के गुरुबन्धु नेमिचन्द्र एव मलयाल पण्डित तथा शिष्य पद्मप्रभ का भी लेख में वर्णन है।

इसी जिले के गोलिहल्लि ग्राम से प्राप्त एक अन्य लेख में भी उक्त आचायपरम्परा का वर्णन मिलता है। इस लेख की तिथि अस्पष्ट है। इसमें वासुपूज्य के बाद कुमुदचन्द्र, उदयचन्द्र तथा त्रिभुवनदेव इन आचार्यों के नाम है। लेख टूटा होने से इसका पूरा विवरण स्पष्ट नही है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख २२७, जैनिज्म इन साउथ इण्डिया, पृ ११७]

विजयकीर्ति

मध्य प्रदेश में ग्वालियर के समीप दूबकुण्ड ग्राम से प्राप्त सन् १०८८ के शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। ये लाटवगट गण के आचाय शान्तिषेण के शिष्य थे। लेख के अनुसार शान्तिषेण ने राजा भोज की सभा में अनेक वादियो को पराजित किया

था। कच्छपघात वंश के राजा विक्रमसिंह के दरबार के प्रमुख नगरश्रेष्ठी दाहड द्वारा विजयकीर्ति की प्रेरणा से उक्त स्थान मे जिनमन्दिर बनवाया गया था तथा राजा ने उसके लिए उद्यान आदि का दान दिया था। राजा, श्रेष्ठी और आचार्य तीनो की परम्परा का काव्यमय वर्णन विस्तार से देनेवाले इस शिलालेख की रचना विजयकीर्ति ने ही की थी।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख २२८]

इन्द्रसेन

मैसूर प्रदेश के गुलबर्गा जिले के इगळगी ग्राम से प्राप्त शिलालेख मे इनका परिचय मिलता है। ये द्राविड सघ—सेन गण के मल्लिषेण आचार्य के शिष्य थे। चालुक्य वश के सम्राट् विक्रमादित्य (षष्ठ) त्रिभुवनमल्ल की रानी जाकलदेवी ने इस ग्राम में एक भव्य जिनमन्दिर बनवाया था तथा उसके लिए सन् १०९४ में इन्द्रसेन को भूमिदान दिया था।

आन्ध्र प्रदेश के महबूबनगर जिले में स्थित उज्जिलि ग्राम से प्राप्त दो शिलालेखो मे भी इन्द्रसेन को भूमिदान दिये जाने का वर्णन है। यह दान महाप्रधान भानुदेव ने वहाँ के जिनमन्दिर के लिए सन् ११६७ में दिया था। समय के अन्तर को देखते हुए ये इन्द्रसेन उपर्युक्त इन्द्रसेन के प्रशिष्य जान पडते है। यहाँ के दूसरे लेख में श्रीवल्लभचोल महाराज द्वारा इन्द्रसेन को भूमिदान दिये जाने का वर्णन है।

[जैनिज्म इन साउथ इण्डिया में प्रथम लेख का तथा जैन शिलालेखसग्रह, भाग ५ में अन्य दो लेखो का विवरण मिलता है।]

चारुकीर्ति, रविचन्द्र और कनकप्रभ

मैसूर प्रदेश के उत्तर भाग से प्राप्त सन् १०९६ के तीन लेखो से इन आचार्यों का परिचय मिलता है। दोणि ग्राम के लेख मे यापनीय सघ के मुनिचन्द्र आचार्य के शिष्य चारुकीर्ति का वर्णन है। इन्हें सोविसेट्टि नामक श्रावक ने एक उद्यान अर्पित किया था। तुम्बदेवनहल्लि ग्राम के लेख मे वहाँ के जिनमन्दिर का निर्माण कदम्ब कुल के राजा एरेयग की पत्नी असवव्वरसि द्वारा किया गया था ऐसा वर्णन है। इन्होने देशीय गण के आचार्य रविचन्द्र को उक्त जिनमन्दिर के लिए दान दिया था। तीसरा लेख सौन्दत्ती नगर से प्राप्त हुआ है। इसमे रट्ट वश के राजा कन्नकैर द्वारा उनके गुरु कनकप्रभ को दिये गये भूमिदान का वर्णन है। लेख में कनकप्रभ को गणधरो के समान सर्वशास्त्रनिपुण कहा गया है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग ४, लेख १६९-७० तथा भाग २, लेख २३७]

मुनिचन्द्र

मैसूर प्रदेश के शिमोगा जिले में स्थित हेब्बण्डे ग्राम के सन् १११० के लेख से इनका परिचय मिलता है। ये कनकनन्दि के शिष्य थे। इन्हे राजा विष्णुवधन, सामन्त भुजबल गग पेर्माडि तथा गावुण्ड बम्म आदि ने भूमि आदि दान दिया था।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख २५१]

छत्रसेन

राजस्थान में डूँगरपुर के समीप अर्थूणा ग्राम से प्राप्त शिलालेख मे इनका वर्णन है। ये माथुर अन्वय के प्रमुख आचाय थे। इनके शिष्य आलोक के पुत्र भूषण ने सन् १११० मे उक्त ग्राम में वृषभदेव का भव्य मन्दिर बनवाया था।

[उपयुक्त, भा ३, लेख ३०५ क]

शुभकीर्ति

मैसूर प्रदेश के शिमोगा जिले में स्थित निदिगि ग्राम के सन् १११७ के लेख से इनका परिचय मिलता है। ये मेषपाषाण गच्छ के आचाय थे। सामन्त नन्नियं गग पेर्माडि ने इन्हें नवनिमित जिनमन्दिर के लिए भूमि आदि दान दिया था।

[उपयुक्त, लेख २६७]

अर्हणन्दि

मैसूर प्रदेश के कण्णूर ग्राम के सन् १११२ के लेख से इनका परिचय मिलता है। ये बालचन्द्र के शिष्य थे। चालुक्य सम्राट् विक्रमादित्य (षष्ठ) के सेनापति कालिदास ने इन्हें उक्त ग्राम के पार्श्वनाथ मन्दिर के लिए भूमिदान दिया था।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग ४, लेख १९०]

गण्डविमुक्त

मैसूर प्रदेश के मूडगेरे तालुके में स्थित हन्तूरु ग्राम के सन् ११३० के लेख से इनका परिचय मिलता है। ये माघनन्दि के शिष्य थे। होयसल वश के राजा विष्णुवधन की कन्या हरियब्बरसि ने इन्हें स्वनिमित रत्नखचित जिनमन्दिर के लिए कुछ भूमि दान दी थी।

[उपयुक्त, भाग २, लेख २९३]

नेमिचन्द्र

मैसूर प्रदेश के विख्यात कलाकेन्द्र हलेबीड के पार्श्वनाथ जिनमन्दिर से सम्बद्ध शिलालेख मे इनका वर्णन है। सन् ११३३ में होयसल वश के महाराज विष्णुवधन के

सेनापति गगराज के पुत्र बोप्प ने इस मन्दिर का निर्माण किया था। राजा ने विजय-पाश्वदेव ऐसा नाम देकर इस जिनालय के लिए भूमिदान दिया था। यह दान नयकीति आचाय के शिष्य नेमिचन्द्र को सौपा गया था। विजापूर के समीप अरसीबीडि ग्राम से प्राप्त सन् ११५१ के लेख में भी नेमिचन्द्र को प्राप्त कुछ दान का वणन है।

[उपयुक्त, लेख ३०१ तथा भाग ४, लेख २४१]

सुभद्र

मध्यप्रदेश में जबलपुर के निकट बहुरीबन्द ग्राम में प्राप्त भव्य शान्तिनाथ मूर्ति के पादपीठ के लेख में इनका नाम प्राप्त होता है। ये देशी गण के चन्द्रकराचाय के आम्नाय के प्रमुख थे। उपयुक्त मूर्ति की स्थापना कलचुरि वश के राजा गयाकण के सामन्त गोल्हणदेव के शासनकाल में महाभोज नामक श्रावक द्वारा की गयी थी तथा उसकी प्रतिष्ठा आचाय सुभद्र ने की थी। यह काय सन् ११३२ के लगभग सम्पन्न हुआ था।

[जैन शिलालेख सग्रह, भा ४, लेख २१७]

माणिक्यसेन

मैसूर प्रदेश के सोरब तालुके के हिरे आवली ग्राम के पाश्वनाथ मन्दिर से प्राप्त लेख में इनका वणन है। ये सेनगण के आचाय वीरसेन के सहधर्मा थे। इन्हे उक्त मन्दिर के लिए प्रादेशिक शासक मल्लिदेव ने सन् ११४२ मे भूमिदान दिया था।

[उपयुक्त, भा ३, लेख ३२२]

हरिनन्दि

मैसूर प्रदेश में धारवाड के निकट नीरलगि ग्राम से प्राप्त लेख में इनका वणन मिलता है। ये सूरस्थ गण के आचाय थे। प्रादेशिक शासक मल्लगावुण्ड ने उक्त ग्राम में मल्लिनाथ जिनमन्दिर बनवाया था तथा उसके लिए इन्हें सन् ११४८ में भूमिदान दिया था। समीप के ही एक ग्राम करगुदरि से प्राप्त एक लेख में हरिनन्दि के शिष्य नागचन्द्र को पार्श्वनाथ मन्दिर के लिए कुछ दान दिये जाने का वर्णन है।

[उपयुक्त, भा ४, लेख २३७-२३८]

रामकीर्ति

राजस्थान के प्रसिद्ध दुग चित्तौड में प्राप्त सन् ११५० के एक विस्तृत शिलालेख की रचना जयकीर्ति के शिष्य रामकीर्ति ने की थी। इसमें चौलुक्य राजा कुमारपाल के राज्य की प्रमुख घटनाओ का तथा चित्तौड-प्रवास का विवरण दिया गया है।

[उपर्युक्त, भा ३, लेख ३३२]

माणिकनन्दि

मैसूर प्रदेश के हेग्गेरी ग्राम के सन् ११६१ के शिलालेख में इनका वणन मिलता है। ये गुणचन्द्र के शिष्य थे। होयसल वश के राजा नरसिंह के सामन्त गोविदेव ने हेग्गेरी में अपनी पत्नी की स्मृति में पार्श्वनाथ जिनालय का निर्माण कराया था तथा उसके लिए माणिकनन्दि को भूमि आदि दान दिया था।

[उपयुक्त, लेख ३५६]

विजयकीर्ति

मैसूर प्रदेश में बेलगाँव के निकट एकसम्बि ग्राम के सन् ११६५ के शिलालेख में इनका वर्णन मिलता है। ये यापनीय सघ के आचार्य कुमारकीर्ति के शिष्य थे। शिलाहार वश के राजा विजयादित्य के सेनापति कालण ने उक्त ग्राम में नेमिनाथ मन्दिर बनवाया था तथा उसके लिए विजयकीर्ति को भूमि आदि दान दी थी।

[उपयुक्त, भा ४, लेख २५९]

रामचन्द्र

मध्यप्रदेश के पश्चिमी निमाड जिले के प्रसिद्ध तीर्थ बडवानी के दो शिलालेखो से इनका परिचय मिलता है। इनके उपदेश से वहा इन्द्रजित केवली का विशाल मन्दिर सन् ११६६ में बनाया गया था। इतके पूववर्ती लोकनन्दी और देवनन्दी आचार्यों का भी लेख में वर्णन आता है।

[उपयुक्त, भा ३, लेख ३७०-७१]

गुणभद्र

राजस्थान के बिजोलिया नगर से प्राप्त सन् ११७० के एक विस्तृत शिलालेख की रचना माथुर सघ के महामुनि गुणभद्र ने की थी। इस लेख मे उक्त नगर के विभिन्न मन्दिरो का विस्तृत विवरण दिया गया है।

[उपयुक्त, भा ४, लेख २६५]

श्रीवीर निर्वाण सवत् की अठारहवीं शताब्दी

[ईसवी सन् ११७३ से १२७३]

मदनकीर्ति

इनकी एकमात्र रचना शासनचतुस्त्रिशिका बहुत छोटी (३४ श्लोक) होने पर भी इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह पहली रचना है जिसमें अपने समय के प्रसिद्ध जैन तीर्थों के विषय में देखी-सुनी बातो का व्यवस्थित वणन मिलता है। कैलास, पोदनपुर, श्रीपुर, शखजिनेन्द्र (लक्ष्मेश्वर), धारा, बृहत्पुर (बडवानी), दक्षिणगोम्मट (श्रवणबेलगोल), बेतवा-तट (देवगढ), सम्मेदशिखर, पुष्पपुर, नागह्रद, पश्चिम समुद्र तट (वेरावल), समुद्रान्तर्गत आदिजिन, पावापुर, गिरनार, चम्पापुर, नमदातटवर्ती शान्तिजिन, आश्रम के मुनिसुव्रत, विपुलाचल, विन्ध्याचल, नागफणी तथा मगलपुर इनके विषय में विविध अतिशयो का उल्लेख मदनकीर्ति ने किया है।

मदनकीर्ति प्रसिद्ध वादी विशालकीर्ति के शिष्य थे। महापण्डित आशाधर ने आदरपूवक लिखा है कि मदनकीर्ति ने उनकी प्रज्ञापुज कहकर प्रशसा की थी। राजशेखर के प्रबन्धकोश से ज्ञात होता है कि कुछ समय के लिए वे दक्षिण भारत गये थे। कोल्हापुर के राजा भोजदेव के दरबार में रहकर उनका कुलवृत्तान्त काव्यरूप में निबद्ध करते हुए उनका राजा की कन्या के साथ अनुराग का सम्बन्ध रहा। किन्तु बाद में गुरु के उपदेश से वे पुन धममाग में स्थिर हुए थे।

[प दरबारीलाल ने शासनचतुस्त्रिशिका की प्रस्तावना में ग्रन्थ और ग्रन्थकर्ता के विषय में विस्तृत विवेचन किया है।]

वसन्तकीर्ति

प्राचीन भारत में दिगम्बर मुनियो का विहार सुप्रचलित था—अजैन सम्प्रदाय भी मुनियो की नग्नता को सुस्थापित परम्परा के रूप में मान्य करते थे। किन्तु गोरी और गुलाम सुलतानो के शासनकाल में इस स्थिति में बडा परिवर्तन हुआ। नये मुस्लिम शासक भारत की प्राचीन धार्मिक परम्परा से अनभिज्ञ होने के साथ ही असहिष्णु भी थे। अत उस समय उत्तर भारत में बलात्कार गण के प्रधान आचाय वसन्तकीर्ति ने यही उचित समझा कि सार्वजनिक विहार के समय मुनि नग्नता का आग्रह छोड दें—चटाई या चादर का उपयोग करें। उत्तर भारत में साधुसघ का अस्तित्व बनाये रखने में यह नीति काफी हद तक सफल रही।

वसन्तकीर्ति के पट्टावली में प्राप्त वर्णन से ज्ञात होता है कि अजमेर में उन्हें आचार्यपद प्राप्त हुआ था। ऊपर वर्णित परिवतन का निश्चय उन्होने माण्डलगढ में किया था ऐसा श्रुतसागरकृत षट्पाहुडटीका से ज्ञात होता है। पट्टावली के वणन के अनुसार वन में निवास करते हुए शेर भी उनको वन्दन करते थे।

नयकीर्ति व बालचन्द्र

नयकीर्ति देशी गण के गुणचन्द्र के शिष्य थे। श्रवणबेलगोल के बीसों शिलालेखो में इनकी और इनके शिष्यो की प्रशसा प्राप्त होती है। सन् ११७६ में इनके स्वगवास होने पर महामन्त्री हुल्ल, नागदेव आदि शिष्यो ने इनकी स्मृति में जो स्तम्भ स्थापित किया वह चन्द्रगिरि पवत पर अब भी देखा जा सकता है। गोम्मटेश्वर महामूर्ति के चारो ओर के देवालयो में इनके शिष्य बसविसेट्टि द्वारा स्थापित अनेक सुन्दर जिन-मूर्तियाँ है।

नयकीर्ति के शिष्यो मे बालचन्द्र प्रमुख थे। राजा वीरबल्लाल के नगरश्रेष्ठी सोमिसेट्टि ने स्वनिर्मित पाश्वजिनालय के लिए इन्हे सन् ११७८ मे भूमिदान दिया था। श्रवणबेलगोल नगर में अक्कन बसति नामक जिनमन्दिर के सन् ११८१ के लेख से विदित होता है कि राजा वीरबल्लाल के मन्त्री चन्द्रमौलि की पत्नी आचलदेवी बालचन्द्र की शिष्या थी। उसके द्वारा निर्मित इस मन्दिर को राजा ने एक गाव अर्पित किया था। बालचन्द्र को इन अनेक लेखो मे अध्यात्मी यह उपाधि दी गयी है।

नयकीर्ति के अन्य शिष्यो के नाम लेखो में इस प्रकार दिये है—दामनन्दि, भानुकीर्ति, प्रभाचन्द्र, माघनन्दि, मन्त्रवादी पद्मनन्दि तथा नेमिचन्द्र।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग १, लेख ४२, १२४, ३२० आदि तथा भाग ३, लेख ३४९]

अमरकीर्ति

ये माथुर सघ के आचाय थे। इनकी गुरुपरम्परा इस प्रकार बतलायी है—अमितगति—शान्तिषेण—अमरसेन—श्रीषेण—चन्द्रकीर्ति—अमरकीर्ति। इनके तीन अपभ्रश ग्रन्थ मिले है। इनमे नेमिनाथचरित सन् ११८८ में तथा षट्कर्मोपदेश सन् ११९१ में लिखा गया था। तीसरी ज्ञात रचना पुरन्दर विधान कथा है। इसके सिवाय इन्होने महावीरचरित, यशोधरचरित, धर्मचरितटिप्पन, सुभाषितरत्ननिधि, धर्मोपदेशचूडामणि तथा ध्यानप्रदीप इन ग्रन्थो की भी रचना की थी ऐसा षट्कर्मोपदेश की प्रशस्ति से ज्ञात होता है। गुजरात के गोधरा नगर में राजा कृष्ण के राज्यकाल में अमरकीर्ति ने इन ग्रन्थो की रचना की थी। राजा कृष्ण ने इनके गुरु चन्द्रकीर्ति का सम्मान किया था ऐसा नेमिनाथचरित की प्रशस्ति से ज्ञात होता है।

[जैन ग्रन्थ प्रशस्ति सग्रह, भाग २, प्रशस्ति ११ तथा ३१, षट्कर्मोपदेश डॉ मोदी द्वारा सम्पादित होकर गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज में प्रकाशित हुआ है]

भावसेन

ये सेनगण के आचार्य थे। इनका समाधिलेख आन्ध्र प्रदेश के अनन्तपुर जिले में अमरापुरम् ग्राम के निकट प्राप्त हुआ है। न्याय, व्याकरण और सिद्धान्त में निपुणता के कारण इन्हें त्रैविद्य कहा जाता था। इनके तीन सस्कृत ग्रन्थ प्रकाशित हुए है। विश्वतत्त्वप्रकाश मे चार्वाक, मीमासा आदि दर्शनो के मन्तव्यो का जैन दृष्टि से विस्तृत परीक्षण किया गया है। प्रमाप्रमेय में प्रमाण सम्बन्धी जैन सिद्धान्तो का विस्तृत वणन मिलता है। कातन्त्र रूपमाला में कातन्त्र व्याकरण के अनुसार शब्द रूपो की सिद्धि का विवरण दिया गया है। इनके अप्रकाशित ग्रन्थो के नाम इस प्रकार है—सिद्धान्तसार, न्यायदीपिका, कथाविचार, न्यायसूर्यावली, भुक्तिमुक्तिविचार तथा शाकटायन व्याकरण टीका।

[डॉ जोहरापुरकर द्वारा सम्पादित विश्वतत्त्वप्रकाश की प्रस्तावना मे भावसेन के विषय में विस्तृत चर्चा की गयी है।]

पद्मसेन

मैसूर प्रदेश के धारवाड जिले में स्थित तीर्थस्थान लक्ष्मेश्वर से प्राप्त सन् १२४७ के लेख में इनका प्रथम उल्लेख है। इस समय वहाँ की श्रीविजय-बसति के लिए पद्मसेन की शिष्या राजलदेवी द्वारा कुछ भूमि दान दी गयी थी। राजलदेवी के पिता महाप्रधान बीचिराज यादव राजा सिंहण के सामन्त थे। दावणगेरे तालुके में स्थित बेतूर ग्राम के सन् १२७१ के लेख मे भी पद्मसेन का वर्णन आता है। इनके गुरु का नाम यहाँ महासेन बताया है। यादव राजा रामदेव के सामन्त कूचिराज ने अपनी दिवगत पत्नी लक्ष्मी की स्मृति में एक जिनमन्दिर बनवाया था तथा उसकी देखभाल के लिए एक ग्राम पद्मसेन को समर्पित किया था।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग ४, लेख ३३० तथा भाग ३, लेख ५११]

सोमप्रभ

ये ऊपर वर्णित वादी देवसूरि के गुरुबन्धु अजितदेव के शिष्य विजयसिंह के शिष्य थे। इनकी विख्यात कृति कुमारपाल प्रतिबोध है जिसकी रचना सन् ११८४ में अणहिलपुर में हुई थी। हेमचन्द्र द्वारा कुमारपाल राजा को दिये गये उपदेश के रूप में इसमे ५६ कथाएँ है। प्राकृत भाषा के साहित्यिक सौन्दय के साथ सदाचार का प्रभावशाली उपदेश इन कथाओ से प्राप्त होता है। सोमप्रभ की दूसरी विस्तृत रचना सुमतिनाथचरित में भी अनेक कथाओ के माध्यम से सदाचार का उपदेश दिया गया है। इसमें लगभग ९५०० गाथाएँ है। इनकी एक छोटी रचना सूक्तिमुक्तावली (जिसे सिन्दूरप्रकर या सोमशतक भी कहा जाता है) काफी लोकप्रिय रही है। वैराग्य का

भावपूर्ण प्रतिपादन करनेवाले सस्कृत सुभाषित इस रचना मे प्राप्त होते है। एक श्लोक के सौ विभिन्न अथ प्रकट करनेवाली टीका की रचना से सोमप्रभ को शतार्थी यह विरुद प्राप्त हुआ था। इनके गुरुबन्धु मणिरत्न थे जिनके शिष्य जगच्चन्द्र का आगे उल्लेख होगा।

[कुमारपाल प्रतिबोध की प्रस्तावना में मुनि जिनविजय ने इनका विस्तृत परिचय दिया है।]

जगच्चन्द्र

ये मणिरत्न के शिष्य थे। अपने समय के साधुओ के आचार में व्याप्त शिथिलताएँ दूर करने का व्यापक प्रयास इन्होने किया। बारह वर्ष तक लगातार आचाम्ल तपस्या करने के कारण इनकी ख्याति सुनकर मेवाड के राजा जैत्रसिंह ने इन्हे तपा इस बिरुद से सम्मानित किया था। तब से इनके शिष्यो की परम्परा तपागच्छ कहलायी। यह घटना सन् १२२८ की है। अनेक वादियो से अपराजित रहने के कारण इन्हे हीरला यह बिरुद प्राप्त हुआ था।

देवेन्द्र

ये जगच्चन्द्र के पट्टशिष्य थे। इनका प्रारम्भिक समय मालवा मे बीता। उज्जयिनी के श्रेष्ठिपुत्र वीरधवल ने इनसे मुनिदीक्षा ली थी तथा उनका नाम विद्यानन्द रखा गया था। इनका विद्यानन्द व्याकरण प्राप्त है। बाद मे देवेन्द्र ने गुजरात और राजस्थान में विहार किया। खम्भात में महामन्त्री वस्तुपाल ने इनका सम्मान किया था। यही पर इनके गुरुबन्धु विजयचन्द्र ने आचार सम्बन्धी कुछ मतभेदो के कारण अपना पृथक् सम्प्रदाय स्थापित किया था। पाल्हणपुर में देवेन्द्र ने सन् १२६६ में विद्यानन्द को सूरिपद प्रदान किया था। देवेन्द्र ने पाँच कमग्रन्थो की रचना की। शिवशर्मकृत पुरातन ग्रन्थो से भिन्नता बताने के लिए इन्हे नव्य कर्मग्रन्थ कहा जाता है। श्राद्धदिनकृत्य, सुदर्शनाचरित्र तथा कुछ स्तुतियो की रचना भी इन्होने की थी। सन् १२७० में इनका स्वर्गवास हुआ।

[मुनि दशनविजय सम्पादित पट्टावली समुच्चय के विभिन्न प्रकरणो में इन दो आचार्यो का वृत्तान्त दिया है।]

विजयसेन

ये नागेन्द्र गच्छ के हरिभद्रसूरि के शिष्य थे। गुजरात की राजधानी अणहिल-पुर पाटन के पचासर पाश्वनाथ मन्दिर के ये प्रमुख थे। महामन्त्री वस्तुपाल और तेज-पाल इनके शिष्य थे। आबू पवत पर वस्तुपाल ने अपने बडे भाई लूणिग की स्मृति में लूणिगवसही नामक नेमिनाथ मन्दिर का निर्माण कराया, उसकी प्रतिष्ठा विजयसेन द्वारा सम्पन्न हुई थी। तारगा पवत पर आदिनाथदेवकुलिका का निर्माण वस्तुपाल ने कराया,

उसकी प्रतिष्ठा भी विजयसेन ने की थी। वस्तुपाल निर्मित ये मन्दिर शिल्पकला के लिए विश्वविख्यात हैं। सन् १२२० मे वस्तुपाल ने विशाल सघ के साथ शत्रुजय और गिरनार की यात्रा की। इस अवसर पर विजयसेन के शिष्य उदयप्रभ ने धर्माभ्युदय नामक महाकाव्य लिखा। इसमें आदिनाथ और नेमिनाथ सम्बन्धी कथाएँ विस्तार से दी है। उदयप्रभ के अन्य ग्रन्थ है—आरम्भसिद्धि, उपदेशमालाटीका, षडशीति टिप्पण तथा कर्मस्तवटिप्पण।

[मुनि पुण्यविजय सम्पादित धर्माभ्युदय की प्रस्तावना मे इनका विस्तृत परिचय दिया है।]

जयसिह व बालचन्द्र

महामन्त्री वस्तुपाल-तेजपाल से सम्बन्धित साहित्यिको में इन दोनो का महत्त्वपूण स्थान है। जयसिह भडौच के मुनिसुव्रत मन्दिर के प्रधान आचाय थे। इनका हम्मीर-मदमर्दन नाटक प्रकाशित हुआ है। वस्तुपाल द्वारा दिल्ली के अमीर सुलतानो की सेनाओ के पराजय का समकालीन वृत्तान्त इस नाटक का विषय है। वीररस के परिपोष के साथ ही ऐतिहासिक दृष्टि से भी इसका महत्त्व है। बालचन्द्र का वसन्तविलास नामक महाकाव्य प्रकाशित हुआ है। इसमे वस्तुपाल के जीवन की बहुविध उपलब्धियो का सुन्दर क्रमबद्ध वणन मिलता है। ऐतिहासिक महाकाव्यो में इतिवृत्त के विस्तार की दृष्टि से यह एक श्रेष्ठ रचना है। मन्त्रिवर के पुत्र जयन्तसिह के अनुरोध पर बालचन्द्र ने यह काव्य लिखा था।

जिनपति

खरतरगच्छ की परम्परा में पूर्ववर्णित जिनचन्द्र के बाद सन् ११६६ में जिनपति सूरिपद पर प्रतिष्ठित हुए। आसिका नगर के राजा भीमसिह ने इनका सम्मान किया था। अजमेर में चौहान राजा पृथ्वीराज की सभा में हुए वाद मे इन्हे जयपत्र प्राप्त हुआ। अणहिलपुर के श्रीमान् सेठ अभयकुमार ने सन् ११८८ मे गिरनार, शत्रुजय, तारगा आदि तीर्थों की यात्रा के लिए विशाल सघ निकाला था जिसमें जिनपति भी सम्मिलित हुए। यात्रा से लौटते समय आशापल्ली मे प्रद्युम्नाचार्य के साथ हुए इनके वाद का विवरण वादस्थल नामक ग्रन्थ के रूप में प्राप्त है। नगरकोट के राजा पृथ्वीचन्द्र सन् १२१७ में गगादशहरा यात्रा के अवसर पर बृहद्द्वार आये थे। उनके साथ आये हुए कश्मीर के पण्डित मनोदानन्द के साथ जिनपति के शिष्य जिनपाल उपाध्याय का वाद हुआ जिसमे राजा ने उन्हें जयपत्र प्रदान किया। विक्रमपुर, फलोधी, आसिका, अजमेर, अणहिलपुर, जालोर आदि स्थानो में इनके विहार, अनेक मुनियो की दीक्षा तथा मन्दिरो और मूर्तियो की स्थापना का विवरण पट्टावली में प्राप्त होता है। सन १२२१ मे इनका स्वगवास हुआ।

जिनेश्वर

ये जिनपति के बाद सूरिपद पर प्रतिष्ठित हुए। ठक्कुर अश्वराज द्वारा निकाले गये सघ के साथ इन्होने सन् १२३३ में शत्रुजय, गिरनार आदि की यात्रा की। इस अवसर पर खम्भात में महामन्त्री वस्तुपाल ने इनका सम्मान किया। सन् १२७० में पाल्हणपुर से श्रेष्ठी अभयचन्द्र के सघ के साथ चलकर जिनेश्वर ने पुन शत्रुजय आदि की यात्रा की। जालोर, बीजापुर, जेसलमेर, बाडमेर आदि स्थानो से इनके विहार, शिष्यो की दीक्षा और मूर्ति-मन्दिरो की प्रतिष्ठा का विवरण पट्टावली मे प्राप्त होता है। सन् १२७४ मे इनका स्वर्गवास हुआ।

[उपयुक्त दो आचार्यों का परिचय बृहत्खरतरगच्छ-गुर्वावलि से लिया गया है।]

अन्य आचार्य

इस शताब्दी के शिलालेखो से ज्ञात होनेवाले कुछ अन्य आचार्यो का विवरण इस प्रकार है।

देवचन्द्र

मैसूर प्रदेश के नागमगल तालुके के अलेसन्द्र ग्राम से प्राप्त ११८३ के शिलालेख मे इनका वणन आता है। ये ऊपर वर्णित माघनन्दि आचाय के प्रशिष्य देवकीति के शिष्य थे। होयसल वश के राजा वीरबल्लाल के सेनापति भरत और बाहुबली ने कुछ जिनमन्दिरो के लिए इन्हे भूमि आदि दान दिया था।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग ३, लेख ४११]

वज्रनन्दि

मैसूर प्रदेश के सोमपुर ग्राम से प्राप्त सन् ११९२ के लेख से इनका परिचय मिलता है। ये द्राविड सघ के वासुपूज्य आचाय के शिष्य थे। होयसल वश के राजा वीरबल्लाल ने शान्तिनाथ मन्दिर के लिए इन्हें दो ग्राम अर्पित किये थे।

[उपर्युक्त, भाग ४, लेख २८२]

सकलचन्द्र

मैसूर प्रदेश के सोरब तालुके के अदरि ग्राम से प्राप्त सन् ११९७ के लेख में इनका वर्णन मिलता है। ये आचाय कुलभूषण के शिष्य थे। होयसल राजा वीरबल्लाल के सेनापति महादेव ने शान्तिनाथजिनमन्दिर बनवाया था तथा उसके लिए सकलचन्द्र को भूमि आदि दान दिया था।

[उपर्युक्त, भाग ३, लेख ४३१]

शुभचन्द्र

मैसूर प्रदेश के प्रमुख नगर बेलगाँव से प्राप्त सन् १२०४ के दो विस्तृत शिलालेखो मे इनका वर्णन आता है। रट्ट वश के राजा कातवीय के मन्त्री बीचण ने बेलगाँव मे रट्टजिनालय नामक मन्दिर बनवाया था और उसके लिए इन्हे भूमि आदि दान दिया था।

[उपर्युक्त, भा ४, लेख ३१८–१९]

धर्मचन्द्र

महाराष्ट्र के परभणी जिले में स्थित तीथ उखलद के जिनमन्दिर में स्थित तीन भव्य मूर्तियो के पादपीठ लेखो में इनका नाम प्राप्त होता है। ये लेख सन् १२१५ के है। ऐसा ही एक लेख मध्यप्रदेश के दतिया जिले में स्थित तीथ सोनागिरि के मन्दिर न ५७ की जिनमूर्ति के पादपीठ पर भी है।

[उपर्युक्त, भा ५, लेख १३५-३८]

सागरनन्दि

मैसूर प्रदेश के अरसीकेरे नगर के सन् १२१९ के लेख में इनका नाम मिलता है। होयसल राजा वीरबल्लाल के सेनापति रेच ने सहस्रकूट जिनमन्दिर बनवाया था। उसके लिए सागरनन्दि को भूमि आदि दान प्राप्त हुए थे।

[उपर्युक्त, भा ३, लेख ४६५]

पुष्पसेन

मैसूर प्रदेश के शिमोगा जिले के तीथ हुम्मच में सन् १२५६ का शिलालेख है। इसमें द्राविड सघ के आचाय वादिराज के शिष्य पुष्पसेन के समाधिमरण का वणन है। लेख के अनुसार वे प्रसिद्ध वादी और साहित्यवेत्ता थे।

[उपर्युक्त, लेख ५०३]

□

द्वितीय खण्ड

प्रस्तावना

भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् उनके शासन का समस्त भार उनके प्रधान शिष्यो पर आ गया। उनके शिष्यो की परम्परा शिष्य-प्रशिष्य के रूप में अविच्छिन्न रूप से चलती रही। गौतम, सुधर्मा एव जम्बू स्वामी ये पहले तीन केवली हुए फिर पाँच श्रुतकेवली हुए।[1] इनमें अन्तिम श्रुतकेवली आचाय भद्रबाहु थे जिन्हें दिगम्बर एव श्वेताम्बर दोनो सम्प्रदायो ने स्वीकार किया है। आचाय भद्रबाहु के पश्चात् आचाय कुन्दकुन्द तक करीब २० आचाय हुए जो अगो एव पूर्वों के ज्ञाता थे तथा जिन्होने महावीर शासन की प्रभावना में उत्तरोत्तर वृद्धि की। ऐसे आचार्यों में अन्तिम आचार्य धरसेन थे जो विक्रम की प्रथम शताब्दी में हुए और जिन्होने अपने दो योग्यतम शिष्यो को जो कुछ उनके पास ज्ञान अवशिष्ट था उसे उन्हे पढ़ाया। ये दोनो शिष्य आचार्य भूतबलि एव पुष्पदन्त के नाम से प्रख्यात हुए। जिन्होने 'षट्खण्डागम' ग्रन्थ को लिपिबद्ध करने की प्रक्रिया का शुभारम्भ किया।

जैनाचार्यों की ज्ञान के प्रति अगाध श्रद्धा एव अभिरुचि ने साहित्य निर्माण में ज़बरदस्त योग दिया और ईसा की प्रथम शताब्दी में होनेवाले आचार्य कुन्दकुन्द से लेकर १२वी शताब्दी तक ऐसे सैकडो आचाय हुए जिन्होने वीर शासन की ज़बरदस्त प्रभावना की और वे अपनी अद्भुत ज्ञान, शक्ति, चरित्र एव तप साधना द्वारा उत्तर से दक्षिण एव पूव से पश्चिम तक महावीर शासन का देश मे ज़बरदस्त प्रचार करते रहे। ऐसे आचार्यों में उमास्वामी (तृतीय शताब्दी), समन्तभद्र (तृतीय-चतुर्थ शताब्दी), सिद्धसेन (पाँचवी शताब्दी), देवनन्दि, पात्रकेसरी, अकलक (सातवी शताब्दी), वीरसेन (८वी शताब्दी), विद्यानन्दि एव माणिक्यनन्दी (नवी शताब्दी), जिनसेन (नवी शताब्दी), गुणभद्र (१०वी शताब्दी), नेमिचन्द सिद्धान्तचक्रवर्ती, अमृतचन्द्र, देवसेन, पद्मनन्दि (११-१२वी शताब्दी)-जैसे प्रभावक आचाय हुए। ये सभी आचार्य अपने समय के अत्यधिक ओजस्वी एव तप पूत आचाय थे जिनके आचायत्व काल मे महावीर शासन का प्रभाव दिन प्रतिदिन बढता गया और देश में सवजीवसमभाव, सवजातिसमभाव एव सवधर्मसमभाव-जैसे लोकप्रिय सिद्धान्तो के माध्यम से जनता के विचारो में सहिष्णुता आने लगी।

लेकिन देश की जब राजनीतिक एकता समाप्त होने लगी और देश को सम्राट्

---

१ तिलोयपण्णत्ति, गाथा संख्या १४७६–७८ एवं १४८२ से १४८४ तक।

हर्षवर्धन के पश्चात् जब कोई भी शासक एक सूत्र मे बाँधने में असमर्थ रहा तब देश में एकता के स्थान पर अनेकता ने सिर उठाया और चारो ओर अशान्ति का वातावरण छाने लगा। ११वी शताब्दी के प्रारम्भ से ही भारत पर मुसलमानो के आक्रमण होने लगे और १२वी शताब्दी के आते-आते तो यहाँ मुसलमानो का हमेशा के लिए शासन स्थापित हो गया। देश में आतक का साम्राज्य छा गया क्योकि मुसलमान शासक धर्मान्ध, क्रूर, निर्दयी और बर्बर होते थे। उनके महत्त्वपूण कारनामे यही होते थे कि किस मुसलमान सिपाही ने कितने सशस्त्र एव निहत्थो को तलवार के घाट उतारा और कितनो को जबरदस्ती मुसलमान बनाया, कितने मन्दिरो और मूर्तियो को तोडा और लूटा।

ऐसे भयपूर्ण शासन में अहिंसको का जीना बडा दूभर हो गया। नग्न साधुओ का विहार होना और भी कठिन हो गया। मन्दिरो को लूटने, मूर्तियो को तोडने एव स्त्री-पुरुषो तथा बच्चो को मौत के घाट उतारना एक साधारण-सी घटना हो गयी। स्वतन्त्रता पूर्वक धर्माचरण नही हो सकता था तथा सभी के हृदयो मे भय एव आतक का वातावरण बना हुआ था। न तो नग्न साधुओ का स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण हो सकता था और न मन्दिरो एव शास्त्र भण्डारो की सुरक्षा की गारण्टी थी। इन सब कारणो से पूर्णत नग्नत्व में ढिलाई रखने पर विचार किया जाने लगा।

अलाउद्दीन खिलजी के समय (१२९६-१३१६) में दिल्ली का नगरसेठ पूर्णचन्द्र नामक अग्रवाल जैन था। बादशाह की उसपर विशेष कृपा थी और शासन में उसका विशेष हाथ था। राज्य की अथ व्यवस्था का वह एकमात्र अधिकारी था। जब बादशाह को माधवसेन की विद्वत्ता, तपस्या एव चमत्कार की कितनी ही कहानी राजदरबारियो से सुनने को मिली तो बादशाह ने भी उनसे भेंट करने की इच्छा प्रकट की। बादशाह के पण्डितो में राघो, चेतन ये दो प्रसिद्ध पण्डित थे। ये सस्कृत के महान् ज्ञाता एव तार्किक विद्वान् थे। बादशाह के हृदय मे जैन एव ब्राह्मण विद्वानो के शास्त्राथ देखने की इच्छा हुई। इसलिए उसने अपने कोषाधिकारी सेठ पूर्णचन्द्र से दिगम्बराचाय माधव-सेन को देहली बुलाने का आग्रह किया। माधवसेन नग्न साधु थे इसलिए पद-विहार करते हुए ही वे देहली आये। वहाँ उनका कितने ही स्थानो पर प्रवचन हुआ।

माधवसेन ने शास्त्रार्थ मे बादशाह के दो पण्डितो राघो, चेतन को हराया और इस प्रकार ऐसे कट्टर मुसलिम बादशाह के शासन काल में भी माधवसेन ने जैनधर्म की प्रभावना स्थापित की।[१] इसी बादशाह के शासन काल में नन्दिसघ के आचार्य प्रभाचन्द्र ने दिल्ली में अपना सघ, स्थापित किया और इस प्रकार सारे उत्तर भारत में भट्टारक परम्परा को नवरूप प्रदान किया गया।

भट्टारक प्रभाचन्द्र के पश्चात् भट्टारक परम्परा ने सारे देश में शनै-शनै लोक-प्रियता प्राप्त की और एक के पश्चात् दूसरे प्रान्तो मे भट्टारक गादियाँ स्थापित होने लगी। राजस्थान में चित्तौड, चाकसू, आमेर, साँगानेर, जयपुर, श्रीमहावीरजी, अजमेर

१ भारतीय इतिहास—एक दृष्टि, पृष्ठ-४०३, ४०८-४०९

एवं नागौर, मध्य प्रदेश मे ग्वालियर एव सोनागिरि, बागड प्रदेश में डूगुरपुर, सागवाडा, बासवाडा, गुजरात में नवसारी, सूरत, खम्भात, घोघा, सौराष्ट्र में गिरनार, महाराष्ट्र मे कारजा, नागपुर, दक्षिण मे श्रवणबेलगोल, आदि स्थानो में भट्टारको की गादियाँ ही स्थापित नही थी किन्तु इन प्रान्तो में भट्टारको का पूण प्रभाव भी व्याप्त रहा। इन भट्टारको ने अपने अलग-अलग गण, सघ एव गच्छ स्थापित कर लिये। अपने प्रभाव से क्षेत्र बाँट लिये और अपनी-अपनी सीमाओ मे धम के एकमात्र स्तम्भ बन गये। १६वी शताब्दी मे देहली गादी के भट्टारको ने अपने ही अधीन मण्डलाचाय के पद भी बनाये और ये मण्डलाचाय ही भट्टारक के नाम पर प्रतिष्ठा, पूजा एव समारोह आयोजित करने लगे।

सवत् १३५१ से १८०० तक भट्टारक ही आचाय, उपाध्याय एव सवसाधु के रूप में जनता द्वारा पूजित थे। ये भट्टारक प्रारम्भ में नग्न होते थे इसलिए भट्टारक सकलकीर्ति को निग्रन्थराज कहा गया है। आँवा (राजस्थान) में भट्टारक शुभचन्द्र, जिनचन्द्र एव प्रभाचन्द्र की जो निषेधिकाएँ है वे तीनो ही नग्नावस्था की है। ये भट्टारक अपना आचरण श्रमण परम्परा के पूणत अनुकूल रखते थे। ये अपने सघ के प्रमुख होते थे और सघ की देख रेख का सारा भार इन पर ही रहता था। इनके सघ में मुनि, उपाध्याय, ब्रह्मचारी एव आर्यिकाएँ होती थी। प्रतिष्ठा-महोत्सवो एव विविध व्रत-उपवासो की समाप्ति पर होनेवाले आयोजनो के सचालन मे इनका प्रमुख हाथ होता था। राजस्थान के शास्त्र भण्डारो मे ऐसी हजारो पाण्डुलिपियाँ सगृहीत है जो इन भट्टारको की विशेष प्रेरणा से विभिन्न श्रावक-श्राविकाओ ने व्रतोद्यापन के अवसर पर लिखवाकर इन शास्त्र भण्डारो में विराजमान की थी। इस दृष्टि से इन भट्टारको का सर्वाधिक योग रहा। सवत् १३५१ से सवत् १९०० तक जितने भी देश मे पच कल्याणक प्रतिष्ठाएँ सम्पन्न हुइ वे प्राय सभी इन्ही भट्टारको के तत्त्वावधान मे आयोजित हुई थी। सवत् १५४८, १६६४, १७८३, १८२६ एव १८५२ में देश में जो विशाल प्रतिष्ठाएँ हुई थी वे इतिहास मे अद्वितीय थी और उनमें हजारो मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित हुई थी। उत्तर भारत के प्राय सभी मन्दिरो में आज इन सवतो में प्रतिष्ठापित मूर्तियाँ अवश्य मिलती है।

इन भट्टारको को जैन सन्तो के रूप में स्मरण किया जा सकता है। क्योंकि सन्तो का स्वरूप हमें इन भट्टारको में देखने को मिलता है। इनका जीवन ही राष्ट्र को आध्यात्मिक खुराक देने के लिए समर्पित हो चुका था तथा वे देश को साहित्यिक, सास्कृतिक एव बौद्धिक दृष्टि से सम्पन्न बनाते थे। वे स्थान-स्थान पर विहार करके जन-मानस को पावन बनाते थे।

ये भट्टारक पूणत सयमी होते थे। भट्टारक विजयकीर्ति के सयम को डिगाने के लिए कामदेव ने भारी प्रयत्न किये थे लेकिन अन्त में उसे हार माननी पडी। विजय-कीर्ति अपनी सयम की परीक्षा में सफल हुए। इनका आहार एव विहार पूणत श्रमण परम्परा के अन्तगत होता था। मुगल बादशाहो तक ने उनके चरित्र एव विद्वत्ता की

प्रशंसा की थी। मध्यकाल मे तो वे जैनो के आध्यात्मिक राजा कहलाने लगे थे किन्तु यही उनके पतन का प्रारम्भिक कदम था।[1]

सवत् १३५१ से सवत् २००० तक इन भट्टारको का कभी उत्थान हुआ तो कभी वे पतन की ओर अग्रसर हुए लेकिन फिर भी ये समाज के आवश्यक अग माने जाते रहे। यद्यपि दिगम्बर जैन समाज मे तेरापन्थ के उदय से इन भट्टारको पर विद्वानो द्वारा कडे प्रहार किये गये तथा कुछ विद्वान् इनकी लोकप्रियता को समाप्त करने मे बडे भारी साधक भी बने लेकिन फिर भी समाज में इनकी आवश्यकता बनी रही और व्रत-विधान एव प्रतिष्ठा समारोहो मे तो इन भट्टारको की उपस्थिति आवश्यक मानी जाती रही। ६५० वर्षो में से ६०० वर्ष तक तो ये भट्टारक जैन समाज के अनेक विरोधो के बावजूद भी श्रद्धा के पात्र बने रहे और समाज इनकी सेवाओ को आवश्यक समझती रही। शुभचन्द्र, जिनचन्द्र, सकलकीर्ति, ज्ञानभूषण-जैसे भट्टारक किसी भी दृष्टि से आचार्यों से कम नही थे क्योकि उनका ज्ञान, त्याग, तपस्या और साधना सभी तो उनके समान थी और वे अपने समय के एकमात्र निर्विवाद दिगम्बर समाज के आचार्य थे। उन्होने मुगलो के समय मे जैन धम की रक्षा ही नही की किन्तु साहित्य एव सस्कृति की रक्षा में भी अत्यधिक तत्पर रहे। भट्टारक शुभचन्द्र को यतियो का राजा कहा जाता था तथा भट्टारक सोमकीर्ति अपने आपको आचाय लिखना अधिक पसन्द करते थे। भट्टारक वीरचन्द्र महाव्रतियो के नायक थे। उन्होने १६ वष तक नीरस आहार का सेवन किया था।

ये भट्टारक पूणत प्रभुत्वसम्पन्न थे। वैसे ये आचार्यों के भी आचाय थे क्योकि इनके सघ मे आचाय, मुनि, ब्रह्मचारी एव आर्यिकाएँ रहती थी। भट्टारक रतनचन्द्र के शिष्यो मे ६ आचाय एव ३३ उपाध्याय थे। ४० ब्रह्मचारी एव १० ब्रह्मचारिणियाँ थी। इसी तरह मण्डलाचाय गुणचन्द्र के शिष्या मे ९ आचाय एव १ मुनि तथा २७ ब्रह्मचारी एव १२ ब्रह्मचारिणिया थी[2]। मुनि एव आचाय नग्न रहा करते थे। केवल भट्टारको में कुछ-कुछ अपवाद आ गया था। वैसे भट्टारक सकलकीर्ति को निर्ग्रन्थराज कहा जाता था।

साहित्य की जितनी सेवा इन भट्टारको ने की थी वह तो अपनी दृष्टि से इतिहास का अद्वितीय उदाहरण है। भट्टारक सकलकीर्ति एव उनकी परम्परा के अधिकाश विद्वान् साहित्यसेवी थे। भट्टारक रत्नकीर्ति, कुमुदचन्द्र, सोमकीर्ति, जयसागर, भट्टारक महीचन्द्र आदि पचासो भट्टारको ने साहित्य निर्माण मे अत्यधिक रुचि ली थी। साहित्य निर्माण के अतिरिक्त इन्होने प्राचीन साहित्य की सुरक्षा मे भी सबसे अधिक योग दिया। शास्त्र भण्डारो की स्थापना, नवीन पाण्डुलिपियो का लेखन एव उनका सग्रह आदि सभी इनके अद्वितीय काय थे। आज भी जितना अधिक पाण्डुलिपियो का सग्रह भट्टारकों के केन्द्रों पर मिलता है उतना अन्यत्र नही। अजमेर, नागौर, आमेर-जैसे नगरो के शास्त्र भण्डार इसके प्रत्यक्ष उदाहरण है। ये भट्टारक ज्ञान की ज्वलन्त मूर्ति

---

१ राजस्थान के जेन सन्त—व्यक्तित्व एव कृतित्व—डॉ कस्तूरचन्द कासलीवाल।

२ गुटका—प चन्दनलाल जी जैन, पत्र सख्या ७३ ७८।

होते थे। इन्होने प्राकृत एव अपभ्रश के स्थान पर सस्कृत एव हिन्दी में ग्रन्थ रचनाओ को अधिक प्रोत्साहन दिया और स्वय भी प्रमुखत इन्ही भाषाओ में ग्रन्थो का निर्माण किया। इसके अतिरिक्त वे साहित्य की किसी भी एक विधा से नही चिपके रहे किन्तु साहित्य के सभी अगो को पल्लवित किया। उन्होने चरित काव्यो के साथ-साथ पुराण, काव्य, बेलि, रास, पचासिका, शतक, पचीसी, बावनी, विवाहलो, आख्यान, पद एव गीतो की रचना में गहरी रुचि ली और सस्कृत एव हिन्दी में सैकडो महत्त्वपूर्ण रचनाओ में उसके प्रचार-प्रसार मे पूग योग दिया। इन्ही के शिष्य ब्रह्म जिनदास अपने गुरु से भी बाजी मार ले गये और सस्कृत मे १२ तथा हिन्दी-राजस्थानी में ५३ रचनाएँ लिख-कर एक नया कीर्तिमान स्थापित किया। वास्तव में ब्रह्म जिनदास-जैसा हिन्दी साहित्य में दूसरा कोई कवि नही मिलेगा जिन्होने अकेले ३५ रासक ग्रन्थ लिखे हों। ब्रह्म जिनदास का 'राम सीता रास' तुलसीदास के 'रामचरितमानस' से भी कही बडा है।

साहित्य निर्माण के अतिरिक्त श्रमण सस्कृति के इन उपासको द्वारा राजस्थान, मध्यप्रदेश, देहली, बागड प्रदेश एव गुजरात में मन्दिरो के निर्माण में, प्रतिष्ठा समारोहो के आयोजनो में, मूर्तियो की प्रतिष्ठा मे जितना योग दिया गया वह भी आज हमारे लिए इतिहास की वस्तु है। आज सारा बागड प्रदेश, मालवा प्रदेश, कोटा, बूँदी एव झाला-वाड का प्रदेश, चम्पावती, टोडारायसिंह एव रणथम्भौर का क्षेत्र जितना जैन पुरातत्त्व में समृद्ध है उतना देश का अन्य क्षेत्र नही है। मुगल शासन में एव उसके बाद भी इन भट्टारको ने इस प्रकार के काय सम्पन्नता में जितना रस लिया वह भारतीय पुरातत्त्व के इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटना है। सवत् १५४८ में भट्टारक जिनचन्द्र ने मुडाँसा नगर में एक हजार से भी अधिक मूर्तियो की प्रतिष्ठा का कार्य सम्पन्न किया था। यह विशाल आयोजन जीवराज पापडीवाल द्वारा कराया गया था। इसी तरह सवत् १८२६ में सवाई माधोपुर मे भट्टारक सुखेन्द्रकीर्ति के तत्त्वावधान में जो विशाल प्रतिष्ठा समारोह हुआ था उसमें भी हजारो मूर्तियो को प्रतिष्ठित बनाया गया था। राजस्थान में आज कोई ऐसा मन्दिर नही होगा जिसमें सवत् १८२६ में प्रतिष्ठापित मूर्ति नही मिलती हो। ये भट्टारक बाद में अपने कीर्तिस्तम्भ बनवाने लगे थे जिनमें भट्टारक परम्परा का विस्तृत उल्लेख मिलता है। ऐसा ही कीर्तिस्तम्भ पहले चाकसू में था जो आजकल राजस्थान पुरातत्त्व विभाग के अधीन है और यह आमेर के बाग में स्थापित किया हुआ है। आमेर (जयपुर) में एक नशियाँ कीर्तिस्तम्भ की नशियाँ के नाम से ही प्रसिद्ध है। इस कीर्ति-स्तम्भ को सवत् १८८३ मे भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति ने स्थापित किया था। इसी तरह चाँदखेडी, एव मौजमाबाद में विशाल प्रतिष्ठाओ का आयोजन हुआ था। सवत् १६६४ में प्रतिष्ठापित २०० से अधिक मूर्तियाँ तो स्वय मौजमाबाद में विराजमान है। विशाल एव कलापूर्ण मूर्तियो के निर्माण में भी इनकी गहरी रुचि होती थी। जयपुर में पार्श्व-नाथ की प्रतिमा सागवाडा, चाँदखेडी, झालरापाटन में जैसी विशालकाय एव मनोज्ञ मूर्तियाँ मूर्तिकला के उत्कृष्ट उदाहरण है।

विहार

सवत् १३५१ से सवत् २००० तक होनेवाले सभी भट्टारक, आचार्य, उपाध्याय, ब्रह्मचारी एव आर्यिकाएँ चातुर्मास के अतिरिक्त वर्ष के शेष भाग में विहार करते रहे है। इनका यह विहार ही जन जाग्रति का सूचक होता था। चातुर्मास में वे एक ही स्थान पर धर्मोपदेश दिया करते थे। शास्त्र प्रवचन, ग्रन्थ निर्माण एव अध्ययन-अध्यापन का कार्य किया करते थे। भट्टारक क्षेमकीर्ति का सवत् १७३१ से सवत् १७५७ तक का विहार का विस्तृत वर्णन प्राप्त हुआ है जिसके पढ़ने से ज्ञात होता है कि उन्होने कहाँ-कहाँ विहार किया था और किस ग्राम एव नगर को अपने चरणरज से पावन किया था।[1]

भट्टारक सकलकीर्ति का इसी प्रकार के विहार का वर्णन मिलता है। जिसमें लिखा है कि भट्टारक सकलकीर्ति "एहवा धम्म करणी करावता बागडरायने देस दक्षलगढ नवसहस्रमध्य सघली देसी प्रदेसी व्यवहार कर्म करता धर्मोपदेस देता नवाँ ग्रन्थ सुध करता वष २२ व्याहार कर्म करिने धर्म सघली प्रवर्त्या।" भट्टारक रत्नकीर्ति (सवत् १६००-१६५६) के विहार करते समय महिलाएँ उनके स्वागत में विविध मगल गीत गाती थी, चौक पूरती थी और विविध बाजे बजाती थी—

कमल बदन करुणालय कहीये
कनक वरण सोहे कात मोरी सहीय रे।
कजल दल लोचन पापना मोचन
कलाकार प्रगटो विख्यात मोरी सहीय रे ॥

जयपुर के भट्टारको को राज्य की ओर से वही सम्मान प्राप्त था जो किसी एक स्वतन्त्र शासक को प्राप्त थे। उनके पदार्पण के समय राज्य सरकार की ओर से भेंट दी जाती थी। पालकी में बैठकर चँवर करते हुए उन्हें ले जाया जाता था और साथ में ध्वज दण्ड, ध्वजा आदि सभी चलते थे। यह सब उनके आध्यात्मिक तेज पर आधारित था। जब वे किसी के आहार के लिए जाते तो उनको श्रावक गण भेंट करते तथा बडे उत्साह एव उमग के साथ उनका आहार होता। आहार करने की क्रिया को भँवर कहा जाता था।

इस प्रकार ६५० वष का यह काल भारतीय इतिहास में सास्कृतिक एव साहित्यिक जागरण की दृष्टि से महत्त्वपूण रहा। इसका विस्तृत परिचय पुस्तक के आगे के पृष्ठो में दिया जायेगा किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन साधुओ ने मुसलिम शासन काल में भी श्रमण सस्कृति को जीवित रखा और देश में अहिंसा एव शाकाहार का अधिक से अधिक प्रचार किया।

●

---

१ भट्टारक पट्टावली, पष्ठ संख्या २३-५७।
(महावीर भवन, जयपुर में सग्रहीत)

भट्टारक प्रभाचन्द्र

[सवत् १३१४ से १४०८ तक]

भट्टारक प्रभाचन्द्र उन भट्टारको में से है जिन्होने भगवान् महावीर के शासन की महती प्रभावना की थी तथा सारे देश में जैन साधु के पद की गरिमा को बढाया था। यद्यपि वे मुसलिम शासन के उस प्रारम्भिक काल में हुए थे जब कि देहली के शासक तलवार के ज़ोर से धर्म परिवर्तन में विश्वास करते थे तथा भारतीयो को मौत के घाट उतारना उनके लिए अत्यधिक सरल था लेकिन भगवान् महावीर के अनुयायियो के जीवन में अहिंसा एव सवधमसमभाव-जैसे सिद्धान्तो के आत्मसात् होने के कारण उन्होने अपने विरोधियो का भी अहिंसा से स्वागत किया और अपने जीवन से धार्मिक सहिष्णुता को कभी दूर नही होने दिया। प्रभाचन्द्र तुगलक वश के शासन काल में हुए थे। उन्होने देहली पर गयासुद्दीन तुगलक (१३२१–२५ ई) मुहम्मदबिन तुगलक (१३२५–५१) एव फिरोजशाह तुगलक का (१३५१–८८ ई), प्रारम्भिक शासन देखा था। वे मुनिराज थे। तिलतुष मात्र भी परिग्रह उनके पास नही था। वे जैन सघ के आचाय थे तथा भट्टारक पद को सुशोभित करते थे। अजमेर उनकी गादी का प्रमुख केन्द्र था।[१] राजस्थान, देहली, उत्तर प्रदेश उनका कायक्षेत्र था। बागड प्रदेश में उनके प्रधान शिष्य पद्मनन्दि का प्रभाव स्थापित था। प्रतिष्ठाएँ सम्पन्न कराना, स्थान-स्थान पर विहार करके अहिंसा एव धार्मिक सहिष्णुता का प्रचार करना प्रमुख कार्य था। जैन धर्म एव समाज पर विपत्ति आने पर उसे दूर करने में उनका पूर्ण सहयोग मिलता था। लेकिन उसमें साधु के पद की मर्यादा का प्रश्न सदैव उनके सामने रहता था।

प्रभाचन्द्र भट्टारक धर्मचन्द्र के प्रशिष्य एव भट्टारक रत्नकीर्ति के शिष्य थे। धमचन्द्र एव रत्नकीर्ति दोनो ही अपने समय के बडे प्रभावशाली भट्टारक थे। भट्टारक धमचन्द्र द्वारा प्रतिष्ठापित कितनी ही मूर्तियाँ राजस्थान के मन्दिरो में बिराजमान हैं। इनमें सवत् १२७२ (१२१५ ई) में रणथम्भौर के प्रसिद्ध गढ़ में प्रतिष्ठापित मूर्ति भरतपुर, जयपुर आदि नगरो में मिलती हैं।[२]

राजस्थान के इस प्रसिद्ध दुर्ग पर उन दिनों महाराजा हम्मीर का शासन था। ऐसे प्रभावक भट्टारक एव आचार्य धमचन्द्र के प्रभाचन्द्र सुयोग्य प्रशिष्य थे। जिनकी

---

१ Jainism in Rajasthan by Dr K C Jain page, 74

२ सवत १२७२ वर्ष माघ सुदी ५ श्री मूलसघे सरस्वती गच्छे भट्टारक श्री धर्मचन्द्रजी साह पलवीसल चंदवड सजबखात शहर रणथंभपुर राज हमीरदे।

यशोगाथा ने इन दिनो सारे जैन समाज को प्रभावित कर लिया था। प्रभाचन्द्र साधु तो थे ही किन्तु अपनी तप साधना से कितने ही चमत्कारिक कार्य भी सम्पन्न किये थे। वे अपने चमत्कारिक कार्यों से भी सारे देश में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे।

देहली मे फिरोजशाह तुगलक का शासन था। चाँदागूजर पापडीवाल उनके प्रमुख मन्त्री थे। सम्भवत देश का सारा भार उन्ही पर था। एक बार चादागूजर ने देहली में प्रतिष्ठा समारोह करने का निश्चय किया और अजमेर जाकर भट्टारक प्रभाचन्द्र से प्रतिष्ठाकार्य को सम्पन्न कराने की प्राथना की। भट्टारक प्रभाचन्द्र ने उनकी प्राथना स्वीकार कर ली। प्रतिष्ठा का मुहूत निकाल दिया गया लेकिन फिर चलने की कोई तिथि निश्चित नही की। एक-एक दिन बीतने लगा और उन्होने प्रभाचन्द्र से निवेदन किया कि यदि वे नही जा सकें तो उन्हें तो जाने की आज्ञा प्रदान करें। प्रभाचन्द्र सारी स्थिति को समझ गये और उनसे कहा कि प्रात काल देखना वे कहा होते है। रात्रि को सब प्रतिदिन की भाँति सो गये लेकिन जब वे प्रभात में उठे तो उन्हे यह देखकर आश्चय हुआ कि वे देहली के द्वार पर खडे है।[1]

देहली-प्रवेश पर उनका शानदार स्वागत किया गया। स्वय बादशाह तुगलक उन्हें लिवाने आये। बादशाह को अगवानी को आया हुआ देख सारा देहली शहर ही उनके स्वागत में उमड पडा। श्राविकाओ ने मगल गीतो के साथ उनका हार्दिक अभिनन्दन दिया। चारो ओर कलश स्थापित किये गये। ऐसे अभूतपूव स्वागत को देखकर बादशाह के दो पण्डित राघो-चेतन का हृदय ईर्ष्या से भर गया। वे पण्डित तो थे ही मन्त्रसिद्धि भी उनके पास थी। इसलिए जब प्रभाचन्द्र पालकी मे विराजमान हुए तो राघो-चेतन ने अपनी मन्त्रशक्ति से उस पालकी को ही कील दिया। प्रभाचन्द्र को सारी स्थिति समझने में देर नही लगी और उन्होने भी अपनी साधना के बल पर पालकी ही आकाश में उठा ली और वह बिना कहारो के ही चलने लगी। इस चमत्कार से चारो ओर प्रभाचन्द्र की जय-जयकार होने लगी। लोग खुशी से नाच उठे और भगवान महावीर के शासन का प्रभाव सबके हृदयो पर छा गया।

लेकिन अभी राघो चेतन ने हार नही मानी थी। उसने प्रभाचन्द्र से शास्त्राथ करने की इच्छा प्रकट की। भट्टारक प्रभाचन्द्र तो पीछे हटनेवाले नही थे क्योंकि उनका शास्त्रो का ज्ञान अगाध था। सस्कृत एव प्राकृत भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार था। न्याय शास्त्र के वे पारगामी विद्वान् थे। आखिर दोनो विद्वानो में शास्त्राथ छिडा। प्रश्नो की बौछार होने लगी। शकाएँ उठने लगी। राघो-चेतन जब प्रश्न करते तो उपस्थित जनसमूह आशका की दृष्टि से देखने लगता कि देखें अब इसका आचायश्री क्या जवाब देते है। लेकिन भट्टारक प्रभाचन्द्र उसका सहज भाव से उत्तर देते और उत्तर भी ऐसा होता जिसको सुनकर सारी सभा वाह वाह कह उठती। इस प्रकार के

---

१ बुद्धिविलास—बखतराम साह, पृ स ७४-७५।

एक प्रश्न के पश्चात् दूसरे प्रश्न का उत्तर देने लगे और अन्त में शास्त्रार्थ में भी दोनो ही राघो-चेतन को पराजित होना पडा।[1]

एक दिन राघो-चेतन ने भट्टारक प्रभाचन्द्र से पुछवाया कि आज कौन-सी तिथि है। उस दिन वास्तव में अमावस्या थी लेकिन प्रभाचन्द्र के मुख से पूर्णिमा का नाम निकल गया। फिर क्या था। दोनो पण्डितो ने इस मामूली-सी बात का बतगड बना दिया और इस बात को बादशाह तक पहुँचा दी। बादशाह ने भी इस तथ्य की प्रभाचन्द्र से जानकारी चाही कि वास्तव में जो कुछ उन्होंने सुना क्या वह सही है। आचाय प्रभाचन्द्र ने उन्होने जो कुछ कहा था उसे सही बताया। यह बात बिजली की तरह सारे शहर में फैल गयी। अब क्या था। अमावस्या की पूर्णिमा होना असम्भव था इसलिए देहली के नागरिको का हृदय बैठने लगा। मुख उदास हो गये और वे भविष्य के भय से आशकित हो उठे। श्रावकगण के मुखो पर एक अजीब भय छा गया। प्रभाचन्द्र के नर-नारी दशन करते और उन्हे निर्भय पाकर आश्चय चकित हो उठते। दिन ढलने लगा और रात्रि का जोरो से इन्तजार होने लगा। सबकी आँखें आकाश की ओर थी क्योकि उन्होने कल ही तो अमावस्या की पूव रात्रि देखी थी भला क्या वह सब झूठ था और सच था तो फिर महान जैन सन्त प्रभाचन्द्र का कल क्या होगा। इसको सोच-सोचकर तरह-तरह की आशकाएँ करने लगे।

प्रभाचन्द्र ने अपनी दैनिक क्रियाएँ यथावत् की। दोपहर मे सामायिक क्रिया सम्पन्न की। अपराह्न में सहस्रो नर-नारियो को प्रवचन भी दिया। लेकिन भय अथवा आशका का जरा भी नाम नही। प्रवचन के पश्चात् वे ध्यानस्थ हो गये और पद्मावती देवी का भक्तिपूवक एव अपने सम्पूण मनोयोग से स्तवन करने लगे और उससे सन्ध्या समय आकाश में पूण चन्द्रमा दिखलाने की प्राथना करने लगे। देवी पद्मावती को अपने भक्त प्रभाचन्द्र की प्राथना स्वीकार करनी पडी। यद्यपि यह सब उनके पद के विरुद्ध था लेकिन जैन शासन की प्रभावना का भी प्रश्न उनके सामने था। एक ओर रात्रि हो रही थी तो दूसरी ओर आकाश में चन्द्रमा उग रहा था। देहली के नागरिक आश्चयचकित थे। सभी लोग दाँतो तले अँगुली दबा रहें थे। लोग हैरान थे आकाश में चन्द्रमा देखकर। ऐसा लग रहा था मानो उन्होने चन्द्रमा को पहली बार देखा हो। लेकिन प्रभाचन्द्र के भक्तो एव प्रशसको की खुशी का पारावार नही था। वे नाच रहे थे। कूद-कूदकर अपनी प्रसन्नता प्रकट कर रहे थे। भगवान् महावीर की जय, आचार्य प्रभाचन्द्र की जय के नारे लग रहे थे। स्वय बादशाह भी हैरान थे। उनकी समझ में नही आ रहा था कि वास्तव मे उस दिन पूर्णिमा थी अथवा अमावस्या क्योकि कल तो काली चतुदर्शी थी। यह उन्होने स्त्रय देखा था तो फिर आज पूर्णिमा कैसे

---

१ इन आदि वाद कीन्हे अनेक, मुनि जीति सर्व राखी सु टेक। ६०३॥ (बुद्धिविलास) बखतराम कमण्डल सु वाद कीयै प्रचड, राघव वचन कीय खंड खंड भट्टारक पट्टावलि-महावीर भवन, जयपुर।

सम्भव हो सकती थी। बादशाह के सामने राघो-चेतन स्वय उपस्थित हुए। उनकी दशा देखने लायक थी। चेहरा उतरा हुआ था। मुख से शब्द नही निकल रहे थे। वे हाथ जोडे बादशाह के सामने खडे थे। बडी कठिनता से उन्होने बादशाह से अज किया कि जहापनाह, यह तो अवश्य आचार्यश्री का करिश्मा है। मन्त्र-साधना है अथवा हमारी आँखें ही अपने आपको धोखा दे रही हैं। बादशाह सलामत, आप स्वय पचाग देख लीजिए। सारी जनता से पूछ लीजिए कि आज कौन-सी तिथि है। इसलिए हमारा तो हजूर से इतना ही निवेदन है कि नगर के १२ कोश तक घोडे दौडाये जायें और यदि वहाँ भी चन्द्रमा दिखता है तो मैं अपनी हार मान जाऊँगा नही तो यह सब करिश्मा है, एक धोखा है। और धोखा भी मुझे नही स्वय बादशाह सलामत को है।

बादशाह ने तत्काल प राघो-चेतन का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। चारो ओर घुडसवार दौडा दिये गये। उनको सख्त आदेश दिये गये कि वे १२ कोश तक जाकर देखें कि आज उन्हे चन्द्रमा दिखता है अथवा नही। घोडे दौडे, राघो-चेतन के शिष्य भी भागे लेकिन सभी के हाथ असफलता लगी तथा उन्होने बादशाह से आकर यही निवेदन किया कि जैसा उन्होने देहली मे देखा है वैसा ही अन्यत्र देखा है। वास्तव मे सभी स्थानो पर चन्द्रमा अपनी पूर्णावस्था मे दिखाई दे रहा था। यह राघो-चेतन की तीसरी हार थी।[1]

राघो-चेतन ने अभी तक अपनी हार नही मानी। उसने एक दावँ और फेका तथा अपनी मन्त्र शक्ति से भट्टारक प्रभाचन्द्र के कमण्डलु के जल को मदिरा में परिवर्तित कर दिया तथा बादशाह से निवेदन किया कि आचार्यश्री के कमण्डलु में जल के स्थान पर मदिरा भरी हुई है। इससे स्पष्ट है कि ये जैन साधु जनता को धोखा देते है और स्वय मदिरा पान करते है। यह प्रभाचन्द्र के चमत्कार की अन्तिम परीक्षा थी। फिरोजशाह ने राघव चेतन की बात मानकर पुन प्रभाचन्द्र से इसका समाधान चाहा। आचार्य प्रभाचन्द्र ने राघव-चेतन की चाल को शीघ्र समझ लिया और उनकी साधना के बल पर कमण्डलु में जल के स्थान पर पुष्प होने मे देर नही लगी। तत्काल प्रभाचन्द्र ने अपने कमण्डलु को उलटा कर दिया और उसमे से पुष्प निकलते ही फिरोजशाह की

---

१ मावस दिन मुनि तिह ठान देखि, सिष्यनु तैं बूझी तिथि बिसेखि।
सिष्यनु मिलि पूरन्नया कहीस यह अरज दिलीपति पै दईस ॥६०४॥
है आजु अमावस अहो साहि बुनु पून्यौ झूठी कही काहि।
पतिसाहि खिनाई बूझि तित्थ, मुनि भाषी पून्यों आजि सत्ति ॥६०५॥
देवी पदमावत्ति कौं अराधि, बिनती काई स ध्या समै साधि।
दीन्हों उगाय तत्र माँझि चद, मगर्यौ पुर में जस अति अमन्द ॥६०६॥
वा बिनु मिलि भाषी अहो साहि, द्वादस कोसनि परकास पाहि।
तब साँड दौडाये अनेक, सुनि मुनि दिय बाँधि सुजाल एक ॥६०७॥
वे दौडे कोस बहोत राति, बारह होमें ऊग्यो मयाति।
या विधि लखि साहि मुनिंद पासि, आये नमि कीन्ही अरज दासि ॥६०८॥

प्रसन्नता का ठिकाना नही रहा ।[1]

इस प्रकार सभी परीक्षाओ मे प्रभाचन्द्र की विजय हुई । बादशाह फिरोजशाह तुगलक ने भी अपनी अत्यधिक प्रसन्नता ज़ाहिर की और आचार्यश्री की जय-जयकार की । सारे नगर मे प्रसन्नता की लहर दौड गयी । लोग आचाय श्री के दशनो को उमड पडे । अपार जनसमूह था और कहते है देहलीवासियो ने ऐसा भाव-भीना दृश्य पहले कभी नही देखा था । प्रभाचन्द्र के चमत्कार की कहानी बादशाह के महलो तक में पहुँच गयी । इसलिए बेगमे भी उनके दशनो को आतुर हो उठी । प्रभाचन्द्र तो नग्न थे इसलिए महलो मे जा भी कैसे सकते थे । लेकिन उनकी प्रशसा की कहानी इतनी अधिक बढ गयी थी कि बेगमो से मुनिश्री के दर्शनो बिना नही रह गया और अन्त में उन्हे बादशाह से यह कहना पडा कि वे जबतक मुनिश्री के दशन नही करेंगी आहार-पानी का त्याग रखेंगी । बादशाह ने अपने प्रधान चाँद गूजर को बुलवाया और कहा कि आचार्यश्री का बेगमें भी दशन करना चाहती है इसलिए इसका शीघ्र प्रबन्ध किया जाये । मुसलिम बादशाहो के महलो मे किसी जैन मुनि के प्रवेश की यह प्रथम घटना थी । इसलिए श्रावको ने मिलकर मुनिश्री प्रभाचन्द्र से निवेदन किया कि यदि वे लँगोट लगाकर महलो मे जा सकें तो धर्म की रक्षा हो सकेगी अन्यथा समस्त समाज को बादशाह के क्रोध का सामना करना पडेगा । प्रभाचन्द्र ने सवप्रथम लँगोट लगाने के लिए पूणत अस्वीकार कर दिया और अपनी पूव परम्परा का उल्लेख किया । आचायश्री का उत्तर सुनकर सभी के चेहरे उदास हो गये और भावी आशका की कल्पना करने लगे । समाज ने उनसे फिर प्राथना की । नगर-निवासियो ने भी आचाय-श्री से महलो में जाकर बादशाह की बेगमो को अहिंसा एव त्याग का उपदेश देने की प्रार्थना की । आख़िर प्रभाचन्द्र को देशकाल-भाव को देखते हुए समाज की प्राथना स्वीकार करनी पडी और उन्होने रणवास में जाकर बादशाह की बेगमो को दशन दिया तथा उन्हें अहिंसा एव सव धर्म समभाव-जैसे सिद्धान्तो को जीवन में उतारने पर विशेष ज़ोर दिया ।[2] इसके पश्चात् प्रभाचन्द्र की यशोगाथा सारे देश में फैल गयी और समस्त जैन समाज ने उनका ख़ूब सम्मान किया । उन्होने देहली में भट्टारक गादी की स्थापना की और सारे देश में भट्टारको के पद का गौरव बढाया ।

---

१ यह कारण आज कहिये मुनीस मुनि कही वाद जानहुँ महीस ।
ताहू समये वादोनु आय, मत्रनि ते कमडल मद भराय ॥६०६॥
दै कही अहो पातिसाहि ऐहु, कमडल मद भरयौ बिना सदेहु ।
मुनि लखि वामें किय पुष्प आनि दीन्हों उघाडि कमडल महानि ॥६१०॥

२ दरसन बिनि भोजन हम करै न, या विधि भाषे बेगमनु बैन ।
तब साहि बुलाये वै प्रधान भाषी ले आहु मुनी महान ॥६१२॥
दरसन वेगमा जब करे आप, तब ही वुनको मिटिहै अताप ।
मिलि भाषी मुनि तै सत्रनि साह तुम दरस बेगमनि सु चाह ॥६१३॥
तातें हमरी विनती सु एहु करि कै लगोट दरसन सु देहु ।
मुनि कही सुनौ तुम सकल साह, चलिजे यह जग माँभि राह ॥६१४॥

प्रभाचन्द्र मूलसघ एवं नन्द्याम्नाय के भट्टारक थे। उनके सम्बन्ध मे बुद्धिविलास के अतिरिक्त एक भट्टारक पदावली मे भी इसी तरह का वणन मिलता है। इस पट्टावली में सवत् १७३३ तक होनेवाले भट्टारको का वणन किया गया है। अन्तिम भट्टारक जगत्कीर्ति है जिनका पट्टाभिषेक आमेर मे सवत् १७३३ मे हुआ था।[१] प्रभाचन्द्र की प्रशसा मे एक पदावली[२] में निम्न प्रशस्ति लिखी हुई है—

"महावाद वादीश्वर वादिपितामह प्रमेयकमलमातण्डाद्यनेकग्रन्थविधायक श्रीमहापुराणस्वयम्भूसप्तभक्ति परमात्मप्रकाश समयसारादि सूत्र व्याख्यान सजन सज्ञान कोविदसभाकीर्लिनराणा श्रमित्प्रभाचन्द्रभट्टारकाणा"

उक्त प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि प्रभाचन्द्र शास्त्रार्थों मे अत्यधिक प्रवीण थे। प्रमेयकमलमात्तण्ड, महापुराण, परमात्मप्रकाश, समयसार, तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थो के व्याख्याता थे तथा पण्डितो की सभा के भूषण थे। सकलकीर्ति रास में प्रभाचन्द्र को मूल सघ का सस्थापक कहा है।[3] इसी तरह आराधना पजिका की सवत् १४१६ की एक प्रशस्ति में प्रभाचन्द्र को देहली के बादशाह फिरोजशाह तुगलक के शासन में होने का उल्लेख किया है।[४]

समय—एक पट्टावलि के अनुसार भट्टारक प्रभाचन्द्र का जन्म सवत् १२९० पौष सुदी १५ को हुआ। वे १२ वष तक गृहस्थ रहे तथा १२ वर्ष तक साधु की अवस्था में दीक्षित रहे तथा ७४ वष ११ मास १५ दिन तक भट्टारक पद पर बने रहे। इस पट्टावलि के अनुसार प्रभाचन्द्र सवत् १४०८ तक भट्टारक पद पर आसीन रहे।

विहार—प्रभाचन्द्र एक दीघकाल तक भट्टारक पद पर आसीन रहे इसलिए उन्होने देश के विभिन्न भागो में एक बार नही किन्तु कितनी ही बार बिहार किया। उनके मुख्य कार्य-क्षेत्र अजमेर, देहली एव बागड प्रदेश रहे। उन्हाने अपने ही एक शिष्य को बागड प्रदेश की गादी पर बिठला दिया।

प्रतिष्ठा कार्य—प्रभाचन्द्र ने देश के विभिन्न भागो मे प्रतिष्ठा-विधि का कुशलता पूवक सचालन किया। जयपुर, आवा, बयाना आदि स्थानो में उनके अथवा उनके शिष्य पद्मनन्दि द्वारा प्रतिष्ठाएँ सम्पन्न हुईं। जयपुर के काला छावडा के मन्दिर में पार्श्वनाथ की एक धातु की मूर्ति है जिसकी प्रतिष्ठा सवत् १४१३ वैशाख सुदी ६ के दिन हुई थी और जिसमें भट्टारक प्रभाचन्द्र का उल्लेख हुआ है। इसी तरह आवाँ एव बयाना में सवत् १४०० तथा सवत् १४०४ की मूर्तियाँ है जिनमे भट्टारक प्रभाचन्द्र एव उनके

---

१ बुद्धिविलास, बखतराम साह पृष्ठ सख्या ७७ पद्य सख्या ६१५ ६१६
२ भट्टारक पट्टावली—दिगम्बर जैन मन्दिर ठोलिया जयपुर
महावीर भवन। जयपुर में सग्रहीत, रजिस्टर सख्या २ पृ सख्या ११
३ मूलसघ सस्थापक महाप्रभाचन्द्र वदीतु ॥२५॥
४ भट्टारक सम्प्रदाय—प वी पी जोहरापुरकर, पृष्ठ सख्या ११।

शिष्य पद्मनन्दि दोनो का स्मरण किया गया है।[1]

उक्त प्रभाचन्द्र मूलसघ एव बलात्कारगण के भट्टारक थे। इनके पूव सेनगण के भट्टारक बालचन्द के शिष्य दूसरे प्रभाचन्द्र थे जिनके सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी नही मिलती। तीसरे प्रभाचन्द्र देहली शाखा के ही भट्टारक जिनचन्द्र के शिष्य थे जिनका परिचय हम अगले पृष्ठो में देंगे। चौथे प्रभाचन्द्र सूरत शाखा के भट्टारक ज्ञानभूषण के शिष्य थे।

इस प्रकार भ प्रभाचन्द्र ने दीघकाल तक देश में धार्मिक एव सामाजिक जागृति का सचालन किया और भगवान् महावीर के शासन की महती प्रभावना की।

१ मूर्तिलेख सग्रह, भाग १, पृष्ठ सख्या १६८ एव भाग २ पृष्ठ सख्या ३०५ (महावीर भवन में सग्रहीत)।

भट्टारक पद्मनन्दि

[सवत् १३८५ से १४५० तक]

"तिण पाटि दियै श्रीय पद्मनदि" उक्त पक्ति से एक पट्टावली में भट्टारक पदमनन्दि का परिचय दिया गया है। पदमनन्दि का मुख्य स्थान गुजरात था। वे आचार्य कहलाते थे और भट्टारक प्रभाचन्द्र की ओर से गुजरात में धार्मिक विधान बनाते थे एव प्रवचन आदि के द्वारा जैन शासन की प्रभावना बढाते थे। एक बार गुजरात में वहा के श्रावको ने प्रतिष्ठा महोत्सव का आयोजन किया। प्रतिष्ठा विधि सम्पन्न कराने के लिए भट्टारक प्रभाचन्द्र से प्रार्थना की गयी लेकिन उत्तरी भारत में ही अत्यधिक व्यस्तता के कारण वे वहाँ नही जा सके। उस समय आचाय पद्मनन्दि को ही सूरि मन्त्र देकर भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित कर दिया और गुजरात प्रदेश का वह भाग उनके अधीन कर दिया। उक्त घटना का कविवर बखतराम साह ने अपने बुद्धिविलास में विस्तृत वर्णन किया है।[1]

सवत् तेरह सौ पिचिहतरचौ जानिवै,
भये भट्टारक प्रभाचन्द्र गुनखानि वै।
तिनको आचारिज इक हौ गुजरात मैं
तहाँ सवै पचनि मिलि ठानी बात मैं ॥६१८॥
कीजै एक प्रतिष्ठा तो सुभ काज ह्वै,
करन लगे विधिवत सब ताकौ साज वे।
भट्टारक बुलवाये सो पहुँचे नही,
तबै सबै पचनि मिलि यह ठानी सही ॥६१९॥
सूरि मन्त्र वाहि आचारिज कौ दियो,
पदमनदि भट्टारक नाम सुँ यह कियो ॥

इसी तरह का वणन एक अन्य दिगम्बर मुनि पट्टावलि में मिलता है जो सवत् ४ से सवत् १८७९ तक की है। इस पट्टावलि में पद्मनन्दि के बारे में निम्न प्रकार उल्लेख किया है।

"सवत् १३८५ पौष सुदि ७ पद्मनन्दि जी गृहस्थ वर्ष १० मास ७ दीक्षा वर्ष

---

१ महावीर भवन, जयपुर के संग्रह में ६७ सख्या पर देखिए।

२३ मास ५ भट्टारक वष ६५ मास ५ दिन १८ अन्तर दिन १० सर्व वष ९९ मास ५ दिन २८"

इस प्रकार पद्मनन्दि के जीवन के बारे में कुछ सामान्य परिचय मिलता है। एक भट्टारक पट्टावलि के अनुसार वे जाति से ब्राह्मण थे लेकिन उनके माता-पिता के बारे में कोई जानकारी नही मिलती। वे केवल १० वष एव ७ महीने तक गृहस्थ रहे। इसका अथ यह है कि ११ वर्ष की आयु में ही घर-बार छोडकर उन्होने वैराग्य धारण कर लिया और भट्टारक प्रभाचन्द्र का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। अपनी विलक्षण प्रतिभा के कारण उन्होने शीघ्र ही सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त कर लिया। युवावस्था मे ही वे आचार्य बन गये तथा गुजरात में जाकर स्वतन्त्र रूप से धम प्रचार करने लगे। इसके पश्चात् सवत् १३८५ पौष सुदी सप्तमी की शुभ वेला मे भट्टारक पद पर सुशोभित कर दिये गये। पद्मनन्दि ने भट्टारक बनने के पश्चात सारे देश में विहार किया तथा गुजरात एव राजस्थान को अपने विहार का प्रमुख केन्द्र बनाया।

भट्टारक बनने के समय पद्मनन्दि की आयु केवल ३४ वष की थी। वे पूर्ण युवा थे। तपस्वी जीवन की प्रतिभा उनके मुख से बरसती थी। विलक्षण प्रतिभा के धनी होने के कारण वे सहज ही जन साधारण को अपनी ओर आकृष्ट कर लेते थे। एक प्रशस्तिकार ने इनका निम्न प्रकार गुणानुवाद किया है—

पद्मनन्दी गुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणी।
पाषाणघटिता येन वादिता श्रीसरस्वती ॥१॥
उज्जयन्तगिरौ तेन गच्छ सारस्वतो भवेत्।
अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नम श्रीपद्मनन्दिने ॥

उक्त पद्यो से ज्ञात होता है कि पद्मनन्दि पर सरस्वती की असीम कृपा थी और एक बार उन्होने पाषाण की सरस्वती को मुख से बुला दी थी।[1] लोगो को बोलती हुई सरस्वती देखकर अत्यधिक आश्चर्य हुआ और इससे उनकी कीर्ति एव प्रभावना में अत्यधिक वृद्धि हुई। एक अन्य पट्टावलि में उनकी निम्न प्रकार स्तुति की गयी है—

श्रीमत्प्रभाचन्द्रमुनीन्द्रपट्टे शश्वत् प्रतिष्ठ प्रतिभागरिष्ठ।
विशुद्धसिद्धान्तरहस्यरत्न, रत्नाकरो नन्दतु पद्मनन्दी ॥[2]

गुजरात प्रदेश के पश्चात् आचाय पद्मनन्दि ने राजस्थान को अपना कायक्षेत्र चुना तथा चित्तौड, उदयपुर, बूँदी, नैणवा, टोक, झालावाड जैसे स्थानो को अपनी गतिविधियो का केन्द्र बनाया। वे नैणवा (चित्तौड)-जैसे सास्कृतिक नगर में १० वर्ष से अधिक रहे। भट्टारक सकलकीर्ति ने इसी नगर मे उनसे शिक्षा प्राप्त की थी और यही

१, एके श्रावक प्रतिष्ठाने प्रभाचन्द्रजी ने बुलाया सो वे नाया तदि आचार्य नें सूरिमन्त्र दे भट्टारक करि प्रतिष्ठा कराई तदि भट्टारक पद्मनन्दि जी हुआ। पाषाण की सरस्वती मुखै बुलाई। जाति ब्राह्मण पट्ट अजमेर।

२ जैन सिद्धान्त भास्कर भाग–१, किरण ४, पष्ठ ५३।

पर उनसे दीक्षा धारण की।[1]

आचाय पद्मनन्दि अपने समय के बडे विद्वान्, साधु एव भट्टारक थे। इनके सघ में अनेक साधु एव साध्वियाँ थी। इनमें चार शिष्य प्रधान थे जिन्होने अलग-अलग प्रदेशो में गादिया स्थापित की।[2] डॉ जोहरापुरकर ने भट्टारक सम्प्रदाय में तीन भट्टारक गादियाँ स्थापित करने के लिए लिखा है।[3] इनमें शुभचन्द्र देहली, जयपुर शाखा के (नागरचाल), सकलकीर्ति (ईडर शाखा), देवेन्द्रकीर्ति (सूरत शाखा) के नाम तो मिलते है लेकिन जिस शिष्य को दक्षिण में भेजा गया था उसके नाम का उल्लेख नही मिलता।

एक अन्य प्रशस्ति में मदनकीर्ति का नाम अवश्य मिलता है, हो सकता है उसे ही दक्षिण की ओर भेजा गया हो। बखतराम साह ने अपने बुद्धिविलास में केवल सकलकीर्ति का ही उल्लेख किया है तथा कहा है सकलकीर्ति ने सम्पूण गुजरात देश को सम्बोधित किया था।[4]

आचाय पद्मनन्दि सस्कृत के बडे भारी पण्डित थे। राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारो में इनकी कितनी ही रचनाएँ उपलब्ध हो चुकी है, इनमें कुछ रचनाओ के नाम निम्न प्रकार है—

१ पद्मनन्दि श्रावकाचार	
२ अनन्त व्रत कथा	९ देवशास्त्र गुरुपूजा
३ द्वादश व्रतोद्यापन पूजा	१० रत्नत्रय पूजा
४ पाश्वनाथ स्तोत्र	११. भावना चौंतीसी
५ नन्दीश्वर पक्ति पूजा	१२ परमात्मराज स्तोत्र
६. लक्ष्मी स्तोत्र	१३ सरस्वती पूजा
७ वीतराग स्तोत्र	१४ सिद्ध पूजा
८ श्रावकाचार टीका	१५ शान्तिनाथ स्तवन

ये सभी रचनाएँ सस्कृत भाषा में निबद्ध है। श्रावकाचार एव उसकी टीका को छोडकर बाकी सभी रचनाएँ पूजा स्तोत्र एव कथापरक है जिसमें मुनिश्री की रचना शैली का सकेत मिलता है। वे पूजा एव स्तोत्रो तथा कथापरक कृतियो के माध्यम से धर्म प्रचार किया करते थे।

---

१ चौथो चेलो आचार्य श्री सक्लकीर्ति वर्ष छब्बीसमी साठ पर्दर्थ पाटणनाहता तीणी दीक्षा लीधी तीणी गाँव श्री नैणवा मध्ये।

२ भट्टारक श्री पद्मनन्दी तेहना चेला ४ हुआ। १ चेला पोताना पट थाप्यो। बीजो चेलो दक्षिण मोकाल्यो। त्रीजो चेलो नागरवाले मोकल्यो। चौथो चेलो आचार्य श्री सकलकीर्ति।

—भट्टारक पट्टावलि, महावीर भवन, जयपुर

३ भट्टारक सम्प्रदाय, पृष्ठ संख्या १६।

४ ताकैं पाहि सकलकीर्ति मुनिवर भये
तिन समाधि गुजरात देस अपने किये ॥६८०॥

साहित्य रचना के अतिरिक्त वे प्रतिष्ठा विधि भी सम्पन्न कराते थे। सर्वप्रथम प्रतिष्ठा समारोह मे सम्मिलित होने के कारण इन्हे भट्टारक का पद दिया गया था और वे इसके पश्चात् भी बराबर प्रतिष्ठाओ का सचालन किया करते थे। राजस्थान में इनके द्वारा प्रतिष्ठित सैकडो मूर्तियाँ मन्दिरो में विराजमान है। आपने सवत् १४५० वैशाख सुदी १२ को आदिनाथ की प्रतिष्ठा विधि सम्पन्न की थी।[1] सागानेर के सघीजी मन्दिर मे शान्तिनाथ स्वामी की प्रतिमा है जिसकी प्रतिष्ठा इन्ही के द्वारा सवत् १४६४ की फागुन सुदी १३ को अजमेर में सम्पन्न हुई थी।[2] इसी सवत् की प्रतिष्ठित मूर्ति पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर टोक मे भी है। इसी तरह भरतपुर के पचायती मन्दिर में मल्लिनाथ स्वामी की एक मूर्ति विराजमान है जो सवत् १४०४ माघ सुदी १३ के दिन की प्रतिष्ठापित है तथा इसके प्रतिष्ठाचार्य भट्टारक पद्मनन्दि थे।[3]

इस प्रकार पद्मनन्दि का एक लम्बी अवधि तक साहित्य एव सस्कृति की सेवा करते हुए सवत् १४६५ के आसपास स्वगवास हो गया।

---

१ भट्टारक सम्प्रदाय पृष्ठ सख्या ९२।
२ मूर्तियन्त्र सग्रह—महावीर भवन, जयपुर, पृष्ठ सख्या २६४।
३ मूर्तियन्त्र सग्रह—महावीर भवन, जयपुर, पृष्ठ सख्या २६४।

भट्टारक सकलकीर्ति

[सवत् १४५६ से १४९९ तक]

महावीर शासन की १५वी शताब्दी मे जबरदस्त प्रभावना करनेवाले आचार्यो में भट्टारक सकलकीर्ति का नाम सर्वोपरि है। देश में जैन साहित्य एव सस्कृत का जो जबरदस्त प्रचार एव प्रसार हो सका था उसमे इनका प्रमुख योगदान था। सकलकीर्ति ने सस्कृत एव प्राकृत साहित्य को नष्ट होने से बचाया और लोगो में उसके प्रति अद्भुत आकषण पैदा किया। जनता में धम के प्रति गहरी आस्था उत्पन्न करके उन्होने धार्मिक शान्ति का बिगुल बजाया एव अपने अद्भुत व्यक्तित्व से तत्कालीन समाज का पथ प्रदशन किया। उन्होने अपना ऐसा शिष्य परिवार तैयार किया जिसने उनके स्वगवास के पश्चात् भी उनकी परम्परा को जीवित रखा एव भगवान् महावीर के शासन के प्रभाव में उत्तरोत्तर वृद्धि करने में अपना सौभाग्य समझा।

जीवन परिचय

सन्त सकलकीर्ति का जन्म सवत् १४४३ (सन् १३८६) में हुआ था। डा प्रेमसागर जैन ने 'हिन्दी जैन भक्ति-काव्य और कवि' में सकलकीर्ति का सवत् १४४४ में ईडर गद्दी पर बैठने का जो उल्लेख किया है वह सकलकीर्ति रास के अनुसार सही प्रतीत नही होता। इनके पिता का नाम करमसिह एव माता का नाम शोभा था। ये अणहिलपुर पट्टण के रहनेवाले थे। इनकी जाति हूबण्ड थी।[1] 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' कहावत के अनुसार गभधारण करने के पश्चात् इनकी माता ने एक सुन्दर स्वप्न देखा और उसका फल पूछने पर करमसिह ने इस प्रकार कहा—[2]

"तजि वपण सुणिसार, सार कुमर तुम्ह होइसिइए।
निर्मल गगानीर, चदन नदन तुम्ह तणुए ॥९॥

---

१ हरषी सुणीय सुवाणि पालइ अन्य ऊअरि सुपर।
चोऊदत्रिताल प्रमाणि पूनइ दिन पुत्र जनमीउ ॥
२ न्याति मांहि मुहुतवत हूबड हरषि वखाणिइए।
करमसिंह वितपन्न उदयवंत इम जाणीइए ॥३॥
शोभित तरस अरधागि, मूली सरीस्य सुन्दरीय।
सील स्यगारित अङ्गि पेखु प्रत्यक्षे पुरदरीय ॥४॥
—सकलकीर्तिरास

जलनिधि गहिर गभीर खीरोपम सोहा मणुए ।
ते जिहि तरण प्रकाश जग उद्योतन जस किरणि ॥१०॥

बालक का नाम पूर्नसिह अथवा पूर्णसिह रखा गया। एक पट्टावलि में इनका नाम पदथ भी दिया हुआ है। द्वितीया के चन्द्रमा के समान वह बालक दिन प्रतिदिन बढने लगा। उसका वण राजहस के समान शुभ्र था तथा शरीर बत्तीस लक्षणो से युक्त था। पाँच वष के होने पर पूर्णसिह को पढ़ने बैठा दिया गया। बालक कुशाग्र बुद्धि का था इसलिए शीघ्र ही उसने सभी ग्रन्थो का अध्ययन कर लिया। विद्यार्थी अवस्था मे भी इनका अर्हद् भक्ति की ओर अधिक ध्यान रहता था तथा क्षमा, सत्य, शौच एव ब्रह्मचर्य आदि धर्मों को जीवन में उतारने का प्रयास करते रहते थे। गाहस्थ्य जीवन के प्रति विरक्ति देखकर माता-पिता ने उनका १४ वष की अवस्था में ही विवाह कर दिया लेकिन विवाह बन्धन के पश्चात् भी उनका मन ससार मे नही लगा और वे उदासीन रहने लगे। पुत्र की गति-विधियाँ देखकर माता-पिता ने उन्हें बहुत समझाया और कहा कि उनके पास जो अपार सम्पत्ति है, महल-मकान है, नौकर-चाकर है, उसके वैराग्य धारण करने के पश्चात् वह किस काम आवेगा ? यौवनावस्था सासारिक सुखो के भोग के लिए होती है। सयम का तो पीछे भी पालन किया जा सकता है। पुत्र एव माता-पिता के मध्य बहुत दिनो तक वाद-विवाद चलता रहा[1]। वे उन्हें साधु जीवन की कठिनाइयो की ओर सकेत करते तथा कभी-कभी अपनी वृद्धावस्था का भी रोना रोते लेकिन पूर्णसिह के कुछ समझ में नही आता और वे बार-बार साधु जीवन धारण करने की उनसे स्वीकृति माँगते रहते[2]।

अन्त मे पुत्र की विजय हुई और पूर्णसिह ने २६वें वष में अपार सम्पत्ति को तिलाजलि देकर साधु जीवन अपना लिया। वे आत्म कल्याण के साथ-साथ जगत्कल्याण की ओर चल पडे। भट्टारक सकलकीर्तिनु रास के अनुसार उनकी इस समय केवल १८ वष की आयु थी। उस समय भट्टारक पद्मनन्दि का मुख्य केन्द्र नैणवा (राजस्थान) था और वे आगम ग्रन्थो के पारगामी विद्वान् माने जाते थे इसलिए ये भी नैणवाँ चले गये और उनके शिष्य बनकर अध्ययन करने लगे। यह उनके साधु जीवन की प्रथम पद यात्रा थी। वहाँ ये आठ वर्ष रहे और प्राकृत एव सस्कृत के ग्रन्थो का गम्भीर अध्यनन

---

१ देखवि चंचल चित मात पिता कहि वछ सुणि ।
अह्य मंदिर बहु वित्त आविसिइ कारण कवण ॥२०॥
लहुआ लीलावत सुख भोगवि संसार तणाए ।
पछइ दिवस बहुत अछिइ संयम तप तणाए ॥२१॥
—सकलकीर्तिनु रास

२ वयणि तजि सुणोवि पून पिता प्रति इम कहिए ।
निज मन सुविस करेवि, धीरजे तरण तप गहए ॥२२॥
ज्योवन गिइ गमार, पछइ पालइ सीयल घणा ।
ते कहु कवण विचार विण अवसर जे वरसीयिए ॥२३॥
—सकलकीर्तिनु रास

किया, उनके मर्म को समझा और भविष्य में सत्साहित्य का प्रचार-प्रसार ही अपना एक उद्देश्य बना लिया। ३४ वष में उन्होने आचाय पदवी ग्रहण की और अपना नाम सकलकीर्ति रख लिया।

नैणवा से पुन बागड प्रदेश में आने के पश्चात् ये सवप्रथम धामिक चेतना जाग्रत करने के निमित्त स्थान-स्थान पर बिहार करने लगे। एक बार वे खोडण नगर आये और नगर के बाहर उद्यान में ध्यान लगाकर बैठ गये। इधर नगर से आयी हुई एक श्राविका ने जब नग्न साधु को ध्यानस्थ बैठे देखा तो घर जाकर उसने अपनी सास से जिन शब्दो में निवेदन किया उसका एक पटटावलि में बहुत सुन्दर वणन दिया हुआ है[1]।

बिहार

सकलकीर्ति का वास्तविक साधु जीवन सवत् १४७७ से प्रारम्भ होकर सवत् १४९९ तक रहा। इन २२ वर्षो में इन्होने मुख्य रूप से राजस्थान के उदयपुर, बाँस-वाडा, प्रतापगढ आदि राज्यो एव गुजरात प्रान्त के राजस्थान के समीपस्थ प्रदेशो मे खूब बिहार किया। उस समय जन-साधारण के जीवन में धम के प्रति काफी शिथिलता आ गयी थी। साधु-सन्तो के बिहार का अभाव था। जन-साधारण की न तो स्वाध्याय के प्रति रुचि रही थी और न उन्हे सरल भाषा में साहित्य ही उपलब्ध होता था। इसलिए सवप्रथम सकलकीर्ति ने उन प्रदेशो में बिहार किया और सारे समाज को एक सूत्र में बाधने का प्रयास किया। इसी उद्देश्य से उन्होने कितनी ही यात्रा-सघो का नेतृत्व किया। सव प्रथम सघपति सिंह के साथ गिरिनार यात्रा आरम्भ की। फिर वे चम्पानेर की ओर यात्रा करने निकले। वहाँ से आने के पश्चात् हूवण्ड जातीय रतना के साथ मागीतुगी की यात्रा को प्रस्थान किया। इसके पश्चात् उन्होने अन्य तीर्थों की वन्दना की जिससे देश मे धामिक चेतना फिर से जाग्रत् होने लगी।

प्रतिष्ठाओ का आयोजन

तीथ यात्राओ के समाप्त होने के पश्चात् सकलकीर्ति ने नव-मन्दिर निर्माण एव प्रतिष्ठाएँ करवाने का कार्य हाथ में लिया। उन्होने अपने जीवन में १४ बिम्ब प्रतिष्ठाओ का सचालन किया। इस कार्य मे योग देनेवालो में सघपति नरपाल एव उनकी पत्नी बहूरानी का नाम विशेषत उल्लेखनीय है। गलियाकोट में सघपति मूलराज ने इन्ही के उपदेश से चतुर्विशति जिनबिम्ब की स्थापना की थी। नागद्रह जाति के श्रावक सघपति ठाकुरसिंह ने भी कितनी ही बिम्ब प्रतिष्ठाओ में योग दिया। आबू नगर में उन्होने एक प्रतिष्ठा महोत्सव का सचालन किया था जिसमें तीन चौबीसी की एक विशाल प्रतिभा परिकर सहित स्थापित की गयी।

---

१ भट्टारक पट्टावलि महावीर भवन जयपुर के सग्रह में।

२ पवर प्रासाद आब्बू तस परिकरि जिनवर त्रिणि चउवीस।
तस कीधो प्रतिष्ठा तेह तणीय, गुरि मेलवि चउविध सध्य सरीस॥

सन्त सकलकीर्ति द्वारा सवत् १४९०, १४९२, १४९७ आदि सवतो में प्रतिष्ठापित मूर्तिया उदयपुर, डूंगरपुर एव सागवाडा आदि स्थानो के जैन मन्दिर में मिलती है। प्रतिष्ठा महोत्सवो के इन आयोजनो से तत्कालीन समाज में जन जाग्रति की जो भावना उत्पन्न हुई थी, उसने देश में जैन धम एव सस्कृति को जीवित रखने में अपना पूरा योग दिया।

व्यक्तित्व एव पाण्डित्य

भट्टारक सकलकीर्ति असाधारण व्यक्तित्ववाले सन्त थे। इन्होने जिन-जिन परम्पराओ की नीव रखी, उनका बाद में खब विकास हुआ। अध्ययन गम्भीर था इस लिए कोई भी विद्वान् इनके सामने नहीं टिक सकता था। प्राकृत एव सस्कृत भाषाओ पर इनका समान अधिकार था। ब्रह्म जिनदास एव भ भुवनकीर्ति जैसे विद्वानो का इनका शिष्य होना ही इनके प्रबल पाण्डित्य का सूचक है। इनकी वाणी में जादू था इसलिए जहा भी इनका बिहार हो जाता था वही इनके सैकडो भक्त बन जाते थे। ये स्वय तो योग्यतम विद्वान् थे ही, किन्तु इन्होने अपने शिष्यो को भी अपने ही समान विद्वान् बनाया। इन्हे महाकवि, निर्ग्रन्थ राजा एव शुद्ध चरित्रधारी[१] तथा हरिवश पुराण में तपोनिधि एव निर्ग्रन्थ श्रेष्ठ[२] आदि उपाधियो से सम्बोधित किया है।

भट्टारक सकलभूषण ने अपने उपदेशरत्नमाला की प्रशस्ति में कहा है कि सकलकीर्ति जन-जन का चित्त स्वत ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेते थे। ये पुण्यमूर्ति स्वरूप थे तथा पुराण ग्रन्थो के रचयिता थे।[३]

इसी तरह भट्टारक शुभचन्द्र ने सकलकीर्ति को पुराण एव काव्यो का प्रसिद्ध नेता कहा है। इनके अतिरिक्त इनके बाद होनेवाले प्राय सभी भट्टारक सन्तो ने सकलकीर्ति के व्यक्तित्व एव विद्वत्ता की भारी प्रशसा की है। ये भट्टारक थे किन्तु मुनि नाम से भी अपने आपको सम्बोधित करते थे। धन्यकुमार चरित्र ग्रन्थ की पुष्पिका में इन्होने अपने आपका मुनि सकलकीर्ति नाम से परिचय दिया है।

ये स्वय भी नग्न अवस्था में रहते थे और इसीलिए ये निर्ग्रन्थकार अथवा निग्रन्थराज के नाम से भी अपने शिष्यो द्वारा सम्बोधित किये गये है। इन्होने बागड

---

१ ततोऽभवत्तस्य जगत्प्रसिद्धे पट्टे मनोज्ञे सकलादिकीर्ति ।
महाकवि शुद्धचरित्रधारी निर्ग्रन्थराजा जगति प्रतापी ॥
—जम्बूस्वामी चरित्र

२ तत्पट्टपकेजविकासभास्वान् बभूव निर्ग्रन्थवर प्रतापी ।
महाकवित्वादिकलाप्रवीण तपोनिधि श्रीसकलादिकीर्ति ॥
—हरिवंश पुराण

३ तत्पट्टधारी जनचित्तहारी पुराणमुख्योत्तमशास्त्रकारी ।
भट्टारक श्रीसकलादिकीर्ति प्रसिद्धनामा जनि पुण्यमूर्ति ॥२१६॥
—उपदेशरत्नमाला (सकलभूषण)

प्रदेश में जहाँ भट्टारको का कोई प्रभाव नही था सवत् १४९२ में गलियाकोट में एक भट्टारक गादी की स्थापना की और अपने आपको सरस्वती गच्छ एव बलात्कारगण की परम्परा में भट्टारक घोषित किया। ये उत्कृष्ट तपस्वी थे तथा अपने जीवन में इन्होने कितने ही व्रतो का पालन किया था।

सकलकीर्ति ने जनता को जो कुछ चारित्र सम्बन्धी उपदेश दिया था, पहले उसे अपने जीवन में उतारा। २२ वष के एक छोटे से समय में ३५ से अधिक ग्रन्थो की रचना, विविध ग्रामो एव नगरो में बिहार, भारत के राजस्थान, उत्तर प्रदेश, गुजरात, मध्य प्रदेश आदि प्रदेशो के तीर्थों की पद-यात्रा एव विविध व्रतो का पालन केवल सकलकीर्ति जैसे महा विद्वान् एव प्रभावशाली व्यक्तित्ववाले साधु से ही सम्पन्न हो सकते थे। इस प्रकार ये श्रद्धा, ज्ञान एव चरित्र से विभूषित उत्कृष्ट एव आकषक व्यक्तित्ववाले साधु थे।

शिष्य-परम्परा

भट्टारक सकलकीर्ति के कुल कितने शिष्य थे इसका कोई उल्लेख नही मिलता लेकिन एक पट्टावलि के अनुसार इनके स्वगवास के पश्चात् इनके शिष्य धमकीर्ति ने नीतनयपुर में भट्टारक गद्दी स्थापित की। फिर विमलेन्द्रकीर्ति भट्टारक हुए और १२ वर्ष तक इस पद पर रहे। इनके पश्चात आन्तरी गाँव में सब श्रावको ने मिलकर सघवी सोमतास श्रावक को भट्टारक दीक्षा दी तथा उनका नाम भुवनकीर्ति रखा गया। लेकिन अन्य पट्टावलियो में एव इस परम्परा में होनेवाले सन्तो के ग्रन्थो की प्रशस्तियो में भुवनकीर्ति के अतिरिक्त और किसी भट्टारक का उल्लेख नही मिलता। स्वय भ भुवनकीर्ति, ब्रह्म जिनदास, ज्ञानभूषण, शुभचन्द्र आदि सभी सन्तो ने भुवनकीर्ति को ही इनका प्रमुख शिष्य होना माना है। यह हो सकता है कि भुवनकीर्ति ने अपने आपको सकलकीर्ति से सीधा सम्बन्ध बतलाने के लिए उक्त दोनो सन्तो के नामो के उल्लेख करने की परम्परा को नही डालना चाहा हो। भुवनकीर्ति के अतिरिक्त सकलकीर्ति के प्रमुख शिष्यो में ब्रह्म जिनदास का नाम उल्लेखनीय है। जो सघ के सभी महाव्रती एव ब्रह्मचारियो के प्रमुख थे। ये भी अपने गुरु के समान ही सस्कृत एव राजस्थानी के प्रचण्ड विद्वान् थे और साहित्य में विशेष रुचि रखते थे। सकलकीर्तिनु रास मे भुवनकीर्ति एव ब्रह्म जिनदास के अतिरिक्त ललितकीर्ति के नाम का और उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त उनके सघ में आर्यिका एव क्षुल्लिकाएँ थी ऐसा भी लिखा है।[1]

---

१ आदि शिष्य आचारिजहि गुरि दीखीया भूतलि भुवनकीर्ति।
जयवन्त श्री जगतगुरु गुरि दीखीया ललितकीर्ति॥
महाव्रती ब्रह्मचारी घणा जिणदास गोलागार प्रमुख अपार
अर्जिका क्षुल्लिका सयलसघ गुरू सोभित सहित सकल परिवार॥

मृत्यु

एक पट्टावलि के अनुसार भट्टारक सकलकीर्ति ५६ वर्ष तक जीवित रहे। सवत् १४९९ में महसाना नगर में उनका स्वर्गवास हुआ। प परमानन्दजी शास्त्री ने भी प्रशस्ति सग्रह मे इनकी मृत्यु सवत् १४९९ मे महसाना (गुजरात) मे होना लिखा है। डॉ ज्योतिप्रसाद जैन एव डॉ प्रेमसागर भी इसी सवत् को सही मानते है। लेकिन डॉ ज्योतिप्रसाद इनका पूरा जीवन ८१ वष स्वीकार करते है जो अब लेखक को प्राप्त विभिन्न पट्टावलियो के अनुसार वह सही नही जान पडता। सकलकीर्ति रास में उनकी विस्तृत जीवन गाथा है। उसमें स्पष्ट रूप से सवत् १४४३ माना गया है।

सवत् १४७१ से प्रारम्भ एक पट्टावलि में भट्टारक सकलकीर्ति को भट्टारक पद्मनन्दि का चतुथ शिष्य माना गया है और उनके जीवन के सम्बन्ध में निम्न प्रकाश डाला गया है—

१ ४ चोथो चेलो आचार्य श्री सकलकीर्ति वर्ष २६ छबीसमी ताहा श्री पदथ पारणनाहता तीणी दीक्षा लीधी गाँव श्री नीणवा मध्ये। पछे गुरु कने वष ३४ चौतीस थया।

२ पछे वष ५६ छपनीसाँणें स्वर्गे पोतासाही ने वारे पुठी स्वामी सकलकीर्ति ने पाटे धमकीर्ति स्वामी नोतनयुर सघे थाप्या।

३. एहवा धम करणी करावता बागडराय ने देस कुभल-गढ नव सहस्र मध्य सघली देसी प्रदेसी व्याहार कर्म करता धर्मपदेस देता नवा ग्रन्थ सुध करता वर्ष २२ व्याहार कर्म करिने धम सघली प्रवर्त्यां।

उक्त तथ्यो के आधार पर यह निर्णय सही है कि भट्टारक सकलकीर्ति का जन्म सवत् १४४३ में हुआ था।

श्री विद्याधर जोहरापुरकर ने भट्टारक सम्प्रदाय में सकलकीर्ति का समय सवत् १४५० से सवत् १५१० तक का दिया है। उन्होने यह समय किस आधार पर दिया है इसका कोई उल्लेख नही किया। इसलिए सकलकीर्ति का समय सवत् १४४३ से १४९९ तक का ही सही जान पडता है।

तत्कालीन सामाजिक अवस्था

भट्टारक सकलकीर्ति के समय देश की सामाजिक स्थिति अच्छी नही थी। समाज में सामाजिक एव धार्मिक चेतना का अभाव था। शिक्षा की बहुत कमी थी। साधुओ का अभाव था। भट्टारको के नग्न रहने की प्रथा थी। स्वय भट्टारक सकलकीर्ति भी नग्न रहते थे। लोगो में धार्मिक श्रद्धा बहुत थी। तीथयात्रा बडे-बडे सघो में होती थीं। उनका नेतृत्व करनेवाले साधु होते थे। तीर्थयात्राएँ बहुत लम्बी होती थी तथा वहाँ से

सकुशल लौटने पर बडे-बडे उत्सव एव समारोह किये जाते थे। भट्टारको ने पच-कल्याणक प्रतिष्ठाएँ एव अन्य धार्मिक समारोह करने की अच्छी प्रथा डाल दी थी। इनके सघ में मुनि, आर्यिका, श्रावक आदि सभी होते थे। साधुओ में ज्ञान-प्राप्ति की काफी अभिलाषा होती थी तथा सघ के सभी साधुओ को पढाया जाता था। ग्रन्थ रचना करने का भी खूब प्रचार हो गया था। भट्टारक गण भी खूब ग्रन्थ रचना करते थे। वे प्राय अपने ग्रन्थ श्रावको के आग्रह से निबद्ध करते रहते थे। व्रत-उपवास की समाप्ति पर श्रावको द्वारा इन ग्रन्थो की प्रतियाँ विभिन्न ग्रन्थ भण्डारो को भेंटस्वरूप दे दी जाती थी। भट्टारको के साथ हस्तलिखित ग्रन्थो के बस्ते के बस्ते होते थे। समाज में स्त्रियो की स्थिति अच्छी नही थी और न उनके पढने-लिखने का साधन था। व्रतोद्यापन पर उनके आग्रह से ग्रन्थो की स्वाध्यायाथ प्रतिलिपि करायी जाती थी और उन्हे साधु-सन्तो को पढने के लिए दे दिया जाता था।

साहित्य सेवा

साहित्य-सेवा में सकलकीर्ति का ज़बरदस्त योग रहा। कभी-कभी तो ऐसा मालूम होने लगता है जैसे उन्होने अपने साधु जीवन के प्रत्येक क्षण का उपयोग किया हो। सस्कृत, प्राकृत एव राजस्थानी भाषा पर इनका पूण अधिकार था। वे सहज रूप में ही काव्य रचना करते थे इसलिए उनके मुख से जो भी वाक्य निकलता था वही काव्य-रूप में परिवर्तित हो जाता था। साहित्य रचना की परम्परा सकलकीर्ति ने ऐसी डाली कि राजस्थान के बागड एव गुजरात प्रदेश में होनेवाले अनेक साधु-सन्तो ने साहित्य की खूब सेवा की तथा स्वाध्याय के प्रति जन-साधारण की भावना को जाग्रत् किया। इन्होने अपने अन्तिम २२ वष के जीवन में २७ से अधिक सस्कृत रचनाएँ एव ८ राजस्थानी रचनाएँ निबद्ध की थी। सकलकीर्तिनु रास में इनकी मुख्य रचनाओ के जो नाम गिनाये है वे निम्न प्रकार है।

> चारि नियोग रचना करीय, गुरु कवित तणु हवि सुणहु बिचार।
> १ यती-आचार, २ श्रावकाचार, ३ पुराण, ४ आगम सार कवित अपार ॥
> ५ आदिपुराण ६ उत्तरपुराण ७ शान्ति ८ पास ९ वद्धमान १० मलिचरित्र।
> आदि ११ यशोधर १२ धन्यकुमार १३ सुकुमाल १४ सुदशन चरित्र पवित्र ॥
> १५ पचपरमेष्ठी गन्ध कुटीय १६ अष्टाह्निका १७ गणधर भेय।
> १८ सोलहकारण पूजा विधि गुरिए सवि प्रगट प्रकासिया तेय ॥
> १९ सूक्ति मुक्तावलि २० क्रमविपाक गुरि रचीय डाईण परि विविध परिग्र थ।
> भरह सगीत पिंगल निपुण गुरु गुरड श्री सकलकीर्ति निर्ग्रन्थ ॥

लेकिन राजस्थान मे ग्रन्थ भण्डारो की जो अभी खोज हुई है उनमें हमें अभी तक निम्न रचनाएँ उपलब्ध हो सकी है।

संस्कृत की रचनाएँ

१ मूलाचार प्रदीप
२ प्रश्नोत्तरोपासकाचार
३ आदिपुराण
४ उत्तर पुराण
५ शान्तिनाथ चरित्र
६ वद्धमान चरित्र
७ मल्लिनाथ चरित्र
८ यशोधर चरित्र
९ धन्यकुमार चरित्र
१० सुकुमाल चरित्र
११ सुदशन चरित्र
१२ सद्भाषितावलि
१३ पाश्वनाथ चरित्र
१४ व्रतकथा कोष
१५ नेमिजिन चरित्र
१६ कर्मविपाक
१७ तत्त्वाथसार दीपक
१८ सिद्धान्तसार दीपक
१९ आगमसार
२० परमात्मराज स्तोत्र
२१ सारचतुर्विंशतिका
२२ श्रीपाल चरित्र
२३ जम्बूस्वामी चरित्र
२४ द्वादशानुप्रेक्षा

पूजा ग्रन्थ

२५ अष्टाह्निका पूजा
२६ सोलहकारण पूजा
२७ गणधरवलय पूजा

राजस्थानी कृतियाँ

१ आराधना प्रतिबोधसार
२ नेमीश्वर गीत
३ मुक्तावलि गीत
४ णमोकार फल गीत
५ सोलहकारण रास
६ सारसीखामणि रास
७ शान्तिनाथ फागु

उक्त कृतियो के अतिरिक्त अभी और भी रचनाएँ हो सकती है जिनकी अभी खोज होना बाकी है। भट्टारक सकलकीर्ति की सस्कृत भाषा के समान राजस्थानी भाषा मे भी कोई बडी रचना मिलनी चाहिए, क्योकि इनके प्रमुख शिष्य ब्र जिनदास ने इन्ही की प्रेरणा एव उपदेश से राजस्थानी भाषा में ५० से भी अधिक रचनाएँ निबद्ध की है। अकेले इन्ही के साहित्य पर एक शोध प्रबन्ध लिखा जा सकता है। अब यहाँ कुछ ग्रन्थो का परिचय दिया जा रहा है।

१. आदिपुराण—इस पुराण में भगवान् आदिनाथ, भरत, बाहुबलि, सुलोचना, जयकीर्ति आदि महापुरुषो के जीवन का विस्तृत वणन किया गया है। पुराण सर्गों में विभक्त है और इसमें २० सग है। पुराण की श्लोक सख्या ४६२८ श्लोक प्रमाण है। वणन शैली सुन्दर एव सरस है। रचना का दूसरा नाम वृषभनाथ चरित्र भी है।

२ उत्तर पुराण—इसमें २३ तीथकरो के जीवन का वणन है एव साथ में

चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण, प्रतिनारायण आदि शलाका-महापुरुषो के जीवन का भी वर्णन है। इसमें १५ अधिकार हैं।

३ कमविपाक—यह कृति सस्कृत गद्य में है। इसमें आठ कर्मों के तथा उनके १४८ भेदो का वणन है। प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध एव अनुभाग बन्ध की अपेक्षा से कर्मो के बन्ध का वणन सुन्दर एव बोधगम्य है। यह ग्रन्थ ५४७ श्लोक सख्या प्रमाण है। रचना अभी तक अप्रकाशित है।

४ तत्त्वाथसार दीपक—सकलकीर्ति ने अपनी इस कृति को अध्यात्म महाग्रन्थ कहा है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध सवर, निजरा तथा मोक्ष इन सात तत्त्वो का वणन १२ अध्यायो में निम्न प्रकार विभक्त है।

प्रथम सात अध्याय तक जीव एव उसकी विभिन्न अवस्थाओ का वर्णन है। शेष ८ से १२वें अध्याय में अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निजरा, मोक्ष का क्रमश वर्णन है। ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है।

५ धन्यकुमार चरित्र—यह एक छोटा-सा ग्रन्थ है जिसमें सेठ धन्यकुमार के पावन जीवन का यशोगान किया गया है। पूरी कथा सात अधिकारो मे समाप्त होती है। धन्यकुमार का जीवन अनेक कुतूहलो एव विशेषताओ से ओत-प्रोत है। एक बार कथा आरम्भ करने के बाद पूरी पढे बिना उसे छोडने को मन नही करता। भाषा सरल एव सुन्दर है।

६ नेमिजिन चरित्र—नेमिजिन चरित्र का दूसरा नाम हरिवशपुराण भी है। नेमिनाथ २२वे तीथकर थे जिन्होने कृष्ण युग में अवतार लिया था। वे कृष्ण के चचेरे भाई थे। अहिंसा में दृढ विश्वास होने के कारण तोरण द्वार पर पहुँचकर एक स्थान पर एकत्रित जीवो को वध के लिए लाया हुआ जानकर विवाह के स्थान पर दीक्षा ग्रहण कर ली थी तथा राजुल जैसी अनुपम सुन्दर राजकुमारी को त्यागने में ज़रा भी विचार नही किया। इस प्रकार इसमे भगवान् नेमिनाथ एव श्रीकृष्ण के जीवन एव उनके पूव भवो का वर्णन है। कृति की भाषा काव्यमय एव प्रवाहयुक्त है। इसकी सवत् १५७१ में लिखित एक प्रति आमेर शास्त्र भण्डार जयपुर में सग्रहीत है।

७ मल्लिनाथ चरित्र—२०वें तीर्थंकर मल्लिनाथ के जीवन पर यह एक छोटा सा प्रबन्ध काव्य है जिसमें ७ सग है।

८ पाश्वनाथ चरित्र—इसमें २३वें तीथकर भगवान् पार्श्वनाथ के जीवन का वणन है। यह एक २३ सर्गवाला सुन्दर काव्य है। मगलाचरण के पश्चात कुन्दकुन्द, अकलक, समन्तभद्र, जिनसेन आदि आचार्यों को स्मरण किया गया है।

वायुभूति एव मरुभूति ये दोनो सगे भाई थे लेकिन शुभ एव अशुभ कर्मो के चक्कर से प्रत्येक भव मे एक का किस तरह उत्थान होता रहता है और दूसरे का घोर पतन—इस कथा को इस काव्य में अति सुन्दर रीति से वणन किया गया है। वायुभूति

अन्त में पार्श्वनाथ बनकर निर्वाण प्राप्त कर लेते है तथा जगत्पूज्य बन जाते है। भाषा सीधी, सरल एव अलकारमयी है।

९ सुदर्शन चरित्र—इस प्रबन्ध काव्य मे सेठ सुदर्शन के जीवन का वणन किया गया है जो आठ परिच्छेदो में पूण होता है। काव्य की भाषा सुन्दर एव प्रभावयुक्त है।

१० सुकुमाल चरित्र—यह एक छोटा-सा प्रबन्ध काव्य है जिसमें मुनि सुकुमाल के जीवन का पूर्व भव सहित वर्णन किया गया है। पूव में हुआ वैर-भाव किस प्रकार अगले जीवन में भी चलता रहता है इसका वणन इस काव्य में सुन्दर रीति से हुआ है। इसमें सुकुमाल के वैभवपूण जीवन एव मुनि अवस्था की घोर तपस्या का अति सुन्दर एव रोमाचकारी वणन मिलता है। पूरे काव्य मे ९ सग है।

११ मूलाचार प्रदीप—यह आचार शास्त्र का ग्रन्थ है जिसमें जैन साधु के जीवन मे कौन-कौन-सी क्रियाओ की साधना आवश्यक है—इन क्रियाओ का स्वरूप एव उनके भेद-प्रभेदो पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। इसमें १२ अधिकार है जिनमें २८ मुलगुण,[1] पचाचार,[2] दशलक्षण धम,[3] बारह अनुप्रेक्षा[4] एव बारह तप[5] आदि का विस्तार से वणन किया गया है।

१२ सिद्धान्तसार दीपक—यह करणानुयोग का ग्रन्थ है। इसमे ऊर्ध्वलोक, मध्य-लोक,पाताल लोक एव उनमे रहनेवाले देवो, मनुष्यो, तियचो और नारकियो का विस्तृत वणन है। इसमें जैन सिद्धान्तानुसार सारे विश्व का भूगोलिक एव खगोलिक वणन आ जाता है। इसका रचना काल स १४८१ है, रचना स्थान है—बगली नगर। प्रेरक थे इसके ब्र० जिनदास।

जैन सिद्धान्त की जानकारी के लिए यह बडा उपयोगी है। ग्रन्थ १६ सर्गो में है।

१३ वद्धमान चरित्र—इस काव्य मे अन्तिम तीथकर महावीर वद्धमान के पावन जीवन का वणन किया गया है। प्रथम ६ सर्गो में महावीर के पूर्व भवो का एव शेष १३ अधिकारो में गभ कल्याणक से लेकर निर्वाण प्राप्ति तक विभिन्न लोकोत्तर घटनाओ का विस्तृत वर्णन मिलता है। भाषा सरल किन्तु काव्यमय है। वणन शैली

---

१ २८ मूलगुण—पच महाव्रत, पच समिति, तीन गुप्ति, पचेन्द्रिय निरोध, षडावश्यक केशलोंच, अचेलक, अस्नान, दन्त अधोवन।

२ पचाचार—दर्शन ज्ञान, चारित्र तप एव तीर्थ।

३ दशलक्षण धम—क्षमा मार्दव, आर्जव शौच, सत्य संयम, तप, त्याग आकिंचन्य एव ब्रह्मचर्य।

४ बारह अनुप्रेक्षा—अनित्य, अशरण ससार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, सवर, निर्जरा, लोक, बोध दुर्लभ एव धर्म।

५ बारह तप—अनशन, अवमौदर्य, व्रतपरिसख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्चित्त विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, ध्यान।

अच्छी है। कवि जिस किसी वर्णन को जब प्रारम्भ करता है तो वह फिर उसी मे मस्त हो जाता है। रचना सम्भवत अभी तक अप्रकाशित है।

१४ यशोधर चरित्र—राजा यशोधर का जीवन जैन समाज में बहुत प्रिय रहा है। इसलिए इस पर विभिन्न भाषाओ मे कितनी ही कृत्तियाँ मिलती हैं। सकलकीर्ति की यह कृति सस्कृत भाषा की सुन्दर रचना है। इसमें आठ सग है। इसे हम एक प्रबन्ध काव्य कह सकते है।

१५ सद्भाषितावलि—यह एक छोटा-सा सुभाषित ग्रन्थ है जिसमें धम, सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, इन्द्रियजय, स्त्री सहवास, काम सेवन, निग्रन्थ सेवा, तप, त्याग, राग, द्वेष, लोभ आदि विषयो पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। भाषा सरल एव मधुर है।

१६ श्रीपाल चरित्र—यह सकलकीर्ति का एक काव्य ग्रन्थ है जिसमें ७ परिच्छेद है। कोटिभट श्रीपाल का जीवन अनेक विशेषताओ से भरा पडा है। राजा से कुष्ठी होना, समुद्र मे गिरना, सूली पर चढना आदि कितनी ही घटनाएँ उसके जीवन में एक के बाद दूसरी आती है जिनसे उसका सारा जीवन नाटकीय बन जाता है। सकलकीर्ति ने इसे बडी सुन्दर रीति से प्रतिपादित किया है। इस चरित्र की रचना कर्मफल सिद्धान्त की पुरुषाथ से अधिक विश्वसनीय सिद्ध करने के लिए की गयी है। मानव ही क्या विश्व के सभी जीवधारियो का सारा व्यवहार उसके द्वारा उपार्जित पाप-पुण्य पर आधारित है। उसके सामने पुरुषार्थ कुछ भी नही कर सकता। काव्य पठनीय है।

१७ शान्तिनाथ चरित्र—शान्तिनाथ १६वें तीर्थंकर थे। तीर्थंकर के साथ-साथ वे कामदेव एव चक्रवर्ती भी थे। उनके जीवन की विशेषताएँ बतलाने के लिए इस काव्य की रचना की गयी है। काव्य मे १६ अधिकार है तथा ३४७५ श्लोक सख्या प्रमाण है। इस काव्य को महाकाव्य की सज्ञा मिल सकती है। भाषा आलकारिक एव वर्णन प्रभावमय है। प्रारम्भ में कवि ने शृगार-रस से ओत-प्रोत काव्य की रचना क्यो करनी चाहिए—इस पर अच्छा प्रकाश डाला है। काव्य सुन्दर एव पठनीय है।

१८ प्रश्नोत्तर श्रावकाचार—इस कृति में श्रावको के आचार-धम का वणन है। श्रावकाचार २४ परिच्छेदो में विभक्त है, जिसमें आचार शास्त्र पर विस्तत विवेचन किया गया है। भट्टारक सकलकीर्ति स्वय मुनि भी थे इसलिए उनसे श्रद्धालु भक्त आचार-धर्म के विषय में विभिन्न प्रश्न प्रस्तुत करते होगे—इसलिए उन सबके समाधान के लिए कवि ने इस ग्रन्थ का निर्माण किया। भाषा एव शैली की दृष्टि से रचना सुन्दर एव सुरक्षित है। कृति में रचनाकाल एव रचना स्थान नही दिया गया है।

१९ पुराणसार सग्रह—प्रस्तुत पुराण सग्रह में ६ तीर्थंकरो के चरित्रो का सग्रह है और ये तीथकर है—आदिनाथ, चन्द्रप्रभ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पाश्वनाथ एव

महावीर वर्द्धमान । भारतीय ज्ञानपीठ की ओर से पुराणसार सग्रह प्रकाशिक हो चुका हैं । प्रत्येक तीथकर का चरित अलग-अलग सर्गों में विभक्त है जो निम्न प्रकार है—

आदिनाथ चरित	५ सर्ग
चन्द्रप्रभ चरित	१ सर्ग
शान्तिनाथ चरित	६ सर्ग
नेमिनाथ चरित	५ सर्ग
पाश्वनाथ चरित	५ सग
महावीर चरित	५ सग

२० व्रतकथा कोष—व्रतकथा कोष की एक हस्तलिखित प्रति जयपुर के पाटोदी के मन्दिर भण्डार में सग्रहीत है। इनमें विभिन्न व्रतो पर आधारित कथाओ का सग्रह है। ग्रन्थ की पूरी प्रति उपलब्ध नही होने से अभी तक यह निश्चित नही हो सका कि भट्टारक सकलकीर्ति ने कितनी व्रत कथाएँ लिखी थी।

२१ परमात्मराज स्तोत्र—यह एक लघु स्तोत्र है, जिसमें १६ पद्य है। स्तोत्र सुन्दर एव भावपूर्ण है। इसकी १ प्रति जयपुर के दिगम्बर जैन मन्दिर पाटोदी के शास्त्र भण्डार मे सग्रहीत है।

उक्त सस्कृत कृतियो के अतिरिक्त पचपरमेष्ठी पूजा, अष्टाह्निका पूजा, सोलहकारण पूजा, गणधरवलय पूजा, द्वादशानुप्रेक्षा एव सारचतुर्विंशतिका आदि और कृतियाँ है जो राजस्थान के शास्त्र-भण्डारो में उपलब्ध होती है। ये सभी कृतियाँ जैन समाज मे लोक-प्रिय रही है तथा उनका पठन-पाठन भी खूब रहा है।

भट्टारक सकलकीर्ति की उक्त सस्कृत रचनाओ में कवि का पाण्डित्य स्पष्ट रूप से झलकता है। उनके काव्यो में उसी तरह की शैली, अलकार, रस एव छन्दो की परियोजना उपलब्ध होती है जो अन्य भारतीय सस्कृत काव्यो मे मिलती है। उनके चरित काव्यो के पढने से अच्छा रसास्वादन मिलता है। चरित काव्यो के नायक त्रेसठशलाका के लोकोत्तर महापुरुष है जो अतिशय पुण्यवान् हैं, जिनका सम्पूर्ण जीवन अत्यधिक पावन है। सभी काव्य शान्तरसपर्यवसानी है।

काव्य ज्ञान के समान भट्टारक सकलकीर्ति जैन सिद्धान्त के महान वेत्ता थे। उनका मूलाचार प्रदीप, प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, सिद्धान्तसार दीपक एव तत्त्वाथसार दीपक तथा कमविपाक-जैसी रचनाएँ उनके अगाध ज्ञान के परिचायक है। इसमें जैन सिद्धान्त, आचार-शास्त्र एव तत्त्वचर्चा के उन गूढ रहस्यो का निचोड है जो एक महान् विद्वान् अपनी रचनाओ में भर सकता है।

इसी तरह सद्भाषितावलि उनके सर्वांग ज्ञान का प्रतीक है—जिसमें सकलकीर्ति ने जगत् के प्राणियो को सुन्दर शिक्षाएँ भी प्रदान की है, जिससे वे अपना आत्मकल्याण भी करने की ओर अग्रसर हो सके। वास्तव में वे सभी विषयो के पारगामी विद्वान् थे—ऐसे सन्त विद्वान् को पाकर कौन देश गौरवान्वित नही होगा।

राजस्थानी रचनाएँ

सकलकीर्ति ने हिन्दी में बहुत ही कम रचना निबद्ध की है। इसका प्रमुख कारण सम्भवत इनका सस्कृत भाषा की ओर अत्यधिक प्रेम था। इसके अतिरिक्त जो भी इनकी हिन्दी रचनाएँ मिली है वे सभी लघु रचनाएँ है जो केवल भाषा अध्ययन की दृष्टि से ही उल्लेखनीय कही जा सकती है। सकलकीर्ति का अधिकाश जीवन राजस्थान में व्यतीत हुआ था इसलिए इनकी रचनाओ में राजस्थानी भाषा की स्पष्ट छाप दिखलाई देती है।

१ णमोकार फल गीत—यह इनकी प्रथम हिन्दी रचना है। इसमें णमोकार मन्त्र का माहात्म्य एव उसके फल का वणन है। रचना कोई विशेष बडी नही है। केवल १५ पद्यो में ही वर्णित विषय पूरा हो जाता है। कवि ने उदाहरणो द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि णमोकार मन्त्र का स्मरण करने से अनेक विघ्नो को टाला जा सकता है। जिन पुरुषो के इस मन्त्र का स्मरण करने से विघ्न दूर हुए है उनके नाम भी गिनाये है। तथा उनमें धरणेन्द्र, पद्मावती, अजन चोर, सेठ सुदशन एव चारुदत्त उल्लेखनीय है। कवि कहता है—

सव जुगल तापसि हृव्यो पार्श्वनाथ जिनेन्द्र।
णमोकार फल लहीहुउ पथियडारे पद्मावती धरणेन्द्र।
चोर अजन सूली धरयो, श्रेष्ठि दियो णमोकार।
देवलोक जाइ करी, पथियडारे सुख भोगवे आपार।
चारूदत्त श्रेष्ठि दियो घाला ने णमोकार।
देव भवनि देवज हुहो, सुखन विलासई पार ॥
ग्रह डाकिनी शाकिणी फणी, व्याधिवह्नि जलराशि।
सकल बन्धन तूटए पथियडारे विघ्न सबे जावे नाशि ॥

कवि अन्त मे इस रचना को इस प्रकार समाप्त करता है—

चउबीसी अमत्र हुई, महापथ अनादि
सकलकीरति गुरु इम कहे,
पथियडारे कोइ न जाणई
आदि जीवड लारे भव सागरि एह नाव।

२ आराधना प्रतिबोधसार—यह इनकी दूसरी हिन्दी रचना है। प्राकृत भाषा में निबद्ध आराधनासार का कवि ने भाव मात्र लिखने का प्रयत्न किया है। इसमें सब मिलाकर ५५ पद्य है। प्रारम्भ में कवि ने णमोकार मन्त्र की प्रशसा की है तत्पश्चात् सयम को जीवन में उतारने के लिए आग्रह किया है। ससार को क्षणभगुर बताते हुए सम्राट् भरत, बाहुबलि, पाण्डव, रामचन्द्र, सुग्रीव, सुकुमाल, श्रीपाल आदि महापुरुषो के जीवन से शिक्षा लेने का उपदेश दिया है। इस प्रकार आगे तीर्थ क्षेत्रो का उल्लेख करते

हुए मनुष्य को अणुव्रत आदि पालने के लिए कहा गया है। इन सबका सक्षिप्त वणन है। रचना सुन्दर एव सुपाठ्य है। रचना के सुन्दर पद्यो का रसास्वादन करने के लिए यहाँ दिया जाता है—

तप प्रायश्चित व्रत करि शोध, मन, वचन काया निरोधि।
तु क्रोध माया मद छाँडि, आपणपु सयलइ माडि ॥
गया जिणवर जगि चउबीस, नहि रहि आवार चकीस।
गया बलिभद्र, न वर वीर, नव नारायण गया धीर ॥
गया भरतेस देइ दान, जिन शासन थापिय मान।
गयो बाहुबलि जगमाल, जिणे हृइ न राख्यु साल ॥
गया रामचन्द्र राणी रगि, जिण साँचु जस अभग।
गयो कुम्भकरण जगिसार, जिणो लियो तु महाव्रत भार ॥

जे जात्रा करि जग मोहि, सभारै ते मन माँहि।
गिरनारी गयु तु धीर, सभारिह बडावीर ॥
पाँवा गिरि पुन्य भडार, सभारै हवडा सार।
तारण तीरथ होइ, सभारै हवडा बडा जोइ ॥
हवेइ पाचमो व्रत प्रतिपालि, तू परिग्रह दूरिय टालि।
हो धन कचन माँह मोल्हि, सतोषीइ माह समेल्हि ॥
हवई चहुँगति फेरो टालि, मन जाति चहुँ दिशि बार।
हो नरगि दुख न विसार, तेह केता कहूँ अविचार ॥

अन्त में कवि ने रचना को इस प्रकार समाप्त किया है—

जे भणई सुणई नर नारि, ते जाइ भवनेइ पारि।
श्री सकलकीर्ति कहनु विचार, आराधना प्रतिबोधसार ॥

३ सारसीखामणिरास—सारसीखामणिरास राजस्थानी भाषा की लघु किन्तु सुन्दर कृति है। इसमें प्राणी मात्र के लिए शिक्षाप्रद सन्देश दिये गये है। रास में चार ढालें तथा तीन वस्तुबन्ध छन्द है। इनकी एक प्रति नैणवा (राजस्थान) के दिगम्बर मन्दिर बघेरवालो के शास्त्र भण्डार में सग्रहीत एक गुटके में लिपिबद्ध है। गुटका की प्रतिलिपि सवत १६४४ वैशाख सुदी १५ को समाप्त हुई थी। इसी गुटके में सोमकीर्ति, ब्रह्म यशोधर आदि कितने ही प्राचीन सन्तो के पाठो का सग्रह है। लिपिस्थान रणथम्भौर है जो उस समय भारत के प्रसिद्ध दुर्गों मे से एक माना जाता था। रास पाँच पत्रो में पूण होता है। सर्वप्रथम कवि ने कहा कि यह सुन्दर देह बिना बुद्धि के बेकार है इसलिए सदैव सत् साहित्य का अध्ययन करना चाहिए। जीवन को सयमित बनाना चाहिए तथा अन्धविश्वासो में कभी नही पडना चाहिए। जीव दया की महत्ता को कवि ने निम्न शब्दो में व्यक्त किया है—

जीव दया द्रढ पालीइए, मन कोमल कीजि ।
आप सरीखा जीव सबै, मन माँहि धरीजइ ।।

असत्य वचन कभी नही बोलना चाहिए और न कर्कश तथा ममभेदी शब्द जिनसे दूसरो के हृदय में ठेस पहुँचे । किसी को पुण्य कार्य करते हुए नही रोकना चाहिए तथा दूसरो के अवगुणो को ढककर गुणों को प्रकट करना चाहिए ।

झूठा वचन न बोलीइए, ए करकस परिहए ।
मरम मे बोलु किहि तथा, ए चाडी मन करू ।।
धम करता न वारीइए, नवि पर नन्दीजि ।
परगुण ढाकी आप तणा, गुण नवि बोलीजइ ।।

सदैव त्याग को जीवन में अपनाना चाहिए । आहारदान, औषधदान, साहित्यदान एव अभयदान आदि के रूप में कुछ न कुछ देते रहना चाहिए । जीवन इसी से निखरता है एव उसमें परोपकार करते रहने की भावना उत्पन्न होती है ।

४ मुक्तावलि गीत—यह एक लघु गीत है जिसमें मुक्तावलि व्रत की कथा एव उसके माहात्म्य का वर्णन है । रचना की भाषा राजस्थानी है जिसमें गुजराती भाषा के शब्दो का प्रयोग भी हुआ है । रचना साधारण है तथा वह केवल १५ पद्यो में पूर्ण होती है ।

५ सोलहकारण रास—यह कवि की एक कथात्मक कृति है जिसमें सोलहकारण व्रत के माहात्म्य पर प्रकाश डाला गया है । भाषा की दृष्टि से यह रास अच्छी रचना है । कृति के अन्त में सकलकीर्ति ने अपने आपको मुनि विशेषण से सम्बोधित किया है । इससे ज्ञात होता है कि यह उनकी प्रारम्भिक कृति होगी । रास का अन्तिम भाग निम्न प्रकार है—

एक चिति जे व्रत करइ, नर अहवा नारी ।
तीथकर पद सो लहइ, जो समकित धारी ।।
सकलकीर्ति मुनि रासु कियउए सोलहकारण ।
पडहि गुणहि जो साँभलहि तिन्ह सिव सुह कारण ।।

६ शान्तिनाथ फागु—इस कृति को खोज निकालने का श्रेय श्री कुन्दनलाल जैन को है । इस फागु काव्य मे शान्तिनाथ तीथकर का सक्षिप्त जीवन वर्णित है । हिन्दी के साथ कही-कही प्राकृत गाथा एव सस्कृत श्लोक भी प्रयुक्त हुए है । फागु की भाषा सरल एव मनोहारी है ।

भट्टारक शुभचन्द्र
[सवत् १४५० से १५१६ तक]

शुभचन्द्र के नाम से कितने ही आचाय, भट्टारक, मुनि हुए है जिन्होने साहित्य एव सस्कृति की अपार सेवा की है। इनमें ११वी, १२वी शताब्दी में होनेवाले आचाय शुभचन्द्र का नाम उल्लेखनीय हैं जिन्होने ज्ञानार्णव-जैसे लोकप्रिय ग्रन्थ की रचना की थी। दूसरे शुभचन्द्र भट्टारक थे जो भ पद्मनन्दि के शिष्य थे और जिनके सम्बन्ध में यहाँ परिचय दिया जा रहा है। तीसरे शुभचन्द्र भी भट्टारक थे जो सकलकीर्ति की परम्परा में होनेवाले भ विजयकीर्ति के शिष्य थे। चौथे शुभचन्द्र मुनि थे जो आमेर गादी के भट्टारक जगत्कीर्ति के शिष्य थे। और जिनकी हिन्दी भाषा मे निबद्ध होली कथा की एक पाण्डुलिपि दिगम्बर जैन मन्दिर राजमहल (टोक) के शास्त्र भण्डार में सग्रहीत है। इस कृति का रचनाकाल सवत् १७५५ चैत्र वदी सप्तमी है। पाँचवें शुभचन्द्र (सवत् १५३०) भट्टारक कमलकीर्ति के शिष्य थे जो काष्ठासघ माथुर गच्छ के भट्टारक थे। छठे शुभचन्द्र भट्टारक हषचन्द्र के शिष्य थे जिनका महाराष्ट्र प्रदेश से सम्बन्ध था।

प्रस्तुत भट्टारक शुभचन्द्र भ प्रभाचन्द्र (प्रथम) के प्रशिष्य एव भट्टारक पद्मनन्दि के शिष्य थे। ये मूलसघ-बलात्कार गण-सरस्वतीगच्छ के भट्टारक थे। भट्टारक शुभचन्द्र का यह समारोह भट्टारक पद्मनन्दि के स्वगवास के तत्काल बाद देहली मे ही सम्पन्न हुआ था। एक भट्टारक पट्टावलि के अनुसार उस दिन सवत १४५० माघ सुदी ५ का शुभ दिन था। ये जाति से ब्राह्मण थे। १९ वष की अवस्था में इन्होने घर-बार छोड दिया और २४ वर्ष के लम्बे समय तक इन्हें पद्मनन्दि के चरणकमलो में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। पट्टाभिषेक के समय उनकी ४३ वर्ष की अवस्था थी। सुन्दरता एव लावण्य शरीर से फूट पडता था। गौरवर्ण एव आकषक व्यक्तित्व के कारण ये सहज ही में जनता को अपनी ओर लुभा लेते थे।

शुभचन्द्र का भट्टारक बनने के पूर्व का नाम क्या था तथा इनके परिवार में कौन-कौन सदस्य थे इसके बारे में कोई उल्लेख नही मिलता। इनके एक भाई का नाम मदनदेव था जिनके पढने के लिए सन् १४४० (सवत् १४९७) में मकचन्द्रकार ग्रन्थ की प्रतिलिपि की गयी थी।

व्यक्तित्व—शुभचन्द्र अनोखे व्यक्तित्व के धनी थे। उनके पश्चात होनेवाले विभिन्न विद्वानो ने उनकी विद्वत्ता, वक्तृत्वकला, दार्शनिकता के सम्बन्ध में काफी अच्छा

लिखा है। शुभचन्द्र के शिष्य एव भ जिनचन्द्र के शिष्य मुनि रत्नकीर्ति ने प्रवचनसार-प्राभृत की सस्कृत में टीका लिखी थी। इन्होने भट्टारक शुभचन्द्र को यहाँ भोजमातण्ड लिखा है। प मोधावी भट्टारक जिनचन्द्र के शिष्य थे। उन्होने सवत् १५४१ में धम सग्रह श्रावकाचार की रचना की थी। इस ग्रन्थ की प्रशसा में उन्होंने भट्टारक शुभचन्द्र की अत्यधिक प्रशसा की है। उनके अनुसार शुभचन्द्र प्रतिष्ठा विधान कराने में तथा धर्म की कथा कहने में अत्यधिक निपुण थे। इन्होंने जैनदर्शन एव धर्म का उसी तरह प्रकाश किया था जिस प्रकार रात्रि को चन्द्रमा की किरणे आकाश में प्रकाश फैला देती है। शुभचन्द्र वक्तृत्वकला में निपुण थे तथा जैन दशन के निष्णात पण्डित थे। उनसे तत्कालीन विद्वान् अष्टसहस्री पढा करते थे। वे चारित्र के धनी थे तथा तकशक्ति में न्याय वादियो के प्रमुख बन गये थे। विजोलिया के शिलालेख में इन्हें विद्वानो का सेवक लिखा है।

चित्तौड मे गादी का स्थानान्तरण

२२ वर्ष तक भट्टारक रहने के पश्चात् देहली इन्हें अपने लिए उपयुक्त नगर नही लगा। मुसलिम शासको के आये दिन के झगडो एव उनकी धर्मान्धता के कारण इन्हे अपनी गादी का वहाँ से चित्तौड मे स्थानान्तरण करना पडा तथा सन् १४१५ मे इन्होने वहाँ मूलसघ की भट्टारक गादी की विधिवत स्थापना कर दी। तथा वही से जैन धम, साहित्य एव सस्कृति के विकास में योग देने लगे।

चित्तौड उस समय राजस्थान का ही नही समस्त उत्तरी भारत का प्रसिद्ध नगर था। वहाँ के शासको की वीरता एव पराक्रम के कारण मुसलिम शासक सहज ही में उस पर आक्रमण करने में डरते थे। इसलिए दिगम्बर एव श्वेताम्बर दोनो ही सम्प्रदायो के साधुओ ने उसे अपनी गतिविधियो का केन्द्र बनाया।

उस समय सबसे अधिक आकषण मन्दिर निर्माण, प्रतिष्ठा विधान एव धार्मिक समारोहो के आयोजन में ही था तथा भट्टारक शुभचन्द्र ने भी इस ओर ध्यान दिया और सवत् १४८०, १४८३ आदि सवतो मे कितनी प्रतिष्ठा समारोहो का सचालन किया।

शुभचन्द्र का राजस्थान में जबरदस्त प्रभाव था। राजस्थान की प्रत्येक धार्मिक एव सास्कृतिक गतिविधियो में उनका निर्देशन प्राप्त होता था। आवा की एक पहाडी पर उनकी एक निषेधिका बनी हुई है तथा टोडारामसिंह में भी इनकी निषेधिका इस बात की ओर सकेत देती है कि उनकी कीर्ति एव यशोगाथा सारे राजस्थान में व्याप्त थी। एक पट्टावलि में उनका 'शुभ्रैजनै वन्दिता' इस विशेषण से स्तवन किया गया है। इन्होने लम्बे समय तक सारे देश में सास्कृतिक जागृति बनाये रखने और अपने आकर्षक व्यक्तित्व के प्रभाव से सारे राजस्थान पर छाये रहे। सवत् १५०७ तक ये भट्टारक पद पर आसीन रहे और इस प्रकार ५७ वष तक भट्टारक पद पर रहते हुए देश एव समाज की जो महान् सेवाएँ की उससे सारा समाज उनका चिरस्मरणीय रहेगा।

भट्टारक जिनचन्द्र

[संवत् १५०७ से १५७१ तक]

भट्टारक जिनचन्द्र १६वी शताब्दी के प्रसिद्ध भट्टारक एव जैन सन्त थे। भारत की राजधानी देहली मे भट्टारको की प्रतिष्ठा बढाने में इनका प्रमुख हाथ रहा था। यद्यपि देहली में ही इनकी भट्टारक गादी थी लेकिन वहा से ही ये सारे राजस्थान का भ्रमण करते और साहित्य एव सस्कृति का प्रचार करते। इनके गुरु का नाम शुभचन्द्र था और उन्ही के स्वगवास के पश्चात् सवत् १५०७ की जेष्ठ कृष्णा ५ को इनका बडी धूम-धाम से पट्टाभिषेक हुआ। एक भट्टारक पट्टावली के अनुसार इन्होने १२ वष की आयु से ही घर-बार छोड दिया और भट्टारक शुभचन्द्र के शिष्य बन गये। १५ वर्ष तक इन्होने शास्त्रो का खूब अध्ययन किया। भाषण देने एव वाद-विवाद करने की कला सीखी तथा २७वें वष मे इन्हे भट्टारक पद पर अभिषिक्त कर दिया गया। जिनचन्द्र ६४ वष तक इस महत्त्वपूण पद पर आसीन रहे। इतने लम्बे समय तक भट्टारक पद पर रहना बहुत कम सन्तो को मिल सका है। वे जाति से बघेरवाल जाति के श्रावक थे।

जिनचन्द्र राजस्थान, उत्तर प्रदेश, पजाब एव देहली प्रदेश में खूब विहार करते। जनता को वास्तविक धम का उपदेश देते। प्राचीन ग्रन्थो की नयी-नयी प्रतियाँ लिखवाकर मन्दिरो मे विराजमान करवाते, नये-नये ग्रन्थो का स्वय निर्माण करते तथा दूसरो को इस ओर प्रोत्साहित करते। पुराने मन्दिरो का जीर्णोद्धार करवाते तथा स्थान-स्थान पर नयी-नयी प्रतिष्ठाएँ करवाकर जैन धम एव सस्कृति का प्रचार करते। आज राजस्थान के प्रत्येक दिगम्बर जैन मन्दिर मे इनके द्वारा प्रतिष्ठित एक-दो मूर्तियाँ अवश्य मिलेंगी। सवत् १५४८ में जीवराज पापडीवाल ने जो बडी भारी प्रतिष्ठा करवायी थी वह सब इनके द्वारा ही सम्पन्न हुई थी। उस प्रतिष्ठा में सैकडो ही नही हजारो मूर्तिया प्रतिष्ठापित करवाकर राजस्थान के अधिकाश मन्दिरो में विराजमान की गयी थी। आवा (टोक, राजस्थान) मे एक मील पश्चिम की ओर एक छोटी-सी पहाडी पर नसिया है जिसमें भट्टारक शुभचन्द्र, जिनचन्द्र एव प्रभाचन्द्र की निषेधिकाएँ स्थापित की हुई है। ये तीनो निषेधिकाएँ सवत् १५९३ ज्येष्ठ सुदी ३ सोमवार के दिन भट्टारक प्रभाचन्द्र के शिष्य मण्डलाचार्य धमचन्द्र ने साह कालू एव इसके चार पुत्र एव पौत्रो के द्वारा स्थापित करायी थी। भट्टारक जिनचन्द्र की निषेधिका की ऊँचाई एव चौडाई १४½ फीट × ९ इच है।

इसी समय आवाँ में एक बडी भारी प्रतिष्ठा भी हुई थी जिसका ऐतिहासिक लेख वही के एक शान्तिनाथ के मन्दिर में लगा हुआ है। लेख सस्कृत में है और उसमें भट्टारक जिनचन्द्र का निम्न शब्दो में यशोगान किया गया है—

तत्पट्टस्थपरो धीमान् जिनचन्द्र सुतत्त्ववित्।
अभूदऽस्मिन् च विख्यातो ध्यानार्थी दग्धकमक ॥

साहित्य सेवा

जिनचन्द्र का प्राचीन ग्रन्थो के नवीनीकरण की ओर विशेष ध्यान था। इसलिए इनके द्वारा लिखवायी गयी कितनी ही हस्तलिखित प्रतियाँ राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारो मे उपलब्ध होती है। सवत् १५१२ की आषाढ कृष्ण १२ को नेमिनाथ चरित की एक प्रति लिखी गयी थी जिसे इन्हें घोघा बन्दरगाह में नयनन्दि मुनि ने समर्पित की थी।[1] सवत् १५१५ मे नैणवा नगर मे इनके शिष्य अनन्तकीर्ति द्वारा नरसेन-देव की सिद्धचक्र कथा (अपभ्रश) की प्रतिलिपि श्रावक नाराइण के पठनार्थ करवायी। इसी तरह सवत् १५२१ में ग्वालियर में पउमचरिउ की प्रतिलिपि करवाकर नेत्रनन्दि मुनि को अपण की गयी।[2] सवत् १५५८ की श्रावण शुक्ल १२ को इनकी आम्नाय मे ग्वालियर के महाराजा मानसिंह के शासन काल मे नागकुमार चरित की प्रति लिखवायी गयी।

मूलाचार की एक लेखक प्रशस्ति में भट्टारक जिनचन्द्र की निम्न शब्दो मे प्रशसा की गयी है—

तदीयपट्टाम्बरभानुमाली क्षमादिनानागुणरत्नशाली।
भट्टारकश्रीजिनचन्द्रनामा सैद्धान्तिकाना भुवि योऽस्ति सीमा ॥

इसकी प्रति को सवत् १५१६ में झुझनु (राजस्थान) में साह पार्श्व के पुत्रो ने श्रुतपचमी उद्यापन पर लिखवायी थी। सवत् १५१७ में झुझुणु मे ही तिलोयपण्णत्ति की प्रति लिखवायी गयी थी। प मेधावी इनका एक प्रमुख शिष्य था जो साहित्य रचना में विशेष रुचि रखता था। इन्होने नागौर में धमसग्रहश्रावकाचार की सवत् १५४१ म रचना समाप्त की थी। इसकी प्रशस्ति में विद्वान् लेखक ने जिनचन्द्र की निम्न शब्दो में स्तुति की है—

तस्मान्नीरनिधेरिवेन्दुरभवच्छ्रीमज्जिनेन्द्राग्रणी
स्याद्वादाम्बरमण्डले कृतगतिर्दिग्वाससा मण्डन।
यो व्याख्यानमरीचिभि कुवलये प्रह्लादन चक्रिवान्
सद्वृत्त सकलकलकविकल षट्तर्कनिष्णातधी ॥१२॥

---

१ देखिए भट्टारक पट्टावली, पृष्ठ सख्या १०८।
२ वही।

स्वय भट्टारक जिनचन्द्र की अभी तक कोई महत्त्वपूण रचना उपलब्ध नही हो सकी है लेकिन देहली, हिसार, आगरा आदि के शास्त्र भण्डारो की खोज के पश्चात् सम्भवत कोई इनकी बडी रचना भी उपलब्ध हो सके। अबतक इनकी जो दो रचनाएँ उपलब्ध हुई है उनके नाम है सिद्धान्तसार और जिनचतुर्विंशति स्तोत्र। सिद्धान्तसार एक प्राकृत भाषा का ग्रन्थ है और उसमें जिनचन्द्र के नाम से निम्न प्रकार उल्लेख हुआ है[1]—

जिनचतुर्विंशति स्तोत्र की एक प्रति जयपुर के विजयराम पाण्ड्या के शास्त्र भण्डार के एक गुटके में सग्रहीत है। रचना सस्कृत में है और उसमें चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की गयी है।

प्रतिष्ठा समारोह

सर्वप्रथम इन्होने सवत् १५०२ में वैशाख सुदी ३ के शुभ दिन पार्श्वनाथ प्रतिमा की प्रतिष्ठा सम्पन्न करवायी थी।[2] इसके अगले वर्ष सवत् १५०३ में मार्गशिर सुदी पचमी को इनके द्वारा प्रतिष्ठापित चौबीसी की एक प्रतिमा जयपुर के एक मन्दिर मे विराजमान है।[3] सवत् १५०४ में भट्टारक जिनचन्द्र नगर (राजस्थान) पधारे और वहाँ बघेरवाल समाज के प्रमुख बीसल एव उनके परिवार द्वारा आयोजित प्रतिष्ठा मे सम्मिलित हुए। यहाँ इन्होने भगवान अजितनाथ की एक प्रतिमा की प्रतिष्ठा सम्पन्न करवायी।[4] सवत् १५०९ में इन्होंने धोपे ग्राम में शान्तिनाथ प्रतिमा की स्थापना की।[5] इसी वष इनके शिष्य आचाय विद्यानन्दि ने चौबीस प्रतिमा की विधिपूर्वक प्रतिष्ठा करवायी।[6]

भट्टारक जिनचन्द्र खण्डेलवाल एव बघेरवाल जाति के श्रावको द्वारा अधिक सम्मानित थे। इसलिए उक्त जाति के श्रावको द्वारा आयोजित अधिकाश प्रतिष्ठा समारोहो मे वे ससम्मान सम्मिलित होते थे। सवत् १५२३ एव १५२७ मे बघेरवाल श्रावको द्वारा जो समारोह आयोजित हुए थे उनमें भट्टारक जिनचन्द्र अपने सघ के साथ पधारे थे और समारोहो में विशेष आकषण पैदा किया था। सवत् १५४८ में वैशाख सुदी ३ के शुभदिन मुडासा शहर में सबसे बडो प्रतिष्ठाविधि सम्पन्न हुई। भट्टारक जिनचन्द्र ने इस प्रतिष्ठा में विशेष रुचि ली और हजारो मूर्तियो की प्रतिष्ठा करवाकर

---

१ पवयणपमाणलक्खण छदालकार रहियहियएण।
जिणाइदेण पउत्त इणमागमभत्तिजुत्तेण ॥७८॥
(माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई)

२ मूर्तिलेख सग्रह, प्रथम भाग, पृष्ठ सख्या १६३।

३ ,, ,, पृष्ठ सख्या ६८।

४ ,, पृष्ठ सख्या १७६।

५ राजस्थान के जैन सन्त पष्ठ सख्या १८२।

६ मूर्तिलेख सग्रह, प्रथम भाग, पृष्ठ सख्या १७५।

राजस्थान के ही नही किन्तु देश के विभिन्न मन्दिरो में विराजमान की। इस प्रतिष्ठा के आयोजक थे जीवराज पापडीवाल जो खण्डेलवाल जाति के सूर्य थे। वास्तव में जिनचन्द्र के जीवन में इतनी भारी प्रतिष्ठा इसके पूव कभी नही हुई थी। इस प्रतिष्ठा समारोह के सफल सचालन के कारण उनकी कीर्ति चारो ओर फैल गयी और जिनचन्द्र भट्टारक शिरोमणि बन गये।

शिष्य परिवार

भट्टारक जिनचन्द्र के शिष्यो में रत्नकीर्ति, सिहकीर्ति, प्रभाचन्द्र, जगत्कीर्ति, चारुकीर्ति, जयकीर्ति, भीमसेन, मेधावी आदि के नाम विशेषत उल्लेखनीय है। रत्नकीर्ति ने सवत् १५७२ मे नागौर (राजस्थान) में तथा सिहकीर्ति ने अटेर में स्वतन्त्र भट्टारक गादी की स्थापना की। जिससे सारे राजस्थान मे भट्टारको का पूण प्रभुत्व स्थापित हो गया। इस प्रकार जिनचन्द्र अपने समय के समर्थ भट्टारक रहे।

भट्टारक प्रभाचन्द्र द्वितीय

[सवत् १५७१ से १५९२ तक]

प्रभाचन्द्र के नाम से चार प्रसिद्ध भट्टारक हुए है। प्रथम भट्टारक प्रभाचन्द्र वालचन्द्र के शिष्य थे जो सेनगण के भट्टारक थे तथा जो १२वी शताब्दी में हुए थे। दूसरे प्रभाचन्द्र भट्टारक रत्नकीर्ति के शिष्य थे जो बलात्कारगण-उत्तर शाखा के भट्टारक बने थे। ये चमत्कारिक भट्टारक थे जिनका परिचय पहले दिया जा चुका है। तीसरे प्रभाचन्द्र भट्टारक जिनचन्द्र के शिष्य थे और चौथे प्रभाचन्द्र भट्टारक ज्ञानभूषण के शिष्य थे। यहाँ भट्टारक जिनचन्द्र के शिष्य भट्टारक प्रभाचन्द्र के जीवन पर प्रकाश डाला जा रहा है।

एक भट्टारक पट्टावली के अनुसार प्रभाचन्द्र खण्डेलवाल जाति के श्रावक थे और वैद इनका गोत्र था। ये १५ वष तक गृहस्थ रहे। एक बार भट्टारक जिनचन्द्र विहार कर रहे थे कि उनकी दृष्टि प्रभाचन्द्र पर पडी। इनकी अपूव सूझ-बूझ एव गम्भीर ज्ञान को देखकर जिनचन्द्र ने इन्हे अपना शिष्य बना लिया। यह कोई सवत् १५५१ की घटना होगी। २० वष तक इन्हे अपने पास रखकर खूब विद्याध्ययन कराया और अपने से भी अधिक शास्त्रो का ज्ञाता तथा वाद-विवाद में पटु बना दिया। सवत् १५७१ की फाल्गुन कृष्णा २ को इनका देहली में धूमधाम से पट्टाभिषेक हुआ। उस समय ये पूण युवा थे और अपनी अलौकिल वाक् शक्ति एव साधु स्वभाव से बरबस सबके हृदय को स्वत ही आकृष्ट कर लेते थे। एक भट्टारक पट्टावलि के अनुसार ये २५ वष तक भट्टारक रहे। श्री वी पी जोहरापुरकर ने इन्हे केवल ९ वर्ष तक भट्टारक पद पर रहना लिखा है।[१] इन्होने अपने समय में ही मण्डलाचार्यों की नियुक्ति की। इनमें धमचन्द्र को प्रथम मण्डलाचाय बनने का सौभाग्य मिला। सवत् १५९३ में मण्डलाचार्य धमचन्द्र द्वारा प्रतिष्ठित कितनी ही मूर्तियाँ मिलती है। इन्होने आँवा नगर में अपने तीन गुरुओ की निषेधिकाएँ स्थापित की जिससे यह भी ज्ञात होता है कि प्रभाचन्द्र का इसके पूर्व ही स्वर्गवास हो गया था।

प्रभाचन्द्र अपने समय के प्रसिद्ध एव समर्थ भट्टारक थे। एक लेख प्रशस्ति में इनके नाम के पूव पूर्वाचलदिनमणि, षड्तर्कतार्किकचूडामणि आदि विशेषण लगाये है जिससे इनकी विद्वत्ता एव तकशक्ति का परिज्ञान होता है।

साहित्य सेवा

प्रभाचन्द्र ने सारे राजस्थान मे विहार किया। शास्त्रभण्डारो का अवलोकन किया और उनमे नयी-नयी प्रतियाँ लिखवाकर प्रतिष्ठापित की। राजस्थान के शास्त्र-भण्डारो में इनके समय मे लिखी हुई सैकडो प्रतियाँ सग्रहीत है और इनका यशोगान गाती है। सवत् १५७५ की मार्गशीर्ष शुक्ला ४ को बाई पार्वती ने पुष्पदन्त कृत जसहर-चरिउ की प्रति लिखवायी और भट्टारक प्रभाचन्द्र को भेंट स्वरूप दी।[1]

सवत् १५७९ के मगसिर मास में इनका टोक नगर में विहार हुआ। चारो ओर आनन्द एव उत्साह का वातावरण छा गया। इसी विहार की स्मृति में पण्डित नरसेन कृत 'सिद्धचक्रकथा' की प्रतिलिपि खण्डेलवाल जाति में उत्पन्न टोग्या गोत्रवाले साह धरमसी एव उनकी भार्या खातू ने करवायी और उसे बाई पदमसिरी को स्वाध्याय के लिए भेंट दी।

सवत् १५८० में सिकन्दराबाद नगर में इन्ही के एक शिष्य ब्र बीडा को खण्डेलवाल जाति में उत्पन्न साह दौदू ने पुष्पदन्त कृत जसहरचरिउ की प्रतिलिपि लिखवाकर भेंट की। उस समय भारत पर बादशाह इब्राहीम लोदी का शासन था। उसके दो वष पश्चात् सवत् १५८२ में घटियालीपुर में इन्ही के आम्नाय के एक मुनि हेमकीर्ति को श्रीचन्दकृत रत्नकरण्ड की प्रति भेंट को गयी। भेंट करनेवाली थी बाई मोली। इसी वर्ष जब इनका चम्पावती (चाटसूँ) नगर में विहार हुआ तो वहाँ के साह-गोत्रीय श्रावको द्वारा सम्यक्त्व-कौमुदी की एक प्रति ब्रह्म बूचा (बूचराज) को भेंट दी गयी। ब्रह्म बूचराज भट्टारक प्रभाचन्द्र के शिष्य थे और हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान् थे। सवत १५८३ की आषाढ शुक्ला तृतीया के दिन इन्ही के प्रमुख शिष्य मण्डलाचार्य धर्मचन्द्र के उपदेश से महाकवि श्री यश कीर्ति विरचित 'चन्दप्पहचरित' की प्रतिलिपि की गयी जो जयपुर के आमेर शास्त्र भण्डार में सग्रहीत है।

जब भटटारक प्रभाचन्द्र चित्तौड पधारे तो उनका वहाँ भी जोरदार स्वागत किया गया तथा उनके उपदेश से 'मेघमालाव्रत काव्य' की पाश्वनाथ मन्दिर में रचना की गयी।

सवत् १५८४ में महाकवि धनपाल कृत बाहुबलि चरित की बघेरवाल जाति में उत्पन्न साह माधो द्वारा प्रतिलिपि करवायी गयी और प्रभाचन्द्र के शिष्य ब्र रत्नकीर्ति को स्वाध्याय के लिए भेंट दी गयी। इस प्रकार भट्टारक प्रभाचन्द्र ने राजस्थान में स्थान-स्थान में विहार करके अनेक जीण ग्रन्थो का उद्धार किया और उनकी प्रतिया करवाकर शास्त्र भण्डारो में सग्रहीत की। वास्तव में यह उनकी सच्ची साहित्य सेवा थी जिसके कारण सैकडो ग्रन्थो की प्रतिया सुरक्षित रह सकी अन्यथा न जाने कब ही काल के गाल में समा जाती।

---

१ देखिए, लेखक द्वारा सम्पादित प्रशस्ति सग्रह, पृष्ठ सख्या १८३।

प्रतिष्ठा कार्य

भट्टारक प्रभाचन्द ने प्रतिष्ठा कार्यों में भी पूरी दिलचस्पी ली। भट्टारक गादी पर बैठने के पश्चात् कितनी ही प्रतिष्ठाओ का नेतृत्व किया एव जनता को मन्दिर निर्माण की ओर आकृष्ट किया। सवत् १५७१ की ज्येष्ठ शुक्ला २ को षोडशकारण यन्त्र एव दशलक्षण यन्त्र की स्थापना की। इसके दो वष पश्चात् सवत् १५७३ की फाल्गुन कृष्णा ३ को एक दशलक्षण यन्त्र स्थापित किया। सवत १५७८ की फाल्गुन सुदी ९ के दिन तीन चौबीसी की मूर्ति की प्रतिष्ठा करायी और इसी तरह सवत् १५८३ में भी चौबीसी की प्रतिमा की प्रतिष्ठा इनके द्वारा ही सम्पन्न हुई। राजस्थान के कितने ही मन्दिरो में इनके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियाँ मिलती हैं।

सवत् १५९३ में मण्डलाचाय धर्मचन्द्र ने आँवा नगर मे होने वाले प्रतिष्ठा महोत्सव का नेतृत्व किया था उसमें शान्तिनाथ स्वामी की एक विशाल एव मनोज्ञ मूर्ति की प्रतिष्ठा की गयी थी। चार फीट ऊँची एव साढे तीन फीट चौडी श्वेत पाषाण की इतनी मनोज्ञ मूर्ति इने-गिने स्थानो मे ही मिलती है। इसी समय के एक लेख में धमचन्द्र ने प्रभाचन्द्र का निम्न शब्दो मे स्मरण किया है—

> तत्पटटस्थ-श्रुताधारी प्रभाचन्द्र श्रियानिधि।
> दीक्षितो यो लसत्कीर्ति प्रचण्ड पण्डिताग्रणी॥

प्रभाचन्द्र ने राजस्थान में साहित्य तथा पुरातत्त्व के प्रति जो जन-साधारण में आकषण पैदा किया था वह इतिहास में सदा चिरस्मरणीय रहेगा। ऐसे सन्त को शतश प्रणाम।

आचार्य सोमकीर्ति

[सवत् १५२६ से १५४० तक]

आचाय सोमकीर्ति १६वी शताब्दी के उद्भट विद्वान्, प्रमुख साहित्य-सेवी, प्रतिष्ठाचाय एव उत्कृष्ट जैन सन्त थे। वे योगी थे। आत्मसाधना में तत्पर रहते और अपने शिष्यो, साथियो तथा अनुयायियो को उसपर चलने का उपदेश देते। वे स्वाध्याय करते, साहित्य सृजन करते एव लोगो को उसकी महत्ता बतलाते। यद्यपि अभी तक उनका अधिक साहित्य नही मिल सका है लेकिन जितना भी उपलब्ध हुआ है उसपर उनकी विद्वत्ता की गहरी छाप है। वे सस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, राजस्थानी एव गुजराती आदि कितनी ही भाषाओ के ज्ञाता थे। पहले उन्होने जन साधारण के लिए हिन्दी राजस्थानी में लिखा और अपनी विद्वत्ता की अमिट छाप छोडने के लिए कुछ रचनाएँ सस्कृत में भी निबद्ध की। उनका प्रमुख क्षेत्र राजस्थान एव गुजरात रहा और इन प्रदेशो मे जीवन-भर विहार करके जन-साधारण के जीवन को ज्ञान एव आत्म-साधना की दृष्टि से ऊँचा उठाने का प्रयास करते रहे। उन्होने कितने ही मन्दिरों की प्रतिष्ठाएँ करवायी, सास्कृतिक समारोहो का आयोजन करवाया और इन सबके द्वारा सभी को सत्य मार्ग का अनुसरण करने के लिए प्रेरित किया। वास्तव में वे अपने समय के भारतीय सस्कृति, साहित्य एव शिक्षा के महान् प्रचारक थे।

आचाय सोमकीर्ति काष्ठा सघ के नन्दीतट शाखा के सन्त थे तथा १०वी शताब्दी के प्रसिद्ध भट्टारक रामसेन की परम्परा में होनेवाले भट्टारक थे। उनके दादा गुरु लक्ष्मीसेन एव गुरु भीमसेन थे। सवत् १५१८ (सन् १४६१) में रचित एक ऐतिहासिक पट्टावली में अपने आपको काष्ठा सघ का ८७वा भट्टारक लिखा है। इनके गृहस्थ जीवन के सम्बन्ध में हमें अबतक कोई प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नही हो सकी है। वे कहाँ के थे, कौन उनके माता-पिता थे, वे कब तक गृहस्थ रहें और कितने समय पश्चात् इन्होने साधु जीवन को अपनाया इसकी जानकारी अभी खोज का विषय है। लेकिन इतना अवश्य है कि ये सवत् १५१८ में भट्टारक बन चुके थे और इसी वष इन्होने अपने पूवजो का नाम लिपिबद्ध किया था[1]। श्री विद्याधर जोहरापुरकर ने

---

१ श्री भीमसेन पट्टाधरण गछ्छ सरोमणि कुल तिलौ।
जण ति सुजाणह जाण नर श्री सोमकीर्ति मुनिवर भलौ॥
पनरहसि अठार मास आषाढह जाणु।
अक्कवार पचमी बहुल परयह बखाणु॥

अपने भट्टारक सम्प्रदाय में इनका समय सवत् १५२६ से १५४० तक का भट्टारक काल दिया है। वह इस पट्टावली से मेल नही खाता। सम्भवत उन्होने यह समय इनकी सस्कृत रचना सप्तव्यसनकथा के आधार पर दे दिया मालूम देता है क्योकि कवि ने इस रचना को सवत् १५२६ में समाप्त किया था। इनकी तीन सस्कृत रचनाओ में से यह प्रथम रचना है।

सोमकीर्ति यद्यपि भट्टारक थे लेकिन अपने नाम के पूव आचार्य लिखना अधिक पसन्द करते थे। ये प्रतिष्ठाचार्य का काय भी करते थे और उनके द्वारा सम्पन्न प्रतिष्ठाओ का उल्लेख निम्न प्रकार मिलता है—

१ सवत् १५२७ वैशाख सुदी ५ को इन्होने वीरसेन के साथ नरसिह एव उसकी भार्या सापडिया के द्वारा आदिनाथ स्वामी की मूर्ति की स्थापना करवायी थी।[1]

२ सवत् १५३२ मे वीरसेन सूरि के साथ शीतलनाथ की मूर्ति स्थापित की गयी थी।[2]

३ सवत् १५३६ में अपने शिष्य वीरसेन सूरि के साथ हूँबड जातीय श्रावक भूपा भार्या राज के अनुरोध से चौबीसी की मूर्ति की प्रतिष्ठा करवायी।[3]

४ सवत् १५४० में भी इन्होने एक मूर्ति की प्रतिष्ठा करवायी।[4]

ये मन्त्र शास्त्र के भी ज्ञाता एव अच्छे साधक थे। कहा जाता है कि एक बार इन्होने सुल्तान फिरोजशाह के राज्यकाल में पावागढ में पद्मावती की कृपा से आकाशगमन का चमत्कार दिखलाया।[5] अपने समय के मुगल सम्राट् से भी इनका अच्छा सम्बन्ध था। ब्र श्री कृष्णदास ने अपने मुनिसुव्रत पुराण (र का स १६८१) में सोमकीर्ति के स्तवन में इनके आगे 'यवनपतिकराम्भोजसपूजिताह्रि' विशेषण जोडा है।[6]

पुञ्त्रा भदद्द नक्षत्र श्री सोमकीत्रि पुरवरि।
सन्यासी वर पाठ तणु प्रबन्ध जिणी परि॥
जिनवर सुपास भविन कीउ श्री सोमकीर्ति बहु भाव धरि।
जिनवत उरवि तलि विस्तरु श्री शान्तिनाथ सुपसाऊ करि॥

१ सवत् १५२७ वर्ष वैशाख बदी ५ गुरौ श्री काष्ठासघे नदतट गच्छे विद्यागणे भट्टारक श्री सोमकीर्ति आचार्य श्री वीरसेन युगवै प्रतिष्ठापिता। नरसिह राज्ञा भार्या सापडिया गौत्रे लाखा भार्या मांकू देल्हा भार्या मात् पुत्र बना सा कान्हा देल्हा केन श्री आदिनाथ बिम्ब कारापिता।
—सिरमोरियों का मन्दिर, जयपुर

२ भट्टारक सम्प्रदाय पृष्ठ सरया २९३।

३ सवत् १५३६ वर्षे वैशाख सुदो १० बुधे श्री काष्ठासघे बागडगच्छे नन्दी तट गच्छे विद्यागणे भट्टारक श्री भोमसेन तत् पट्टे भट्टारक श्री सोमकीर्ति शिष्य आचार्य श्री वीरसेनयुक्तै प्रतिष्ठित हुबड जातीय बध गोत्रे गांधी भूपा भार्या राज सुत गांधी मना भार्या काऊ रुडा भार्या लाडिकी सघवी मना केन श्री आदिनाथ चतुर्विंशतिका प्रतिष्ठापिता।
—मन्दिर लूणकरणजी पाण्ड्या जयपुर

४ भट्टारक सम्प्रदाय, पृष्ठ सरया २९३।

५ भट्टारक सम्प्रदाय, पृष्ठ सरया २९३।

६ प्रशस्ति संग्रह, पृष्ठ सरया ४७।

शिष्यगण

सोमकीर्ति के वैसे तो कितने ही शिष्य थे जो इनके सघ मे रहकर धर्म साधन किया करते थे। लेकिन इन शिष्यो में यश कीर्ति, वीरसेन, यशोधर आदि का नाम मुख्यत गिनाया जा सकता है। इनकी मृत्यु के पश्चात् यश कीर्ति ही भट्टारक बने। ये स्वय भी विद्वान् थे। इसी तरह आचार्य सोमकीर्ति के दूसरे शिष्य यशोधर की भी हिन्दी की कितनी ही रचनाएँ मिलती है। इनकी वाणी में जादू था इसलिए ये जहाँ भी जाते वही प्रशसको की पक्ति खडी हो जाती थी। सघ मे मुनि, आर्यिका, ब्रह्मचारी एव पण्डितगण थे जिन्हें धम-प्रचार एव आत्म साधना की पूण स्वतन्त्रता थी।

विहार

इन्होंने अपने विहार से किन-किन नगरो, गाँवो एव देशो को पवित्र किया इसके कही स्पष्ट उल्लेख नही मिलते है लेकिन इनकी कुछ रचनाओ में जो रचना-स्थान दिया हुआ है उसी के आधार पर इनके विहार का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। सवत् १५१८ में सोजत नगर में थे और वहा इन्होने सम्भवत अपनी प्रथम ऐतिहासिक रचना 'गुर्वावलि' को समाप्त किया था। सवत् १५३६ में गोढिलीनगर में विराज रहे थे यही इन्होने यशोधर चरित्र (सस्कृत) को समाप्त किया था तथा फिर यशोधर चरित (हिन्दी) को भी इसी नगर में निबद्ध किया था।

साहित्य सेवा

सोमकीर्ति अपने समय के प्रमुख साहित्यसेवी थे। सस्कृत एव हिन्दी दोनो में ही इनकी रचनाएँ उपलब्ध होती है। राजस्थान के विभिन्न शास्त्र भण्डारो में इनकी अबतक निम्न रचनाएँ प्राप्त हो चुकी हैं— १ सप्तव्यसन कथा, २ प्रद्युम्न चरित्र, ३ यशोधर चरित्र।

राजस्थानी रचनाएँ

१ गुर्वावली, २ यशोधर रास, ३ ऋषभनाथ की धूलि, ४ मल्लिगीत, ५ आदिनाथ बिनती, ६ त्रेपनक्रिया गीत

सप्तव्यसन कथा

यह कथा साहित्य का अच्छा ग्रन्थ है जिसमें सात व्यसनो[1] के आधार पर सात कथाएँ दी हुई है। ग्रन्थ के भी सात ही सर्ग है। आचार्य सोमकीर्ति ने इसे सवत् १५२६

१ जैनाचार्यों ने जुआ खेलना, चोरी करना शिकार खेलना, वेश्या सेवन, परस्त्री सेवन तथा मद्य एव मांस सेवन करने को सप्त व्यसनों में गिनाया है।

में माघ सुदी प्रतिपदा को समाप्त किया।[1]

(२) प्रद्युम्नचरित्र

यह इनका दूसरा प्रबन्ध काव्य है जिसमें श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न का जीवन चरित्र अकित है। प्रद्युम्न का जीवन जैनाचार्यों को अत्यधिक आकर्षित करता रहा है। अबतक विभिन्न भाषाओ में लिखी हुई प्रद्युम्न के जीवन पर २५ से भी अधिक रचनाएँ मिलती हैं। प्रद्युम्न चरित सुन्दर काव्य है जो १६ सर्गो में विभक्त है। इसका रचना काल स १५३१ पौष सुदी १३ बुधवार है।[२]

(३) यशोधर चरित्र

कवि 'यशोधर' के जीवन से सम्भवत बहुत प्रभावित थे इसलिए इन्होने सस्कृत एव हिन्दी दोनो में ही यशोधर चरित गाया है। यशोधर चरित्र आठ सर्गों का काव्य है। कवि ने इसे सवत् १५३६ में गोढिली (मारवाड) नगर मे निबद्ध किया था।[3]

राजस्थानी रचनाएँ

(१) गुर्वावलि

यह एक ऐतिहासिक रचना है जिसमें कवि ने अपने सघ के पूर्वाचार्यों का सक्षिप्त वणन दिया है। यह गुर्वावलि सस्कृत एव हिन्दी दोनो भाषाओ में लिखी हुई है। हिन्दी में गद्य-पद्य दोनो का ही उपयोग किया गया है। भाषा वैचित्र्य की दृष्टि से रचना का अत्यधिक महत्त्व है। सोमकीर्ति ने इसे सवत् १५१८ में समाप्त किया था इसलिए उस समय की प्रचलित हिन्दी गद्य की इस रचना से स्पष्ट झलक मिलती है। यह कृति हिन्दी गद्य साहित्य के इतिहास की विलुप्त कडी को जोडनेवाली है।

इस पट्टावली में काष्ठासघ का अच्छा इतिहास है। कृति का प्रारम्भ काष्ठासघ के ४ गच्छो से होता है जो नन्दीतटगच्छ, माथुरगच्छ, बागडगच्छ एव लाडबागड गच्छ

---

१ रस नयन समेते बाणयुक्तेन चन्द्रे (१५२६)
गतवति सति नून विक्रमस्यैव काले।
प्रतिपदि धवलायां माघमासस्य सोमे
हरिभदिनमनोज्ञे निर्मितो ग्रन्थ एष ॥७१॥

२ सवत्सरे सत्तिथिसज्ञके वै वर्षेऽत्र त्रिंशैकयुते (१५३१) पवित्रे।
विनिर्मित पौषसुदेश्च तस्यां त्रयोदशीव बुधवारयुक्ता ॥१६६॥

३ नन्दीतटारयगच्छे वशश्रीरामसेनदेवस्य।
जातो गुणार्णवैकश्च श्रीमान् श्रीभीमसैनेनति ॥६०॥
निर्मित तस्य शिष्येण श्री यशोधरसज्ञक।
श्रीसोमकीर्तिमुनिना विशोध्याधीयतां बुधा ॥६१॥
वर्षे षट्त्रिंशसरये तिथिपरगणना युक्तसंवत्सरे (१५३६) वै।
पञ्चम्यां पौषकृष्णे दिनकरदिवसे चोत्तरास्ये हि चन्द्रे।
गौढिल्या मेदपाटे जिनवरभवने शीतलेन्द्ररम्ये।
सोमादिकीर्तिनेद नृपवनचरित निर्मित शुद्धभक्त्या॥

के नाम से प्रसिद्ध थे। पट्टावली में आचार्य अर्हद्बलि को नन्दीतट गच्छ का प्रथम आचाय लिखा है। इसके पश्चात् अन्य आचार्यों का सक्षिप्त इतिहास देते हुए ८७ आचार्यों का नामोल्लेख किया है। ८७वें भट्टारक आचाय सोमकीर्ति थे। इस गच्छ के आचाय रामसेन ने नरसिंहपुरा जाति की तथा नेमिसेन ने भट्टपुरा जाति की स्थापना की थी। नेमिसेन पर पद्मावती एव सरस्वती दोनो की कृपा थी और उन्हे आकाशगामिनी विद्या सिद्ध थी।

(२) यशोधर रास

यह कवि की दूसरी बडी रचना है जो इस प्रकार से प्रबन्ध काव्य है। इस रचना के सम्बन्ध में अभी तक किसी विद्वान् ने उल्लेख नही किया है। इसलिए यशोधर रास कवि की अलभ्य कृतियो में से दूसरी रचना है। सोमकीर्ति ने सस्कृत में भी यशोधर चरित्र की रचना की थी जिसे उन्होने सवत् १५३६ में पूण किया था। 'यशोधर रास' सम्भवत इसके बाद की रचना है जो इन्होने अपने हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती भाषा-भाषी पाठको के लिए निबद्ध की थी।

'आचाय सोमकीर्ति' ने 'यशोधर रास' को गुढलीनगर के शीतलनाथ स्वामी के मन्दिर में कार्तिक सुदी प्रतिपदा को समाप्त किया था।[1]

'यशोधर रास' एक प्रबन्ध काव्य है, जिसमें राजा यशोधर के जीवन का मुख्यत वणन है। सारा काव्य दश ढालो में विभक्त है। ये ढालें एक प्रकार से सग का काम देती हैं। कवि ने यशोधर की जीवनकथा सीधी प्रारम्भ न करके साधु युगल से कहलायी है, जिसे सुनकर राजा मारिदत्त स्वय भी हिंसक जीवन को छोडकर जैन साधु की दीक्षा धारण कर लेता है एव चण्डमारि देवी का प्रमुख उपासक भी हिंसावृत्ति को छोडकर अहिंसक जीवन व्यतीत करता है। 'रास' की समूची कथा अहिंसा को प्रतिपादित करने के लिए कही गयी है, किन्तु इसके अतिरिक्त रास में अन्य वर्णन भी अच्छे मिलते है।

(३) आदिनाथ विनती

यह एक लघु स्तवन है जिसमें 'आदिनाथ' का यशोधर गान गाया गया है। यह स्तवन नैणवा के शास्त्र भण्डार के एक गुटके में सग्रहीत है।

(४) त्रैपनक्रियागीत

श्रावको के पालने योग्य त्रैपन क्रियाओ की इस गीत में विशेषता वर्णित की गयी है।

---

१ सोघीय एहज रास करीय साधुवली थापिसुए।
कातीए उजलि पाखि पडिवा बुघवारि कीउए॥
सीतलु ए नाथि प्रासादि गुढलो नयर सोहामणुए।
रिधि वृद्धि ए श्रीपास पासाउ हो जो नीति श्रीसघह घरिय
श्री गुरुए चरण पसाउ श्री सोमकीरति सूरी भण्यए॥

(५) ऋषभनाथ की धूलि

इसमें ४ ढाल है, जिनमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के सक्षिप्त जीवनकथा पर प्रकाश डाला गया है। भाषा पूरे रूप में जनभाषा है।

'सोमकीर्ति' ने सस्कृत एव हिन्दी साहित्य के माध्यम से जगत् को अहिंसा का सन्देश दिया। यही कारण है कि इन्होने यशोधर के जीवन को दोनो भाषाओ में निबद्ध किया। भक्तिकाव्य के लेखन में इनकी विशेष रुचि थी। इसीलिए इन्होने 'ऋषभनाथ की धूलि' एव 'आदिनाथ विनती' की रचना की थी। इनके अभी और भी पद मिलने चाहिए। सोमकीर्ति की इतिहास कृतियो में भी रुचि थी। गुर्वावलि इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। यह रचना जैनाचार्यो एव भट्टारको की विलुप्त कडी को जोडनेवाली है।

कवि ने अपनी कृतियो में 'राजस्थानी भाषा' का प्रयोग किया है। ब्रह्म जिनदास के समान उसकी रचनाओ में गुजराती भाषा के शब्दो का इतना अधिक प्रयोग नही हो सका है। यही नही, इनकी भाषा में सरसता एव लचकीलापन है। छन्दो की दृष्टि से भी वह राजस्थानी से अधिक निकट है।

कवि की दृष्टि से वही राज्य एव उसके ग्राम, नगर श्रेष्ठ माने जाने चाहिए, जिनमें जीववध नही होता है, सत्याचरण किया जाता हो तथा नारी समाज का जहाँ अत्यधिक सम्मान हो। यही नही, जहाँ के लोग अपने परिग्रह सचय की सीमा भी प्रतिदिन निर्धारित करते हो। और जहाँ रात्रि को भोजन करना भी वर्जित हो।

वास्तव में इन सभी सिद्धान्तो को कवि ने अपने जीवन में उतारकर फिर उनका व्यवहार जनता द्वारा सम्पादित कराया जाना चाहिए था।

'सोमकीर्ति' ने अपने दोनो काव्यो में 'जैनदर्शन' के प्रमुख सिद्धान्त 'अहिंसा' एव 'अनेकान्तवाद' का भी अच्छा प्रतिपादन किया है।

भट्टारक ज्ञानभूषण

[सवत् १५३० से १५५७ तक]

भट्टारक ज्ञानभूषण अपने समय के सर्वाधिक लोकप्रिय भट्टारक थे। उत्तरी भारत में और विशेषत राजस्थान एव गुजरात में उनका जबरदस्त प्रभाव था। मुस्लिम शासन होने पर भी वे बराबर पदयात्राएँ करते तथा बडे-बडे समारोहो का आयोजन करके जैनधम एव सस्कृति का प्रचार किया करते थे।[1] विद्वत्ता में उनकी बराबरी करनेवाले उस समय बहुत कम साधु थे। विद्वत्ता के अतिरिक्त उनकी भाषण शैली अत्यधिक पटु थी जो लोगो को सहज ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेती थी। २५-३० वर्ष तक देश में भगवान् महावीर के सिद्धान्तो का जिस धुआँधार रीति से प्रचार किया उससे समस्त जैन समाज गौरवान्वित हुआ था। उनके प्रशिष्य भट्टारक वीरचन्द्र ने उनके द्वारा देश-विदेश में जैनधर्म का प्रचार करना लिखा है। धर्म साहित्य एव सस्कृति के प्रचार-प्रसार में इन्होने जो योगदान दिया वह इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठो में अकित रहेगा।

ज्ञानभूषण नाम के भी चार भट्टारक हुए है। इसमें सर्वप्रथम भट्टारक सकल-कीर्ति की परम्परा में भट्टारक भुवनकीर्ति के शिष्य थे। दूसरे ज्ञानभूषण भट्टारक वीरचन्द्र के शिष्य थे जिनका सम्बन्ध सूरत शाखा के भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति की परम्परा में था। ये सवत् १६०० से १६१६ तक भट्टारक रहे। तीसरे ज्ञानभूषण का सम्बन्ध अटेर शाखा से रहा था और इनका समय १७वी शताब्दी का माना जाता है और चौथे ज्ञानभूषण नागौर गादी के भट्टारक रत्नकीर्ति के शिष्य थे। इनका समय १८वी शताब्दी का अन्तिम चरण था।

प्रस्तुत भट्टारक ज्ञानभूषण पहले भट्टारक विमलेन्द्रकीर्ति के शिष्य थे और बाद में इन्होने भट्टारक भुवनकीर्ति को भी अपना गुरु स्वीकार कर लिया। ज्ञानभूषण एव ज्ञानकीर्ति ये दोनो ही सगे भाई एव गुरु भाई थे और वे पूर्वी गोलालारे जाति के श्रावक थे। लेकिन सवत् १५३५ में सागवाडा एव नोगाम में एक साथ दो प्रतिष्ठाएँ प्रारम्भ हुई। सागवाडा में होनेवाली प्रतिष्ठा के सचालक भट्टारक ज्ञानभूषण और नोगाम की प्रतिष्ठा महोत्सव का सचालन ज्ञानकीर्ति ने किया। यही से भट्टारक ज्ञानभूषण बृहद्

---

१ तम परि जिती उपना को ज्ञानभूषण मुनिराय।
देश विदेशि विहार करि भव्य लगाया पार॥

—नेमिकुमार रास-भट्टारक वीरच द्र

शाखा के भट्टारक माने जाने लगे और भट्टारक ज्ञानकीर्ति लघु शाखा के गुरु कहलाने लगे।[1]

एक नन्दिसघ की पट्टावली से ज्ञात होता है कि ये गुजरात के रहनेवाले थे। गुजरात में ही उन्होने सागार धम धारण किया, अहीर (आभीर) देश में ग्यारह प्रतिमाएँ धारण की और बार बार या बागड देश में दुधर महाव्रत ग्रहण किये। तलव देश के यतियो में इनकी बडी प्रतिष्ठा थी। तैलव देश के उत्तम पुरुषो ने उनके चरणो की वन्दना की, द्रविड देश के विद्वानो ने उनका स्तवन किया, महाराष्ट्र में उन्हें बहुत यश मिला, सौराष्ट्र के धनी श्रावको ने उनके लिए महामहोत्सव किया। रायदेश (ईडर के आसपास का प्रान्त) के निवासियो ने उनके वचनो को अतिशय प्रमाण माना, मेरुपाट (मेवाड) के मूर्ख लोगो को उन्होने प्रतिबोधित किया, मालवा के भव्य जनो के हृदय-कमल को विकसित किया, मेवात में उनके अध्यात्म रहस्यपूण व्याख्यान से विविध विद्वान् श्रावक प्रसन्न हुए। कुरुजागल के लोगो का अज्ञान रोग दूर किया, बैराठ (जयपुर के आसपास) के लोगो को उभय माग (सागार अनगार) दिखलाये, नमियाड (नीमाड) में जैन धम की प्रभावना की। भैरव राजा ने उनकी भक्ति की, इन्द्रराज ने चरण पूजे, राजाधिराज देवराज ने चरणो की आराधना की। जिन धम के आराधक मुदलियार, रामनाथराय, बोम्मरसराय, कलपराय, पाण्डुराय आदि राजाओ ने पूजा की और उन्होने अनेक तीर्थों की यात्रा की। व्याकरण-छन्द अलकार-साहित्य तर्क आगम-अध्यात्म आदि शास्त्ररूपी कमलो पर विहार करने के लिए वे राजहस थे और शुद्ध ध्यानामृत-पान की उन्हे लालसा थी।[2] उक्त विवरण कुछ अतिशयोक्ति पूर्ण भी हो सकता है लेकिन इतना तो अवश्य है कि ज्ञानभूषण अपने समय के प्रसिद्ध सन्त थे और उन्होने अपने त्याग एव विद्वत्ता से सभी को मुग्ध कर रखा था।

ज्ञानभूषण भट्टारक भुवनकीर्ति के पश्चात् सागवाडा में भट्टारक गादी पर बैठे। अबतक सबसे प्राचीन उल्लेख हैसवत् १५३१ वैशाख सुदी २ का मिलता है जब कि इन्होने डूँगरपुर में आयोजित प्रतिष्ठा महोत्सव का सचालन किया था। उस समय डूँगर-पुर पर रावल सोमदास एव रानी गुराई का शासन था।[3] श्री जोहरापुरकर ने ज्ञानभूषण का भट्टारक काल सवत् १५३४ से माना है।[4] लेकिन यह काल किस आधार पर निर्धारित किया है इसका कोई उल्लेख नही किया। श्री नाथूराम प्रेमी ने भी 'जैन साहित्य और इतिहास में' इनके काल के सम्बन्ध सै कोई निश्चित मत नही लिखा। केवल इतना ही लिखकर छोड दिया कि विक्रम सवत् १५३४-३५ और १५३६ के

---

१ देखिए भट्टारक पट्टावलि—शास्त्र भण्डार भ यश कीर्ति दि जैन सरस्वती भवन ऋषभदेव (राज)।

२ देखिए, नाथूरामजी प्रेमी कृत जैन साहित्य और इतिहास, पृ स ३८१ ८२।

३ सवत् १५३१ वर्षे वैसाख बदि ५ बुधे श्री मूलसघे भ श्री सकलकीर्तिस्तत्पट्टे भ भुवनकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भ श्री ज्ञानभूषणदेवस्तदुपदेशात् मेधा भार्या टीगू प्रणमति श्री गिरिपुरे रावल श्री सोमदास राजी गुराई सुराज्ये।

४, देखिए, भट्टारक सम्प्रदाय, पृष्ठ संख्या १५८।

तीन प्रतिमा लेख और भी है जिनसे मालूम होता है कि उक्त सवतो में ज्ञानभूषण भट्टारक पद पर थे। डॉ प्रेमसागर ने अपनी 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि'[1] में इनका भट्टारक काल सवत् १५३२-५७ तक समय स्वीकार किया है। लेकिन डूँगरपुरवाले लेख से यह स्पष्ट है कि ज्ञानभूषण सवत् १५३१ अथवा इससे पहले भट्टारक गादी पर बैठ गये थे। इस पद पर वे सवत् १५५७-५८ तक रहे। सवत् १५६० मे उन्होने तत्त्वज्ञान तरगिणी की रचना समाप्त की थी। इसकी पुष्पिका में इन्होने अपने नाम के पूर्व 'मुमुक्षु' शब्द जोडा है जो अन्य रचनाओ में नही मिलता। इससे ज्ञात होता है कि इसी वष अथवा इससे पूर्व ही इन्होने भट्टारक पद छोड दिया था।

सवत् १५५७ तक ये निश्चित रूप से भट्टारक रहे। इसके पश्चात् इन्होने अपने शिष्य विजयकीर्ति को भट्टारक पद देकर स्वय साहित्य साधक एव मुमुक्षु बन गये। वास्तव में यह उनके जीवन का उत्कृष्ट त्याग था क्योकि उस युग में भट्टारको की प्रतिष्ठा, मान-सम्मान बडे ही उच्चस्तर पर थी। भट्टारको के कितने ही शिष्य एव शिष्याएँ होती थी। श्रावक लोग उनके विहार के समय पलक पावडे बिछाये रहते थे तथा सरकार की ओर से भी उन्हे उचित सम्मान मिलता था। ऐसे उच्च पद को छोडकर केवल आत्मचिन्तन एव साहित्य साधना मे लग जाना ज्ञानभूषण-जैसे सन्त से ही हो सकता था।

ज्ञानभूषण प्रतिभापूर्ण साधक थे। उन्होने आत्मसाधना के अतिरिक्त ज्ञानाराधना, साहित्य साधना, सास्कृतिक उत्थान एव नैतिक धम के प्रचार मे अपना सम्पूर्ण जीवन खपा दिया। पहले उन्होने स्वय अध्ययन किया और शास्त्रो के गम्भीर अथ को समझा। तत्त्वज्ञान की गहराइयो तक पहुँचने के लिए व्याकरण, न्याय, सिद्धान्त के बडे-बडे ग्रन्थो का स्वाध्याय किया और फिर साहित्य-सृजन प्रारम्भ किया। सवप्रथम उन्होनें स्तवन एव पूजाष्टक लिखे फिर प्राकृत ग्रन्थो की टीकाएँ लिखी। रास एव फागु साहित्य की रचना कर साहित्य को नवीन मोड दिया और अन्त में अपने सम्पूण ज्ञान का निचोड तत्त्वज्ञान तरगिणी में डाल दिया।

साहित्य सृजन के अतिरिक्त सैकडो ग्रन्थो की प्रतिलिपिया करवाकर साहित्य के भण्डारो को भरा तथा अपने शिष्य प्रशिष्यो को उनके अध्ययन के लिए प्रोत्साहित किया तथा समाज को विजयकीर्ति एव शुभचन्द्र जैसे मेधावी विद्वान् दिये। बौद्धिक एव मानसिक उत्थान के अतिरिक्त इन्होने सास्कृतिक पुनर्जागरण में भी पूण योग दिया। आज भी राजस्थान एव गुजरात प्रदेश के सैकडो स्थानो के मन्दिरो मे उनके द्वारा प्रतिष्ठापित मूर्तियाँ विराजमान हैं। सह-अस्तित्व की नीति को स्वय में एव जन-मानस में उतारने में उन्होने अपूव सफलता प्राप्त की थी और सारे भारत को अपने बिहार से पवित्र किया। देशवासियो को उन्होने अपने उपदेशामृत का पान कराया एव उन्हें बुराइयो से

---

१. देखिए, हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ सख्या ७३।

बचने के लिए प्रेरणा दी। ज्ञानभूषण का व्यक्तित्व बडा आकर्षक था। श्रावको एव जनता को वश में कर लेना उनके लिए अत्यधिक सरल था। जब वे पदयात्रा पर निकलते तो माग के दोनो ओर जनता कतार बाँधे खडी रहती और उनके श्रीमुख से एक-दो शब्द सुनने को लालायित रहती। ज्ञानभूषण ने श्रावक धम का नैतिक धम के नाम से उपदेश दिया। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एव अपरिग्रह के नाम पर एक नया सन्देश दिया। इन्हे जीवन में उतारने के लिए वे गाँव-गाँव जाकर उपदेश देते और इस प्रकार वे उस समय लोगो की श्रद्धा एव भक्ति के प्रमुख सन्त माने जाने लगे।

प्रतिष्ठाकार्य सचालन

भारतीय एव विशेषत जैन सस्कृति एव धम की सुरक्षा के लिए उन्होने प्राचीन मन्दिरो का जीर्णोद्धार, नवीन मन्दिर निर्माण, पचकल्याणक प्रतिष्ठाएँ, सास्कृतिक समारोह, उत्सव एव मेलो आदि के आयोजनो को प्रोत्साहित किया। ऐसे आयोजनो में वे स्वय तो भाग लेते ही थे अपने शिष्यो को भी भेजते एव अपने भक्तो से भी उनमें भाग लेने के लिए उपदेश देते।

भट्टारक बनते ही इन्होने सवप्रथम सवत् १५३१ में डूँगरपुर मे २३" × १८" अवगाहनावाले सहस्रकूट चैत्यालय की प्रतिष्ठा का सचालन किया, इनमे से ६ चैत्यालय तो डूँगरपुर से ऊँडा मन्दिर में ही विराजमान हैं। इस समय डूँगरपुर पर रावल सोमदास का राज्य था। इन्ही के द्वारा सवत् १५३४ फाल्गुन सुदी १० में आयोजित प्रतिष्ठा महोत्सव के समय की प्रतिष्ठापित मूर्तियाँ कितने ही स्थानो पर मिलती हैं।[१]

सवत् १५३५ में इन्होने दो प्रतिष्ठाओं में भाग लिया जिसमें एक लेख जयपुर[२] के छाबडो के मन्दिर में तथा दूसरा लेख उदयपुर[३] के मन्दिर में मिलता है। सवत् १५४० में हुबड जातीय श्रावक लाखा एव उसके परिवार ने इन्ही के उपदेश से आदिनाथ स्वामी की प्रतिमा की प्रतिष्ठा करवायी थी।[४] इसके एक वष पश्चात् ही नागदा जाति के श्रावक-श्राविकाओ ने एक नवीन प्रतिष्ठा का आयोजन किया जिसमे भट्टारक

---

१ सवद् १५३४ वर्षे फाल्गुण सुदी १० गुरौ श्री मूलसघे भ सकलकीर्ति तत्पट्टे भ श्री भवनकीर्तिस्त भ ज्ञानभूषणगुरूपदेशाव् हूवड ज्ञातीय साह वाइदो भार्या छिवाई सुत सा, डगा भगिनी वीरदास भगनी प्रनाडी भात्रेय सान्ता एते नित्य प्रणमति।

२ सवद् १५३५ वर्षे माघ सुदी ५ गुरौ श्री मूलसघे भट्टारक श्रीभवनकीर्ति त भ श्री ज्ञानभूषण गुरूपदेशाव् गोत्रे सा माला भ त्रापु पुत्र सघपति स गोइन्द भार्या राजलदे भ्रातृ स भोजा भ लीलन सुत जीवा जोगा जिणदास सांभा सुरताण एतै अष्टप्रातिहार्यचतुर्विंशतिका प्रणमति।

३ सवद् १५३५ श्री मूलसघे भ श्री भुवनकीर्ति त भ श्री ज्ञानभूषण गुरूपदेशाव श्रेष्ठि हासा भार्या हासले सुत समधरा भार्या पामी सुत नाथा भार्या सारू भ्राता गोइआ भार्या पाँचू भ्राता महिराज भ्रा जैसा रूपा प्रणमति।

४ सवत् १५४० वर्षे वैशाख सुदी ११ गुरौ श्री मूलसघे भ श्री सकलकीर्ति तत्पट्टे भ भुवनकीर्ति तत्पट्टे भ ज्ञानभूषण गुरूपदेशात् हूवड ज्ञातीय सा लाखा भार्या माल्हणदे सुत हीरा भार्या हरषू भ्रा लाला रामति तद् पुत्र द्वौ धन्ना बन्ना राजा विरुपा साहा जेसा देणा आणद वाका राहूया अभय कुमार एते श्री आदिनाथ प्रणमति।

ज्ञानभूषण प्रमुख अतिथि थे। इस समय की प्रतिष्ठापित चन्द्रप्रभ स्वामी की एक प्रतिमा डूँगरपुर के एक प्राचीन मन्दिर में विराजमान है।[1] इसके पश्चात् तो प्रतिष्ठा महोत्सवो की धूम-सी मच गयी। सवत् १५४३, ४४ एव सवत १५४५ में विविध प्रतिष्ठा समारोह सम्पन्न हुए। १५५२ में डूँगरपुर में एक बृहद् आयोजन हुआ जिसमे विविध सास्कृतिक कायक्रम सम्पन्न हुए। इसी समय की प्रतिष्ठापित नेमिनाथ की प्रतिमा डूँगरपुर के ऊँडे मन्दिर मे विराजमान है।[2] यह सम्भवत आपके कर-कमलो से सम्पादित होनेवाला अन्तिम समारोह था। इसके पश्चात् सवत् १५५७ तक इन्होने कितने आयोजनो में भाग लिया इसका अभी कोई उल्लेख नही मिल सका है। सवत् १५६०[3] व १५६१[4] में सम्पन्न प्रतिष्ठाओ के अवश्य उल्लेख मिले है। लेकिन वे दोनो ही इनके पट्ट शिष्य भट्टारक विजयकीर्ति द्वारा सम्पन्न हुए थे। उक्त दोनो ही लेख डूगरपुर के मन्दिर मे उपलब्ध होते हैं।

साहित्य साधना

ज्ञानभूषण भट्टारक बनने से पूर्व और इस पद को छोडने के पश्चात् भी साहित्य-साधना में लगे रहे। वे जबरदस्त साहित्य-सेवी थे। प्राकृत, सस्कृत, हिन्दी, गुजराती एव राजस्थानी भाषा पर इनका पूर्ण अधिकार था। इन्होने सस्कृत एव हिन्दी में मौलिक कृतिया निबद्ध की और प्राकृत ग्रन्थो की सस्कृत टीकाएँ लिखी। यद्यपि सख्या की दृष्टि से इनकी कृतिया अधिक नही है फिर भी जो कुछ है वे ही इनकी विद्वत्ता एव पाण्डित्य को प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त है। श्री नाथूरामजी प्रेमी ने इनके तत्त्वज्ञानतरगिणी, सिद्धान्तसार भाष्य, परमार्थोपदेश, नेमिनिर्वाण की पजिका टीका, पचास्तिकाय, दशलक्षणोद्यापन, आदीश्वर फाग, भक्तामरोद्यापन, सरस्वती पूजा ग्रन्थो का उल्लेख किया है।[5] पण्डित परमानन्द जी ने उक्त रचनाओ के अतिरिक्त सरस्वती स्तवन, आत्म सम्बोधन आदि का और उल्लेख किया है।[6] इधर राजस्थान के जैन ग्रन्थ भण्डारो की

---

१ सवत् १५४१ वर्षे वेसाख सुदी ३ सामे श्री मूलसधे भ ज्ञानभूषण गुरूपदेशात नागदा ज्ञातीय पडवाल गोत्रे सा वाछा भार्या जसमी सुत देपाल भार्या गुरी सुत सिहिसा भार्या चमकू एते चन्द्रप्रभ नित्य प्रणमति।

२, सवत् १५५२ वर्षे ज्येष्ठ वदी ७ शुक्र मूलसघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे भ श्री सकलकीर्ति तत्पट्टे भट्टारक श्री भुवनकीर्ति तत्पट्ट भ श्री ज्ञानभूषण गुरूपदेशात् हूबड ज्ञातीय डूडूकरण भार्या साणी सुत नाना भार्या हीरू सुत सांगा भार्या पहुती नेमिनाथ एतै नित्य प्रणमति।

३ सवत् १५६० वर्षे श्री मूलसघे भट्टारक श्री ज्ञानभूषण तत्पट्टे भ श्री विजयकीर्ति गुरूपदेशात् बाई श्री ग्रोर्द्धन श्री बाई श्री विनय श्री विमान पक्तिव्रत उद्यापने श्री चन्द्रप्रभ ।

४ संवत् १५६१ वर्षे चैत्र वदी ८ शुक्रे श्री मूलसघे सरस्वतीगच्छे भट्टारक श्री सकलकीर्ति तत्पट्टे भट्टारक श्री भुवनकीर्ति तत्पट्टे भट्टारक ज्ञानभूषण तत्पट्टे भ विजयकीर्ति गुरूपदेशात् हूबड ज्ञातीय श्रेष्ठि लखमण भार्या मरगदी सुत श्रे समधर भार्या मचकू सुत श्रे गगा भार्या वल्लि सुत हरखा हीरा झठा नित्य श्री आदीश्वर प्रणमति बाई मचकू पिता दोसी रामा भार्या पूरी पुत्री रगी एते प्रणमति।

५ देखिए प नाथूरामजी प्रेमी कृत जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ ३८२।

६ देखिए, प परमानन्दजी का 'जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह'।

जब से लेखक ने खोज एव छानबीन की है तब से उक्त रचनाओ के अतिरिक्त इनके और भी ग्रन्थो का पता लगा है। अबतक इनकी जितनी रचनाओ का पता लग पाया है उनके नाम निम्न प्रकार है—

सस्कृत ग्रन्थ

१ आत्मसम्बोधन काव्य, २ ऋषिमण्डल पूजा[1], ३ तत्त्वज्ञानतरगिणी, ४ पूजाष्टक टीका, ५ पचकल्याणकोद्यापन पूजा[2], ६ भक्तामर पूजा[3], ७ श्रुतपूजा[4], ८ सरस्वती पूजा[5], ९ सरस्वती स्तुति[1], १० शास्त्र मण्डल पूजा[7], ११ दशलक्षण व्रतोद्यापन पूजा[8],

हिन्दी रचनाएँ

१२ आदीश्वर फाग, १३ जलगालण रास, १४ पोसह रास, १५ षटकम रास, १६ नागद्रा रास, १७ पचकल्याणक[9]।

१ तत्त्वज्ञानतरगिणी

इसे ज्ञानभूषण की उत्कृष्ट रचना कही जा सकती है। इसमें शुद्ध आत्मतत्त्व की प्राप्ति के उपाय बतलाये गये है। रचना अधिक बडी नही है किन्तु कवि ने उसे १८ अध्यायो में विभाजित किया है। इसकी रचना स १५६० मे हुई थी जब वे भट्टारक पद छोड चुके थे और आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिए मुमुक्षु बन चुके थे। रचना काव्यत्वपूर्ण एव विद्वत्ता को लिये हुए है।

२ पूजाष्टक टीका

इसकी एक हस्तलिखित प्रति सम्भवनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर उदयपुर में सग्रहीत है। इसमें स्वय ज्ञानभूषण द्वारा विरचित आठ पूजाओ की स्वोपज्ञ टीका है। कृति मे १० अधिकार है और उसकी अन्तिम पुष्पिका निम्न प्रकार है—

इति भट्टारक श्री भुवनकीर्त्तिशिष्यमुनिज्ञानभूषणविरचिताया स्वकृताष्टकदशक-टीकाया विद्वज्जनवल्लभासज्ञाया नन्दीश्वरद्वीपजिनालयाचनवर्णनीय नामा दशमोधिकार ॥

---

१ राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रन्थ सूची, भाग चतुर्थ, पृ स ४६३।
२ वही, पृष्ठ ६५०।
३ वही, पृष्ठ ५२३।
४ वही, पृष्ठ ५३७।
५ वही पृष्ठ ५१५।
६ वही पृष्ठ ६५७।
७ वही, पृष्ठ ८३०।
८ वही पृष्ठ ८३०।
९ वही, पृष्ठ ११८७।

यह पत्ता ग्रन्थ ज्ञानभूषण ने जब मुनि थे तब निबद्ध किया गया था। इसका रचना काल सवत् १५२८ एव रचना स्थान डूगरपुर का आदिनाथ चैत्यालय है।[1]

३ आदीश्वर फाग

'आदीश्वर फाग' इनकी हिन्दी रचनाओ में प्रसिद्ध रचना है। फागु सज्ञक काव्यो में इस कृति का विशिष्ट स्थान है। जैन कवियो ने काव्य के विभिन्न रूपो में सस्कृत एव हिन्दी मे साहित्य लिखा है। उससे उनके काव्य रसिकता की स्पष्ट झलक मिलती है। जैन कवि पक्के मनोवैज्ञानिक थे। पाठको की रुचि का वे पूरा ध्यान रखते थे इसलिए कभी फागु, कभी रास, कभी वेलि एव कभी चरित सज्ञक रचनाओ से पाठको के ज्ञान की अभिवद्धि करते रहते थे।

आदीश्वर फाग इनकी उत्कृष्ट रचना है, जो दो भाषा में निबद्ध है। इसमें भगवान आदिनाथ के जीवन का सक्षिप्त वर्णन है जो पहले सस्कृत एव फिर हिन्दी में वर्णित है। कृति में दोनो भाषाओ के ५०१ पद्य है जिनमें २६२ हिन्दी के तथा शेष २३९ पद्य सस्कृत के है। रचना की श्लोक सख्या ५९१ है।

रचनाकाल

यद्यपि 'ज्ञानभूषण' ने इस रचना का कोई समय नही दिया है, फिर भी यह सवत् १५६० पूव की रचना है—इसमें कोई सन्देह नही है। क्योकि तत्त्वज्ञानतरगिणी (सवत १५६०) भट्टारक ज्ञानभूषण की अन्तिम रचना गिनी जाती है।[2]

४ उपलब्धि स्थान

'ज्ञानभूषण' की यह रचना लोकप्रिय रचना है। इसलिए राजस्थान के कितने ही शास्त्र-भण्डारो में इसकी प्रतियाँ मिलती है। आमेर शास्त्र भण्डार में इसकी एक प्रति सुरक्षित है।

५ पोषह रास

यह यद्यपि व्रत-विधान के माहात्म्य पर आधारित रास है, लेकिन भाषा एव शैली की दष्टि से इसमें रासक काव्य-जैसी सरसता एव मधुरता आ गयी है। 'पोषह रास' के कर्ता के सम्बन्ध में विभिन्न मत है। प परमानन्द जी एव डॉ प्रेमसागरजी

---

१ श्रीमद्द विक्रमभूपराज्यसमयातीते वजमुद्वींद्रियक्षेणी–
सम्मितहायके गिरपुरे नाभेयचैत्यालये
अस्ति श्रीभुवनादिकीर्त्तिमुनयस्तस्यासि ससेविना,
स्वोक्ते ज्ञानविभूषणेन मुनिना टीका शुभेय कृता ।।१।।

२ डॉ प्रेमसागरजी ने इस कृति का जो सवत् १५५१ रचनाकाल बतलाया है वह सम्भवत सही नहीं है। जिस पद्य को उन्होंने रचनाकालवाला पद्य माना है, वह तो उसकी श्लोक सख्यावाला पद्य है। हिन्दी जैन भक्तिकाव्य और कवि, पृ स ७५

के मतानुसार यह कृति भट्टारक वीरचन्द के शिष्य भट्टारक ज्ञानभूषण की होनी चाहिए, जब कि स्वय कृति में इस सम्बन्ध में कोई उल्लेख नही मिलता। कवि ने कृति के अन्त में अपने नाम का निम्न प्रकार उल्लेख किया है

वारि रमणिय मुगतिज सम अनुप सुख अनुभवइ
भव म कारि पुनरपि न आवइ इह बू फलजस गमइ।
ते नर पोसह कान भावइ एणि परि पोसह धरइज नर नारि सुजण।
ज्ञानभूषण गुरू इम भणइ, ते नर करइ बरबाण ॥१११॥

वैसे इस रास की 'भाषा' अपभ्रश प्रभावित भाषा है, किन्तु उसमें लावण्य की भी कभी नही है।

ससार तणउ विनासु किम द्रुसइ राम चिंतवइ।
त्रोडयु मोहनुपास वलीयवती तेह नित चीइ ॥९८॥

इस रास की राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारो में कितनी ही प्रतियाँ मिलती है।

६ षट्कर्म रास

यह कर्म-सिद्धान्त पर आधारित लघु रासक काव्य है जिसमें इस प्राणी को प्रतिदिन देवपूजा, गुरूपासना, स्वाध्याय, सयम, तप एव दान—इन षट्कर्मों के पालन करने का सुन्दर उपदेश दिया गया है। इसमें ५३ छन्द है और अन्तिम छन्द में कवि ने अपने नाम का किस प्रकार परि-उल्लेख किया है, उसे देखिए—

सुणउ श्रावक सुणउ श्रावक एह षट्कम।
घरि रहइता जे आचरइ, ते नर पर भवि स्वग पामई।
नरपति पद पामी करीय, नर सघला नइ पाइ नामइ।
समकित घरता जु घरइ, श्रावक ए आचार।
ज्ञानभूषण गुरु इम भणाइ, ते पामइ भवपार ॥

७ जलगालन रास

यह एक लघु रास है, जिसमें जल छानने की विधि का वणन किया गया है। इसकी शैली भी षट्कम रास एव पोसह रास जैसी है। इसमें ३३ पद्य है। कवि ने अपने नाम का अन्तिम पद्य मे उल्लेख किया है।

गलउ पाणीय गलउ पाणीय ये तन मन रगि,
हृदय सदय कोमल धरु धरम तणू एह मूल जाणउ।
क्रह्म नीलू गन्ध करइ ते पाणी तुम्ति धरिम आणउ।
पाणीय आणीय यतन करी, जे गणसिइ नर-नारि।
श्री ज्ञानभूषण गुरु इम भणइ, ते तरसिइ ससारि ॥३३॥

'भट्टारक ज्ञानभूषण' की मृत्यु सवत १५६० के बाद किसी समय हुई होगी। लेकिन निश्चित तिथि की अभी तक खोज नही हो सकी है।

ग्रन्थ-लेखन कार्य

उक्त रचनाओ के अतिरिक्त अक्षयनिधि पूजा आदि और भी कृतियाँ है।

रचनाएँ निबद्ध करने के अतिरिक्त ज्ञानभूषण ने ग्रन्थो की प्रतिलिपिया करवाकर शास्त्र भण्डारो मे सग्रहीत कराने में भी खूब रस लिया है। आज भी राजस्थान के शास्त्र भण्डारो में इनके शिष्य-प्रशिष्यो द्वारा लिखित कितनी ही प्रतियाँ उपलब्ध होती है जिनका कुछ उल्लेख निम्न प्रकार मिलता है—

१ सवत् १५४० आसोज बदी १२ शनिवार को ज्ञानभूषण के उपदेश से धनपाल कृत भविष्यदत्त चरित्र की प्रतिलिपि मुनि श्री रत्नकीर्ति को पठनार्थ भेंट दी गयी।[1]

२ सवत् १५४१ माह वदी ३ सोमवार डूँगरपुर में इनकी गुरु बहन शान्ति गोतम श्री के पठनाथ आशाधर कृत धर्मामृत पंजिका की प्रतिलिपि की गयी।[2]

३ सवत् १५५३ में गिरिपुर (डूँगरपुर) के आदिनाथ चैत्यालय में सकलकीर्ति कृत प्रश्नोत्तर श्रावकाचार की प्रतिलिपि इनके उपदेश से हूवड ज्ञातीय श्रेष्ठि ठाकुर ने लिखवाकर माघनन्दि मुनि को भेंट की।[3]

४ सवत् १५४९ आषाढ सुदी २ सोमवार को इनके उपदेश से वसुनन्दि पचविंशति की प्रति ब्र माणिक के पठनाथ लिखी गयी।[4]

५ सवत् १५५५ में अपनी गुरु बहन के लिए ब्रह्म जिनदास कृत हरिवश पुराण की प्रतिलिपि करायी गयी।[5]

६ सवत् १५५५ आषाढ वदी १४ कोटस्याल के चन्द्रप्रभ चैत्यालय में ज्ञानभूषण के शिष्य ब्रह्म नरसिंह के पढने के लिए कातन्त्र रूपमाला वृत्ति की प्रतिलिपि करवाकर भेंट की गयी।[6]

७ सवत् १५५७ मे इनके उपदेश से महेश्वर कृत शब्दभेदप्रकाश की प्रतिलिपि की गयी।[7]

८ सवत् १५५६ में ज्ञानभूषण के भाई आ रत्नकीर्ति के शिष्य ब्र रत्नसागर

---

१ प्रशस्ति सग्रह पृष्ठ स १४६।
२ ग्रन्थ सख्या २६०, शास्त्र भण्डार ऋषभदेव।
३ ग्रन्थ सख्या २०४ सम्भवनाथ मन्दिर, उदयपुर।
४ भट्टारकीय शास्त्र भण्डार, अजमेर, ग्रन्थ संख्या १२२।
५ प्रशस्ति सग्रह, पृष्ठ ७३।
६ सम्भवनाथ मन्दिर शास्त्र भण्डार उदयपुर, ग्रन्थ सख्या २०६।
७, ग्रन्थ सख्या—११२ अग्रवाल मन्दिर, उदयपुर।

ने गन्धार मन्दिर के पाश्वनाथ चैत्यालय में पुष्पदन्त कृत यशोधरचरित्र की प्रतिलिपि करवायी थी।[1]

९ सवत् १५५७ अषाढ वदी १४ के दिन ज्ञानभूषण के उपदेश से हूँबड जातीय श्री श्रेष्ठी जइता भायो पाचू ने महेश्वर कवि द्वारा विरचित शब्दभेदप्रकाश की प्रतिलिपि करवायी।[2]

१० सवत् १५५८ में ब्र जिनदास द्वारा रचित हरिवश पुराण की प्रति इन्ही के प्रमुख शिष्य विजयकीर्ति को देउल ग्राम में भेंट दी गयी।[3]

ज्ञानभूषण के पश्चात् होनेवाले कितने ही विद्वानो ने इनका आदरपूवक स्मरण किया। भट्टारक शुभचन्द्र की दृष्टि में न्यायशास्त्र के पारगत विद्वान् थे एव उन्होने अनेक शास्त्रार्थों में विजय प्राप्त की थी। सकलभूषण ने इन्हें ज्ञान से विभूषित एव पाण्डित्यपूर्ण बतलाया है तथा इन्हे सकलकीर्ति की परम्परा में होनेवाले भटटारको में सूर्य के समान कहा है।

ज्ञानभूषण की मृत्यु सवत् १५६० के बाद किसी समय हुई होगी ऐसा विद्वानो का अभिमत है।

---

१ प्रशस्ति सग्रह, पृ ३८६।

२ ग्रन्थ सख्या २८ अग्रवाल मन्दिर, उदयपुर।

३ ग्रन्थ सख्या २४७, शास्त्र भण्डार, उदयपुर।

भट्टारक विजयकीर्ति

[सवत् १५५७ से १५७३ तक]

१५वी शताब्दी में भट्टारक सकलकीर्ति ने गुजरात एव राजस्थान में अपने त्यागमय एव विद्वत्तापूर्ण जीवन से भट्टारक सस्था के प्रति जनता की गहरी आस्था प्राप्त करने में महान् सफलता प्राप्त की थी। उनके पश्चात् इनके दो सुयोग्य शिष्य एव प्रशिष्य भट्टारक भुवनकीर्ति एव भट्टारक ज्ञानभूषण ने उसकी नीव को और भी दृढ करने में अपना योग दिया। जनता ने इन साधुओ का हार्दिक स्वागत किया और उन्हें अपने मार्गदर्शन एव धर्मगुरु के रूप में स्वीकार किया। समाज में होनेवाले प्रत्येक धार्मिक एव सास्कृतिक तथा साहित्यिक समारोहो में इनसे परामर्श लिया जाने लगा तथा यात्रा-सघो एव बिम्ब प्रतिष्ठाओ में इनका नेतृत्व स्वत ही अनिवार्य मान लिया गया। इन भट्टारको के विहार के अवसर पर धार्मिक जनता द्वारा इनका अपूव स्वागत किया जाता और उन्हे अधिक से अधिक सहयोग देकर उनके महत्त्व को जन साधारण के सामने रखा जाता। ये भट्टारक भी जनता के अधिक से अधिक प्रिय बनने का प्रयास करते थे। ये अपने सम्पूर्ण जीवन को समाज एव सस्कृति की सेवा में लगाते और अध्ययन, अध्यापन एव प्रवचनो द्वारा देश में एक नया उत्साहप्रद वातावरण पैदा करते।

विजयकीर्ति ऐसे ही भट्टारक थे जिनके बारे मे अभी बहुत कम लिखा गया है। ये भट्टारक ज्ञानभूषण के शिष्य थे और उनके पश्चात् भट्टारक सकलकीर्ति द्वारा प्रतिष्ठापित भट्टारक गादी पर बैठे थे। इनके समकालीन एव बाद में होनेवाले कितने ही विद्वानो ने अपनी ग्रन्थ प्रशस्तियो में इनका आदर-भाव से स्मरण किया है। इनके प्रमुख शिष्य भट्टारक शुभचन्द्र ने तो इनकी अत्यधिक प्रशसा की है और इनके सम्बन्ध में कुछ स्वतन्त्र गीत भी लिखे है। विजयकीर्ति अपने समय के समर्थ भट्टारक थे। उनकी प्रसिद्धि एव लोकप्रियता काफी अच्छी थी। यही बात है कि ज्ञानभूषण ने उन्हे अपना पट्टाधिकारी स्वीकृत किया और अपने ही समक्ष उन्हे भटटारक पद देकर स्वय साहित्य सेवा में लग गये।

विजयकीर्ति के प्रारम्भिक जीवन के सम्बन्ध में अभी कोई निश्चित जानकारी उपलब्ध नही हो सकी है लेकिन भट्टारक शुभचन्द्र के विभिन्न गीतो के आधार पर ये शरीर से कामदेव के समान सुन्दर थे। इनके पिता का नाम साहू गगा तथा माता का नाम कुअरि था।

साहा गगा तनय करउ विनय शुद्ध गुरु
शुभ वसह जात कुअरि मात परमपर
साक्षादि सुबुद्ध जी कीइ शुद्ध दलित तम।
सुरसेवत पाय मारीत माय मथित मत ॥१०॥

—शुभचन्द्र कृत गुरुछन्द गीत

बाल्यकाल मे ये अधिक अध्ययन नही कर सके थे। लेकिन भट्टारक ज्ञानभूषण के सम्पर्क में आते ही इन्होने सिद्धान्त ग्रन्थ का गहरा अध्ययन किया। गोमट्टसार, लब्धिसार, त्रिलोकसार आदि सैद्धान्तिक ग्रन्थो के अतिरिक्त न्याय, काव्य, व्याकरण आदि के ग्रन्थों का भी अच्छा अध्ययन किया और समाज में अपनी विद्वत्ता की अद्भुत छाप जमा दी।

लब्धि सु गुमट्टसार सार त्रैलोक्य मनोहर।
ककश तक वितर्क काव्य कमलाकर दिणकर।
श्री मूलसघि विख्यात नर विजयकीर्ति वाछित करण।
जा चाँदसूर ता लगी तयो जयह सूरि शुभचन्द्र सरण।

इन्होने जब साधु जीवन में प्रवेश किया तो ये अपनी युवावस्था के उत्कष पर थे। सुन्दर तो पहले से ही थे किन्तु यौवन ने उन्हे और भी निखार दिया था। इन्होने साधु बनते ही अपने जीवन को पूणत सयमित कर लिया और कामनाओ एव षटरस व्यजनो से दूर हटकर ये साधु जीवन की कठोर साधना में लग गये। ये अपनी साधना में इतने तल्लीन हो गये कि देश-भर में इनके चरित्र की प्रशसा होने लगी।

भट्टारक शुभचन्द्र ने इनकी सुन्दरता एव सयम का एक रूपक गीत मे बहुत ही सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है। रूपक गीत का सक्षिप्त निम्न प्रकार है—

जब कामदेव को भट्टारक विजयकीर्ति की सुन्दरता एव कामनाओ पर विजय का पता चला तो वह ईर्ष्या से जल भुन गया और क्रोधित होकर सन्त के सयम को डिगाने का निश्चय किया।

नाद एह वेरि वग्गि रगि कोई नावीमो।
मूलसघि पट्ट बध विविह भावि भावीयो।
तसह भेरी ढोल नाद वाद तेह उपन्नपे।
भणि मार तेह नारि कवण आज नीपन्नी।

कामदेव ने तत्काल देवागनाओ को बुलाया और विजयकीर्ति के सयम को भग करने की आज्ञा दी। लेकिन जब देवागनाओ ने विजयकीर्ति के बारे में सुना तो उन्हें अत्यधिक दुख हुआ और सन्त के पास जाने में कष्ट अनुभव करने लगी। इस पर कामदेव ने उन्हे निम्न शब्दों से उत्साहित किया—

वयण सुनि नव कामिणी दुख धरिह महत।
कही विमासण मझहवी नवि बारयो रहि कत ॥१३॥

रे रे कामणि म करि तु दुखह
इन्द्र नरेन्द्र मगाव्या भिखह ।
हरि हर वभमि कीया रकह ।
लोय सब्ब मम वसाहुँ निसकह ॥१४॥

इसके पश्चात् क्रोध, मान, मद एव मिथ्यात्व की सेना खडी की गयी । चारो ओर वसन्त ऋतु-जैसा सुहावनी ऋतु कर दी गयी जिसमें कोयल कुहू-कुहू करने लगी और भ्रमर गुजरने लगे । भेरी बजने लगी । इन सबने सन्त विजयकीर्ति के चारो ओर जो मायाजाल बिछाया उसका वणन कवि के शब्दो में पढिए—

बाल्लत खेलत चालत धावत घूणत
धूजत हाक्कत पूरत मोडत
तुदत भजत खजत मुक्कत मारत रगेण ।
फाडत जाणत घालत फेडत खग्गेण ।
जाणीय मार गमण रमण य तीसो ।
वोत्यावइ निज वल सकल सुधीसो ।
राय गणयत गयो बहु युद्धु कती ॥१८॥

कामदेव की सेना आपस में मिल गयी । बाजे बजने लगे । कितने ही सैनिक नाचने लगे । धनुषबाण चलने लगे और भीषण नाद होने लगा । मिथ्यात्व तो देखते ही डर गया और कहने लगा कि इस सन्त ने तो मिथ्यात्वरूपी महान् विकार को पहले ही पी डाला है । इसके पश्चात् कुमति की बारी आयी लेकिन उसे भी कोई सफलता नही मिली । मोह की सेना भी शीघ्र ही भाग गयी । अन्त में स्वय कामदेव ने कमरूपी सेना के साथ उसपर आक्रमण किया ।

उधर विजयकीर्ति ध्यान में तल्लीन थे । उन्होने शम, दम एव यम के द्वारा कामदेव और उसके साथियो की एक भी नही चलने दी । जिससे मदनराज को उसी क्षण वहाँ से भागना पडा ।

झूटा झूट करीय तिहाँ लग्गालमयणराय तिहाँ तत्क्षण भग्गा ।
आगति यो मयणाधिय नासई, ज्ञान खडक मुनि अतिहि प्रकासइ ॥२७॥

इस प्रकार इस गीत में शुभचन्द्र ने विजयकीर्ति के चरित्र की निमलता, ध्यान की गहनता एव ज्ञान की महत्ता पर अच्छा प्रकाश डाला है । इस गीत में उनके महान् व्यक्तित्व की झलक मिलती है ।

विजयकीर्ति के महान् व्यक्तित्व की सभी परवर्ती कवियो एव भट्टारको ने प्रशसा की है । ब्र कामराज ने उन्हे सुप्रचारक के रूप मे स्मरण किया है ।[1] भट्टारक

---

१ विजयकीर्तियो भवन भट्टारकोपदिशिन ॥७॥
—जयकुमार पुराण

सकलभूषण ने यशस्वी, महामना, मोक्षसुखाभिलाषी आदि विशेषणो से उनकी कीर्ति का बखान किया है।[1] शुभचन्द्र तो उनके प्रधान शिष्य थे ही, उन्होने अपनी प्राय सभी कृतियो में उनका उल्लेख किया है। श्रेणिक चरित्र में यतिराज, पुण्यमूर्ति आदि विशेषणो से अपनी श्रद्धाजलि अर्पित की है।

जयति विजयकीर्ति पुण्यमूर्ति सुकीर्ति
जयतु च यतिराजो भूमिपै स्पृष्टपाद ।
नयनलिनहिमाशु ज्ञानभूपस्य पट्टे
विविधपरविवादि क्षमधरे वज्रपात ॥

—श्रेणिकचरित्र २

भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति एव लक्ष्मीचन्द्र चादवाडा ने भी अपनी कृतियो में विजयकीर्ति का निम्न शब्दो में उल्लेख किया है—

१ विजयकीर्ति तस पटधारी, प्रगट्या पूरण सुखकार रे।

—प्रद्युम्नप्रबन्ध

२ तिन पट विजयकीर्ति जैवत, गुरु अन्यमति परवत समान।

—श्रेणिकचरित्र

सास्कृतिक सेवा

विजयकीर्ति का समाज पर जबरदस्त प्रभाव होने के कारण समाज की गतिविधियो में उनका प्रमुख हाथ रहता था। इनके भट्टारक काल में कितनी ही प्रतिष्ठाएँ हुई। मन्दिरो का निर्माण एव जीर्णोद्धार किया गया। इसके अतिरिक्त सास्कृतिक कार्यक्रमो के सम्पादन में भी इनका योगदान उल्लेखनीय रहा। सर्वप्रथम इन्होने सवत् १५५७-१५६० और उसके पश्चात् सवत् १५६१, १५६४, १५६८, १५७० आदि वर्षों मे सम्पन्न होनेवाली प्रतिष्ठाओ में भाग लिया और जनता को मार्गदर्शन दिया। इन सवतो में प्रतिष्ठित मूर्तियाँ डूँगरपुर, उदयपुर आदि नगरो के मन्दिरो में मिलती है। सवत् १५६१ में इन्होने सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान एव सम्यक्चारित्र की महत्ता को प्रतिष्ठापित करने के लिए रत्नत्रय की मूर्ति को प्रतिष्ठापित किया।

स्वर्णकाल

विजयकीर्ति के जीवन का स्वणकाल सवत् १५५२ से १५७० तक का माना जा सकता है। इन १८ वर्षों में इन्होने देश को एक नयी सास्कृतिक चेतना दी तथा अपने त्याग एव तपस्वी जीवन से देश को आगे बढाया। सवत् १५५७ में इन्हें

---

१ भट्टारक श्रीविजयादिकीर्तिस्तदीयपट्टे वरलब्धकीर्ति ।
महामना मोक्षसुखाभिलाषी बभूव जैनावनी यार्च्यपाद ॥
—उपदेशरत्नमाला

२ भट्टारक सम्प्रदाय, पृष्ठ १४४।

भट्टारक पद अवश्य मिल गया था। उस समय भट्टारक ज्ञानभूषण जीवित थे क्योकि उन्होने सवत् १५६० में 'तत्वज्ञान तरगिणी' की रचना समाप्त की थी। विजयकीर्ति ने सम्भवत स्वय कोई कृति नही लिखी। वे केवल अपने विहार एव प्रवचन से ही माग-दर्शन देते रहे। प्रचारक की दृष्टि से उनका काफी ऊँचा स्थान बन गया था और वे बहुत-से राजाओ द्वारा भी सम्मानित थे।[1] वे शास्त्रार्थ एव वाद-विवाद भी करते थे और अपने अकाट्य तर्कों से अपने विरोधियो से अच्छी टक्कर लेते थे। जब वे बहस करते तो श्रोतागण मन्त्रमुग्ध हो जाते और उनकी तर्कों को सुनकर उनके ज्ञान की प्रशसा किया करते। भट्टारक शुभचन्द्र ने अपने एक गीत में इनके शास्त्राथ का निम्न प्रकार वर्णन किया है—

वादीय वाद विटब वादि मिगाल मद गजर्न।
वादीय कुद कुदाल वादि श्रावय मन रजन।
वादि तिमिर हर भूरि वारि नीर सह सुधाकर
वादि बिम्बन वीर वादि निगाण गुण सागर।
वादीन विवुध सरसति गछि मूलसघि दिगम्बर रह।
कहिइ ज्ञानभूषण तो पट्टी श्री विजयकीर्ति जागी यतिबरह ॥५॥

इनके चरित्र, ज्ञान एव सयम के सम्बन्ध में इनके शिष्य शुभचन्द्र ने कितने ही पद्य लिखे है उनमें से कुछ का रसास्वादन कीजिए—

सुरनर खग भर चारुचद्र चर्चित चरणद्वय।
समयसार का सार हस भर चिचित चिन्मय।
दक्ष पक्ष शुभ मुक्ष लक्ष्य लक्षण पतिनायक
ज्ञान दान निगान अथ चातक जलदायक।
कमनीय मूर्ति सुन्दर सुकर धम्म शम कल्याण कर
जय विजयकीर्ति सूरीश कर श्री श्री वद्धन सौख्य वर ॥७॥
विशद विसवद वादि वरन कुण्ड गरु भेषज।
दुर्नय वनद समीर वीर वन्दित पद पकज।
पुन्य पयोधि सुचन्द्र चामीकर सुन्दर।
स्फूर्ति कीर्ति विख्यात सुमूर्ति सोभित सुभ सवर।
संसार सघ बहु दयी हर नागरमनि चारित्र धरा।
श्री विजयकीर्ति सूरीस जयवर श्री वर्द्धन पकहर ॥८॥

---

१. य पूज्यो नृपमल्लिभैरवमहादेवेन्द्रमुरयैर्नृपै।
षट्तर्कागमशास्त्रकोविदमतिर्जाग्रद्यशश्चन्द्रमा॥
भव्याम्भोरुहभास्कर शुभकर ससारविच्छेदक।
सोऽव्याच्छ्रीविजयादिकीर्तिमुनिपो भट्टारकाधीश्वर॥
—भट्टारक सम्प्रदाय, पृष्ठ स १४४।

'भट्टारक विजयकीर्ति' के समय में सागवाडा एव नोतनपुर की समाज दो जातियो में विभक्त थी। 'विजयकीर्ति' बडसाजनो के गुरु कहलाने लगे थे। जब वे नोतनपुर आये तो विद्वान् श्रावको ने उनसे शास्त्रार्थ करना चाहा लेकिन उनकी विद्वत्ता के सामने वे नही ठहर सके।[1]

शिष्य परम्परा

विजयकीर्ति के कितने ही शिष्य थे। उनमें भट्टारक शुभचन्द्र, बूचराज, ब्र यशोधर आदि प्रमुख थे। बूचराज ने एक विजयकीर्ति गीत लिखा है, जिसमे विजयकीर्ति के उज्ज्वल चरित्र की अत्यधिक प्रशसा की गयी है। वे सिद्धान्त के ममज्ञ थे तथा चारित्र सम्राट् थे।[2] इनके एक अन्य शिष्य ब्र यशोधर ने अपने कुछ पदो में विजयकीर्ति का स्मरण किया है तथा एक स्वतन्त्र गीत में उनकी तपस्या, विद्वत्ता एव प्रसिद्धि के बारे में अच्छा परिचय दिया है। गीत[3] का अन्तिम भाग निम्न प्रकार है—

अनेक राजा चलण सेवि मालवी मेवाड।
गूजर सोरठ सिन्धु सहिजि अनेक भड भूपाल।
दक्षण मरहठ चीण कुकण पूरवि नाम प्रसिद्ध।
छत्रीस लक्षण कला बहुतरि अनेक विद्यारिधि।
आगू वेद सिद्धान्त व्याकरण भावि भवीयण सार।
नाटक छन्द प्रमाण सूझि निज जपि नवकार ॥
श्री काष्ठा सघि कुल तिलुरे यती सरोमणि सार।
श्री विजयकीरति गिरुउ गणधर श्री सघकरि जयकार ॥४॥

उक्त गीत से ज्ञात होता है कि विजयकीर्ति केवल जैन समाज द्वारा ही सम्मानित नही थे किन्तु वे मालवा, मेवाड, गुजरात, सौराष्ट्र, सिन्ध, महाराष्ट्र एव कोकड प्रदेश के अनेक शासको द्वारा भी सम्मानित थे तथा जब कभी वे इन प्रदेशो में विहार करते वहाँ के शासको एव समाज द्वारा उनका शानदार स्वागत किया जाता था।

---

१ तिणि दिव बडिसाजनि सागवाडि सांतिनाथनि प्रतिष्ठा श्री बिजयकीर्ति कीनी।
वही भट्टारक पट्टावलि शास्त्र भण्डार, डूगरपुर।

२ पूरा पद देखिए—लेखक द्वारा सम्पादित राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रन्थ सूची चतुर्थ भाग पृ स ६६६-६७।

३ विजयकार्ति गीत, रजिस्टर न ७, पृ स ६०, महावीर भवन, जयपुर।

भट्टारक शुभचन्द्र

[सवत् १५७३ से १६१३ तक]

शुभचन्द्र भट्टारक विजयकीर्ति के शिष्य थे। वे अपने समय के प्रसिद्ध भट्टारक, साहित्य-प्रेमी, धम प्रचारक एव शास्त्रो के प्रबल विद्वान् थे। जब वे भट्टारक बने उस समय भट्टारक सकलकीर्ति, एव उनके पट्ट शिष्य भुवनकीर्ति, प्रशिष्य ज्ञानभूषण एव विजयकीर्ति ने अपनी सेवा, विद्वत्ता एव सास्कृतिक अभिरुचि से इतना अच्छा वातावरण बना लिया था कि इन सन्तो के प्रति जैन समाज में ही नही किन्तु जैनेतर समाज में भी अगाध श्रद्धा उत्पन्न हो चुकी थी। शुभचन्द्र ने भट्टारक ज्ञानभूषण एव भट्टारक विजयकीर्ति का शासन काल देखा था। विजयकीर्ति के तो लाडले शिष्य ही नही थे किन्तु उनके शिष्यो में सबसे अधिक प्रतिभावान् भी थे। इसलिए विजयकीति की मृत्यु के पश्चात् इन्हे ही उस समय के सबसे प्रतिष्ठित एव सम्मानित पद पर प्रतिष्ठापित किया गया।

इनका जन्म सवत् १५३०–४० के मध्य कभी हुआ होगा। ये जब बालक थे तभी से इनका इन भट्टारको से सम्पर्क स्थापित हो गया। प्रारम्भ में इन्होंने अपना समय सस्कृत एव प्राकृत भाषा के ग्रन्थो के पढने में लगाया। व्याकरण एव छन्दशास्त्र में निपुणता प्राप्त की और फिर भट्टारक ज्ञानभूषण एव भटटारक विजयकीर्ति के सान्निध्य में रहने लगे। श्री वी पी जोहरापुरकर के मतानुसार ये सवत् १५७३ में भट्टारक बने।[१] और वे इसी पद पर सवत् १६१३ तक रहे। इस तरह शुभचन्द्र ने अपने जीवन का अधिक भाग भट्टारक पद पर रहते हुए ही व्यतीत किया। बलात्कारगण की ईडर शाखा की गद्दी पर इतने समय तक सम्भवत ये ही भटटारक रहे। इन्होंने अपनी प्रतिष्ठा एव पद का खूब अच्छी तरह सदुपयोग किया और इन ४० वर्षो में राजस्थान, पजाब, गुजरात एव उत्तरप्रदेश में भगवान् महावीर के शासन का जबरदस्त प्रभाव स्थापित किया।

भट्टारक बनने के पश्चात् इनकी कीर्ति चारो ओर व्याप्त हो गयी। राजस्थान के अतिरिक्त इन्हें गुजरात, महाराष्ट्र, पजाब एव उत्तर प्रदेश के अनेक गाँव एव नगरो से निमन्त्रण मिलने लगे। जनता इनके श्रीमुख से धर्मोपदेश सुनने को अधीर हो उठती इसलिए ये जहाँ भी जाते भक्तजनो के पलक पावडे बिछ जाते। इनकी वाणी में

---

१ देखिए, भट्टारक सम्प्रदाय, , सख्या १५८।

आकर्षण था इसलिए एक ही बार के सम्पर्क मे वे किसी भी अच्छे व्यक्ति को अपना भक्त बनाने में समथ हो जाते। ये अपने साथ ग्रन्थो के ढेर के ढेर एव लेखन सामग्री रखते। नवीन साहित्य के निर्माण में इनकी अधिक रुचि थी। इनकी विद्वत्ता से मुग्ध होकर भक्तजन इनसे ग्रन्थ निर्माण के लिए प्राथना करते और ये उनके आग्रह से उसे पूरा करने का प्रयत्न करते। अपने शिष्यो द्वारा ये ग्रन्थो की प्रतिलिपिया करवाते और फिर उन्हे शास्त्र भण्डारो में विराजमान करने के लिए अपने भक्तो से आग्रह करते। सवत् १५९० में ईडर नगर के हूँबड जातीय श्रावको ने ब्र तेजपाल के द्वारा पुण्यास्त्रव कथाकोश की प्रति लिखवाकर इन्हे भेंट की थी। सवत् १५९९ में डूँगरपुर के आदिनाथ चैत्यालय में इन्ही के उपदेश से अगप्रज्ञप्ति की प्रतिलिपि करवाकर विराजमान की गयी थी। चन्दना चरित को इन्होने वाग्वर (बागड) में निबद्ध किया और कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका को सवत् १६१३ में सागवाडा में समाप्त की। इसी तरह सवत् १६१७ में पाण्डव-पुराण को हिसार (पजाब) में निबद्ध किया गया। इन्होने देश के सभी भागो मे विहार किया और देश एव समाज में धम के प्रति निष्ठा उत्पन्न की।

विद्वत्ता

शुभचन्द्र शास्त्रो के पूर्ण ममज्ञ थे। ये षट्भाषा कवि-चक्रवर्ती कहलाते थे। छह भाषाओ मे सम्भवत सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश, हिन्दी गुजराती एव राजस्थानी भाषाएँ थी। ये त्रिविध विद्याधर (शब्दागम, युक्त्यागम एव परम्परागम) के ज्ञाता थे। पट्टावलि के अनुसार ये प्रमाण परीक्षा, पत्र परीक्षा, पुष्प परीक्षा (?) परीक्षा-मुख, प्रमाणनिणय, न्यायमकरन्द, न्यायकुमुदचन्द्र, न्यायविनिश्चय, श्लोकवार्तिक, राजवार्तिक, प्रमेयकमल-मात्तण्ड, आप्तमीमासा, अष्टसहस्री, चिन्तामणिमीमासा, विवरण वाचम्पति, तत्त्व कौमुदी आदि न्याय ग्रन्थो के, जैनेन्द्र, शाकटायन, ऐन्द्र, पाणिनी, कलाप आदि व्याकरण ग्रन्थो के, त्रैलोक्यसार, गोम्मट्टसार, लब्धिसार, क्षपणासार, त्रिलोकयप्रज्ञप्ति, सुविज्ञप्ति, अध्यात्माष्ट-सहस्री (?) और छन्दोलकार आदि महाग्रन्थो के पारगामी विद्वान् थे।[1]

शिष्य परम्परा

भट्टारको के सघ में कितने ही मुनि, ब्रह्मचारी, साध्वियाँ तथा विद्वान्-गण रहा करते थे। इसलिए इनके सघ मे भी कितने ही साधु थे जिनमें सकलभूषण, ब्र तेजपाल, वर्णी क्षेमचन्द्र, सुमतिकीर्ति, श्री भूषण आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। आचार्य सकलभूषण ने अपने उपदेश रत्नमाला में भट्टारक शुभचन्द्र का नाम बडे ही आदर के साथ लिया है और अपने आपको उनका शिष्य लिखने में गौरव का अनुभव किया है। यही नही करकण्डुचरित्र को तो शुभचन्द्र ने सकलभूषण की सहायता से ही समाप्त किया था। वर्णी श्रीपाल ने इन्हें पाण्डवपुराण की रचना मे सहायता की थी जिसका

---

१ देखिए, नाथूरामजी प्रेमी कृत—जैन साहित्य और इतिहास, पृ स ३८३।

उल्लेख शुभचन्द्र ने पाण्डवपुराण[1] की प्रशस्ति में सुन्दर ढग से किया है।

भट्टारक वीरचन्द्र ने अपनी कृति नेमिकुमारराय मे शुभचन्द्र की विद्वत्ता, वक्तृत्वकला एव तपस्या की अत्यधिक प्रशसा की है। जिससे ऐसा लगता है कि शुभचन्द्र अपने समय के भट्टारक शिरोमणि थे।[2]

प्रतिष्ठा समारोहो का सचालन

अन्य भट्टारको के समान इन्होने भी कितनी ही प्रतिष्ठा-समारोहो में भाग लिया और वहा होनेवाले प्रतिष्ठा विधानो को सम्पन्न कराने मे अपना पूण योग दिया। भट्टारक शुभचन्द्र द्वारा प्रतिष्ठित आज भी कितनी ही मूर्तियाँ उदयपुर, सागवाडा, डूँगरपुर, जयपुर आदि मन्दिरो मे विराजमान है। पचायतो की ओर से ऐसे प्रतिष्ठा समारोहो मे सम्मिलित होने के लिए इन्हे विधिवत् निमन्त्रण-पत्र मिलते थे। और वे सघ सहित प्रतिष्ठाओ मे जाते तथा उपस्थित जनसमुदाय को धर्मोपदेश का पान कराते। ऐसे ही अवसरो पर ये अपने शिष्यो का कभी-कभी दीक्षा समारोह भी मनाते जिससे साधारण जनता भी साधु जीवन की ओर आकर्षित होती। सवत् १६०७ में इन्ही के उपदेश से पचपरमेष्ठी की मूर्ति की स्थापना की गयी थी।[3]

इसी समय की प्रतिष्ठापित एक ११½" × ३०" अवगाहनावाली नन्दीश्वर द्वीप के चैत्यालयो की प्रतिमा जयपुर के लश्कर के मन्दिर में विराजमान है। यह प्रतिष्ठा सागवाडा में स्थित आदिनाथ के मन्दिर में महाराजाधिराज श्री आसकरण के शासन काल में हुई थी। इसी तरह सवत् १५८१ में इन्ही के उपदेश से हूँबड जातीय श्रावक साह हीरा राजू आदि ने प्रतिष्ठा महोत्सव सम्पन्न करवाया था।[4]

१ शिष्यस्तस्य समृद्धिबुद्धिविशदो यस्तर्कवेदीवरो,
वैराग्यादिविशुद्धिवृन्दजनक श्रीपालवर्णी महान्।
सशोध्याखिलपुस्तक वरगुणं सत्पाण्डवानामिद
तेनालेखि पुराणमर्थनिकर पूर्वं वरे पुस्तके ॥

२ तप कुलि कमल प्रकासीउ भट्टारक शुभचन्द्र सूरि।
वाणीइ सुर नर मोहीआ, कुमती नाण दूरि ॥८॥
सु कहता सुभ कीर्ति जे जेहनी दोनी विदेसी
विसांत मद गज भजनो, रजनों राय नरेस ॥९॥
भ कहितां भक्ति करी, जिणवर तणी सचंग।
सास्त्र सीधांत रचि घणा मनि बहु धाणी चग ॥१०॥
च किहिता जे चन्द्रमा जयम कमलनो करि विकास।
सरय धर्मामृत उपदेशिसे, छोडवि ससार पास ॥११॥
द्र कहिता क्व द्रव्यन करि ते सरस बखांण।
भट्टारक भव भव हरि श्री शुभचन्द्र सुजाण ॥१२॥

३ सम्वत् १६०७ वर्षे वैशाख वदी २ गुरु श्री मूलसघे भ श्री शुभचन्द्र गुरूपदेशात् हूँबड सखेश्वरा गोत्रे सा जिना। —भट्टारक सम्प्रदाय—पृ स १४५।

४ सम्वत् १६८१ वर्ष पौष वदी १३ शुक्रे श्री मूलसघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ श्री ज्ञानभूषण तत्पट्टे श्री भ विजयकीर्ति तत्पट्टे भट्टारक श्री शुभचन्द्र गुरूपदेशात् हूबड जाति साह हीरा भा राजू सुत स तारा द्वि भार्या पोई सुत स माका भार्या हीरा दे भा नारग दे भ्रा रत्नपाल भा विराला दे सुत रखभदास नित्य प्रणमति।

साहित्यिक सेवा

शुभचन्द्र ज्ञान के सागर एव अनेक विद्याओ मे पारगत विद्वान् थे। वे वक्तृत्व-कला में पटु तथा आकषक व्यक्तित्ववाले सन्त थे। इन्होने जो साहित्य सेवा अपने जीवन मे की थी वह इतिहास मे स्वर्णाक्षरो में लिखने योग्य है। अपने सघ की व्यवस्था तथा धर्मोपदेश एव आत्मसाधना के अतिरिक्त जो भी समय इन्हे मिला उसका साहित्य-निर्माण में ही सदुपयोग किया गया। वे स्वय ग्रन्थो का निर्माण करते, शास्त्र भण्डारो की सम्हाल करते, अपने शिष्यो से प्रतिलिपियाँ करवाते तथा जगह-जगह शास्त्रागार खोलने की व्यवस्था कराते थे। वास्तव में ऐसे ही सन्तो के सत्प्रयास से भारतीय साहित्य सुरक्षित रह सका है।

पाण्डवपुराण इनकी सवत् १६०८ की कृति है। उस समय साहित्यिक-जगत् मे इनकी ख्याति चरमोत्कष पर थी। समाज में इनकी कृतियाँ प्रिय बन चुकी थी और उनका अत्यधिक प्रचार हो चुका था। सवत् १६०८ तक जिन कृतियो को इन्होने समाप्त कर लिया था[1] उनमें (१) चन्द्रप्रभ चरित्र (२) श्रेणिक चरित्र (३) जीवन्धर चरित्र (४) चन्दना कथा (५) अष्टाह्लिका कथा (६) सद्वत्तिशालिनी (७) तीन चौबीसी पूजा (८) सिद्धचक्र पूजा (९) सरस्वती पूजा (१०) चिन्तामणिपूजा (११) कमदहन पूजा (१२) पाश्वनाथ काव्य पजिका (१३) पल्व व्रतोद्यापन (१४) चारित्र शुद्धिविधान (१५) सशयवदन विदारण (१६) अपशब्द खण्डन (१७) तत्त्व निणय (१८) स्वरूप सम्बोधन वृत्ति (१९) अध्यात्म तरगिणी (२०) चिन्तामणि प्राकृत व्याकरण (२१) अग-प्रज्ञप्ति आदि के नाम उल्लेखनीय है। उक्त साहित्य भट्टारक शुभचन्द्र के कठोर परिश्रम एव त्याग का फल है। इसके पश्चात् इन्होने और भी कृतियाँ लिखी।[2] सस्कृत रचनाओ के अतिरिक्त इनकी कुछ रचनाएँ हिन्दी में भी उपलब्ध होती है। लेकिन कवि ने पाण्डव-पुराण मे उनका कोई उल्लेख नही किया है। राजस्थान के प्राय सभी ग्रन्थ भण्डारो में इनकी अबतक जो कृतियाँ उपलब्ध हुई हैं वे निम्न प्रकार हैं।

सस्कृत रचनाएँ

१	ऋषिमण्डल पूजा—राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारो की ग्रन्थसूची-पचम भाग, पृष्ठ सख्या		७८७
२	अनन्त व्रत पूजा	,,	१००७
३	अम्बिका कल्प	,,	४२६
४	अष्टाह्निका व्रतकथा	,,	९८५

१ सवत १५८१ वष पौष वदी १३ शुक्रे श्री मूलसघ सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ श्री ज्ञानभूषण तत्पट्टे भ श्री शुभचन्द्र गुरूपदेशात् हूबड जाति साह हीरा भा राजू सुत स तारा द्वि भार्या पोई सुत स माका भार्या हीरा दे भा नारंग दे भ्रा रत्नपाल भा विराला दे सुत रखभदास नित्य प्रणमति।

२ विस्तृत प्रशस्ति के लिए देखिए, लेखक द्वारा सम्पादित सग्रह, प स ७।

५ अष्टाह्निका पूजा
६ अढाई द्वीप पूजा
७. करकण्डु चरित्र
८ कमदहन पूजा
९ कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका
१० गणधरवलय पूजा
११ गुरावली पूजा
१२ चतुर्विंशति पूजा
१३ चन्दना चरित्र
१४ चन्दनषष्टिव्रत पूजा
१५ चन्द्रप्रभचरित्र
१६ चरित्र शुद्धि विधान
१७ चिन्तामणि पाश्वनाथ पूजा
१८ जीवन्धर चरित्र
१९ तेरह द्वीप पूजा
२० तीन चौबीसी पूजा
२१ तीस चौबीसी पूजा
२२ त्रिलोक पूजा
२३ त्रेपनक्रियागति
२४ नन्दीश्वर पक्ति पूजा
२५ पचकल्याणक पूजा
२६ पचगुणमाल पूजा
२७ पचपरमेष्ठी पूजा
२८ पल्यव्रतोद्यापन
२९ पाण्डवपुराण
३० पाश्वनाथ काव्य पजिका
३१ प्राकृत लक्षण टीका
३२ पुष्पाजलिव्रत पूजा
३३ प्रद्युम्न चरित
३४ बारह सौ चौतीस व्रत पूजा
३५ लघुसिद्ध चक्र पूजा
३६ बृहद् सिद्ध पूजा
३७ श्रेणिकचरित्र
३८ समयसार टीका

३९ सहस्रगुणितपूजा

४० सुभाषिताणव

हिन्दी रचनाएँ

१ तत्त्वसार कथा
२ दान छन्द
३ गुरु छन्द
४ महावीर छन्द
५ नेमिनाथ छन्द
६ विजयकीर्ति छन्द
७ अष्टाह्निका गीत

उक्त सूची के आधार पर निम्न तथ्य निकाले जा सकते है—

१ कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका, सज्जन चित्त वल्लभ, अम्बिका कल्प, गणधर वलय पूजा, चन्दनषष्टिव्रतपूजा, तेरहद्वीप पूजा, पच कल्याणक पूजा, पुष्पाजलि व्रत पूजा, सार्द्धद्वयद्वीप पूजा एव सिद्धचक्र पूजा आदि सवत् १६०८ के पश्चात् अर्थात् पाण्डवपुराण के बाद की कृतियाँ है।

२ सद्वृत्तिशालिनी, सरस्वती पूजा, सशय-वदन विदारण, अपशब्दखण्डन, तत्त्वनिणय, स्वरूपसम्बोधनवृत्ति एव अगप्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थ अभी तक राजस्थान के किसी भण्डार में उपलब्ध नही हो सके है।

३ हिन्दी रचनाओ का कवि द्वारा उल्लेख नही किया जाना इन रचनाओ का विशेष महत्त्व की कृतियाँ नही होना बतलाया जाता है क्योकि गुरु छन्द एव विजयकीर्ति छन्द तो कवि की उस समय की रचनाएँ मालूम पडती है जब विजयकीर्ति का यश उत्कष पर था।

इस प्रकार भट्टारक शुभचन्द्र १६–१७वी शताब्दी के यशस्वी भट्टारक थे जिनकी कीर्ति एव प्रशसा में जितना भी कहा जाये वही अल्प होगा। ये साहित्य के कल्पवृक्ष थे जिससे जिसने जिस प्रकार का साहित्य माँगा वही उसे मिल गया। वे सरल स्वभावी एव व्युत्पन्नमति सन्त थे। भक्तजनों के सिर इनके पास जाते ही स्वत ही श्रद्धा से झुक जाते थे। सकलकीर्ति के सम्प्रदाय के भट्टारको में इतना अधिक साहित्योपासक भट्टारक कभी नही हुआ। जब वे कही विहार करते तो सरस्वती स्वय उनपर पुष्प बखेरती थी। भाषण करते समय ऐसा प्रतीत होता था मानो दूसरे गणधर ही बोल रहे हो।

१ करकण्डु चरित्र

करकण्डु राजा का जीवन इस काव्य की मुख्य कथावस्तु है। यह एक प्रबन्ध काव्य है जिसमें १५ सग है। इसकी रचना सवत् १६६१ में जवालपुर मे समाप्त हुई थी। उस नगर के आदिनाथ चैत्यालय में कवि ने इसकी रचना की। सकलभूषण जो

इस रचना में सहायक थे शुभचन्द्र के प्रमुख शिष्य थे और उनकी मृत्यु के पश्चात सकलभूषण को ही भट्टारक पद पर सुशोभित किया गया था। रचना पठनीय एव सुन्दर है।

२ अध्यातमतरगिणी

आचार्य कुन्दकुन्द का समयसार अध्यात्म विषय का उत्कृष्ट ग्रन्थ माना जाता है। जिस पर सस्कृत एव हिन्दी में कितनी ही टीकाएँ उपलब्ध होती है। अध्यात्म-तरगिणी सवत १५७३ की रचना है जो आचार्य अमृतचन्द्र के समयसार के कलशो पर आधारित ह। यह रचना कवि की प्रारम्भिक रचनाओ में से है। ग्रन्थ की भाषा क्लिष्ट एव समासबहुल है। लेकिन विषय का अच्छा प्रतिपादन किया गया है। ग्रन्थ का एक पद्य देखिए—

> जयतु जितविपक्ष पालिताशेषशिष्यो
> विदितनिजस्वतत्त्वश्चोदितानिकसत्त्व ।
> अमृतविधुयतीश कुन्दकुन्दो गणेश
> श्रुतसुजिनविवाद स्याद्विवादाधिवाद ॥

इसकी एक प्रति कामा के शास्त्र भण्डार में सग्रहीत है। प्रति १०" × ४½" आकार की है तथा जिसमें १३० पत्र है। यह प्रति सवत् १७९५ पौष वदी १ शनिवार की लिखी हुई है।

३ कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका

प्राकृत भाषा में निबद्ध स्वामी कार्तिकेय की 'बारस अणुपेक्खा' एक प्रसिद्ध कृति है। इसमें आध्यात्मिक रस कूट-कूटकर भरा हुआ है। तथा ससार की वास्तविकता का अच्छा चित्रण मिलता है। इसी कृति की सस्कृत टीका भट्टारक शुभचन्द्र ने लिखी जिससे इसके अध्ययन, मनन एव चिन्तन का समाज मे और भी अधिक प्रचार हुआ। इस ग्रन्थ को लोकप्रिय बनाने मे इस टीका को भी काफी श्रेय रहा। टीका करने में इन्हें अपने शिष्य सुमतिकीर्ति से सहायता मिली जिसका इन्होने ग्रन्थ प्रशस्ति में साभार उल्लेख किया हैं।[1] ग्रन्थ रचना के समय कवि हिसार (हरियाणा) नगर में थे और इसे इन्होने सवत् १६०० माघ सुदी ११ के दिन समाप्त की थी।[2]

---

१ तदन्वये श्रीविजयादिकीर्ति तत्पट्टधारी शुभचन्द्रदेव ।
तेनेयमाकारि विशुद्धटीका श्रीमत्सुमत्यादिसुकीर्तिकीर्ते ॥४५॥

२ श्रीमत् विक्रमभूपते परमिते वर्षे शते षोडशे,
माघे मासिदशाग्रवह्निमहिते ख्याते दशम्या तिथौ ।
श्रीमच्छ्रीमहीसार-सार नगरे चैत्यालये श्रीपुरो ।
श्रीमच्छ्रीशुभचन्द्रदेवविहिता टीका सदा नन्दतु ॥५॥

अपनी शिष्य परम्परा में सबसे अधिक व्युत्पन्नमति एव शिष्य वर्णी क्षीमचन्द्र के आग्रह से इसकी टीका लिखी गयी थी।[1] टीका सरल एव सुन्दर है तथा गाथाओ के भावो की ऐसी व्याख्या अन्यत्र मिलना कठिन है। ग्रन्थ में १२ अधिकार है। प्रत्येक अधिकार में एक-एक भावना का वणन है।

४ जीवन्धर चरित्र

यह इनका प्रबन्ध काव्य है जिसमें जीवन्धर के जीवन पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। काव्य में १३ सग है। कवि ने जीवन्धर के जीवन को धमकथा के नाम से सम्बोधित किया है। इसकी रचना सवत् १६०३ मे समाप्त हुई थी। इस समय शुभचन्द्र किसी नवीन नगर में विहार कर रहे थे। नगर में चन्द्रप्रभ जिनालय था और उसी में एक समारोह के साथ इस काव्य की समाप्ति की थी।[2]

५ चन्द्रप्रभ चरित्र

चन्द्रप्रभ आठवें तीथकर थे। इन्ही के पावन चरित्र का कवि ने इस काव्य के १२ सर्गों मे वणन किया है। काव्य के अन्त में कवि ने अपनी लघुता प्रदर्शित करते हुए लिखा है कि न तो वह छन्द अलकारो से परिचित है और न काव्य शास्त्र के नियमो में पारगत है। उसने न जैनेन्द्र व्याकरण पढा है, न कलाप एव शाकटायन व्याकरण देखी है। उसने त्रिलोकसार एव गोम्मटसार-जैसे महान् ग्रन्थो का अध्ययन भी नही किया है। किन्तु रचना भक्तिवश की गयी है।

६ चन्दना चरित्र

यह एक कथा काव्य है जिसमें चन्दना के पावन एव उज्ज्वल जीवन का वर्णन किया गया है। इसके निर्माण के लिए कितने ही शास्त्रो एव पुराणो का अध्ययन करना पडा था। एक महिला के जीवन को प्रकाश में लानेवाला यह सम्भवत प्रथम काव्य है। काव्य में पाँच सर्ग है। रचना साधारणत अच्छी है तथा पढने योग्य है। इसकी रचना बागड प्रदेश के डूँगरपुर नगर में हुई थी।

हिन्दी कृतियाँ

१ महावीर छन्द

यह महावीर स्वामी के स्तवन के रूप में है। पूरे स्तवन में २७ पद्य है। स्तवन की भाषा सस्कृत-प्रभावित है तथा काव्यत्व पूर्ण है। आदि और अन्तिम भाग देखिए—

---

१ वर्णी श्रीक्षीमचन्देण विनयेन कृतप्रार्थना।
शुभचन्द्र गुरो स्वामित् कुरु टीकां मनोहराम् ॥६॥

२ श्रीमद्द विक्रम भूपतेर्वसुहतद्वैते शते सप्तह
वेदैन्यूनतरे समे शुभतरेऽपि मासे वरे च शुचौ।
वारे गोष्पतिके त्रयोदशतिथौ सन्नूतने पत्तने
श्री चन्द्रप्रभधाम्नि वै विरचित चेद मया तोषयत ॥७॥

आदि भाग

प्रणमीय वीर विवुह जण रे जण, भदमई मान महाभय भजण ।
गुण गण वणन करीय बखाणु, यतो जण योगीय जीवन जाणु ।।
मेह गेह गुह देश विदेहह, कुडलपुर वर पुहवि सुदेहह ।
सिद्धि वृद्धि वर्द्धक सिद्धारथ, नरवर पूजित नरपति सारथ ।।

अन्तिम भाग

सिद्धारथ सुत सिद्धि वद्धि वाछित वरदायक,
प्रियकारिणी वर पुत्र सप्तहस्तोन्नत कायक ।
द्वासप्तति वर वर्ष आयु सिहाकसु मडित,
चामीकर वर वर्ण शरण गोतम यती मडित ।
गर्भ दोष दूषण रहित शुद्ध गभ कल्याण करण,
'शुभचन्द्र' सूरि सेवत सदा पुहवि पाप पकह हरण ।।

२ विजयकीर्ति छन्द

यह कवि की ऐतिहासिक कृति है। कवि द्वारा जिसमें अपने गुरु 'भट्टारक विजयकीर्ति की प्रशसा में उक्त छन्द लिखा गया है। इसमें २९ पद्य है—जिसमें भट्टारक विजयकीर्ति को कामदेव ने किस प्रकार पराजित करना चाहा और उसमें उसे स्वय को किस प्रकार मुँह की खानी पडी इसका अच्छा वणन दे रखा है। जैन साहित्य मे ऐसी बहुत कम कृतियाँ है जिनमें किसी एक सन्त के जीवन पर कोई रूपक काव्य लिखा गया हो।

रूपक काव्य की भाषा एव वणन शैली दोनो ही अच्छी है। इसके नायक हैं 'भट्टारक विजयकीर्ति' और प्रतिनायक कामदेव है। मत्सर, मद, माया, सप्तव्यसन आदि कामदेव की सेना के सैनिक थे तथा क्रोध, मान, माया और लोभ उसकी सेना के नायक थे। 'भट्टारक विजयकीर्ति' कब घबरानेवाले थे, उन्होने शम, दम एव यम की सेना को उनसे भिडा दिया। जीवन में पालित महाव्रत उनके अगरक्षक थे तब फिर किसका साहस था जो उन्हें पराजित कर सकता था। अन्त में इस लडाई मे कामदेव बुरी तरह पराजित हुआ और उसे वहाँ से भागना पडा—

भागो रे मयण जाई अनग वेगि रे थाई ।
पिसिर मनर माहि मुकरे ठाम ।
रीति र पायरि लागी मुनि काहने वर मागी,
दुखि र काटि र जागी जपई नाम ।।
मयण नाम र फेडी आपणी सेना रे तेडी,
आपइ ध्यानती रेडी यतीय वरो ।

श्री विजयकीर्ति यति अभिनवो
गछपति पूरव प्रकट कीनि मुकनिकरो ॥२८॥

३ गुरु छन्द

यह भी ऐतिहासिक छन्द है जिसमें 'भट्टारक विजयकीर्ति' का गुणानुवाद किया गया है। इस छन्द से विजयकीर्ति के माता-पिता कुँअरि एव गगासहाय के नामो का प्रथम बार परिचय मिलता है। छन्द में ११ पद्य है।

४ नेमिनाथ छन्द

२५ पद्यो में निबद्ध इस छन्द में भगवान् नेमिनाथ के पावन जीवन का वणन किया गया है। इसकी भाषा भी सस्कृतनिष्ठ है। विवाह में किस प्रकार आभूषणो एव वाद्ययन्त्रो के शब्द हो रहे थे—इसका एक वर्णन देखिए—

तिहा तड तडई तब लीय ना दिन वलीय भेद भभा बजाई
भकारि रूडि सहित चूडी भेर नादह गज्जई।
झण झणण करती टणण धरती सद्ध बोल्लई भल्लरी।
घूम घूमक करती कण हरती एहवज्जि सुन्दरी ॥१८॥
तण तणण टका नाद सुन्दर ताति मन्दर वण्णिया
धम घमह नादि धणण करती घुग्घरी सुहकारीया।
झुझुक बोलइ सिद्धि सोहइ एह भुगल सारय।
कण कणण क्रो को नादि वादि सुद्ध सादि रम्भण ॥१९॥

५ दान छन्द

यह एक लघु पद है, जिसमें कृपणता की निन्दा की प्रशसा की गयी है। इसमे केवल २ पद्य है।

उक्त सभी पाँचो कृतियाँ दिगम्बर जैन मन्दिर, पाटोदी, जयपुर के शास्त्र भण्डार के एक गुटके मे सग्रहीत है।

६ तत्त्वसार दूहा :

'तत्त्वसार दूहा' की एक प्रति कुछ समय पूर्व जयपुर के ठोलियो के मन्दिर के शास्त्र भण्डार में उपलब्ध हुई थी। रचना में जैन सिद्धान्त के अनुसार सात तत्त्वो का वणन किया गया है। इसलिए यह एक सैद्धान्तिक रचना है। तत्त्वो के अतिरिक्त साधारण जनता की समझ में आ सकनेवाले अन्य कितने ही विषयो को कवि ने अपनी इस रचना में लिया है। १६वी शताब्दी में ऐसी रचनाओ के अस्तित्व से प्रकट होता है कि उस समय हिन्दी भाषा का अच्छा प्रचलन था। तथा काव्य, कथाचरित, फागु,

बेलि आदि काव्यात्मक विषयो के अतिरिक्त सैद्धान्तिक विषयों पर भी रचनाएँ प्रारम्भ हो गयी थी।

'तत्त्वसार दूहा' मे ९१ दोहे एव चौपाई है। भाषा पर गुजराती का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है, क्योकि भट्टारक शुभचन्द्र का गुजरात से पर्याप्त सम्पर्क था। यह रचना 'दुलहा' नामक श्रावक के अनुरोध से लिखी गयी थी। कवि ने उसके नाम का कितने ही पद्यो में उल्लेख किया है—

रोग रहित सगति सुखी रे, सम्पदा पूरण ठाण।
धम बुद्धि मन शुद्धडी, 'दूल्हा' अनुक्रमि जाण ।।९।।

तत्त्वो का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि जिनेन्द्र ही एक परमात्मा हैं और उनकी वाणी ही सिद्धान्त है। जीवादि सात तत्त्वो पर श्रद्धान करना ही सच्चा सम्यग्दशन है।

देव एक जिनदेव रे, आगम जिन सिद्धान्त।
तत्त्व जीवादिक सद्धहण, होइ सम्मत अभ्रान्त ।।१७।।

मोक्ष तत्त्व का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है—

कर्म कलक विकरनो रे, नि शेष होयि नाश।
मोक्ष तत्त्व श्री जिनकही, वाणवा भानु अन्यास ।।२६।।

आत्मा का वणन करते हुए कवि ने कहा है कि किसी की आत्मा उच्च अथवा नीच नही है, कर्मों के कारण ही उसे उच्च एव नीच की सज्ञा दी जाती है और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्र के नाम से सम्बोधिन किया जाता है। आत्मा तो राजा है—वह शूद्र कैसे हो सकती है।

उच्च नीच नवि अप्पा हुयि, कर्म कलक तणो की तु सोई।
बभण क्षत्रिय वैश्य न शूद्र, अप्पा राजा नवि होय शुद्र ।।७।।

आत्मा की प्रशसा में कवि ने आगे भी लिखा है—

अप्पा धनी नवि नवि निधन्न, नवि दुर्बल नवि अप्पा धन्न।
मूख हृष द्वेष नविने जीव, नवि सुखी नवि दुखी अतीव ।।७१।।
सुक्ख अनन्त बल वली, रे अनन्त चतुष्टय ठाम।
इन्द्रिय रहित मनो रहित, शुद्ध चिदानन्द नाम ।।७७।।

रचना काल

कवि ने अपनी यह रचना कब समाप्त की थी—इसका उसने कोई उल्लेख नही किया है, लेकिन सम्भवत ये रचनाएँ उनके प्रारम्भिक जीवन की रचनाएँ रही हो। इसलिए इन्हे सोलहवी शताब्दी के अन्तिम चरण की रचना मानना ही उचित होगा।

भट्टारक रत्नकीर्ति

[सवत् १६०० से १६५६ तक]

वह विक्रमीय १७वी शताब्दी का समय था। भारत में बादशाह अकबर का शासन होने से अपेक्षाकृत शान्ति थी किन्तु बागड एव मेवाड प्रदेश में राजपूतो एव मुगल शासको में अनबन रहने के कारण सदैव ही युद्ध का खतरा तथा धार्मिक सस्थानो एव सास्कृतिक केन्द्रो के नष्ट किये जाने का भय बना रहता था। लेकिन बागड प्रदेश में भट्टारक सकलकीर्ति ने १४वी शताब्दी में धम प्रचार तथा साहित्य प्रचार की जो लहर फैलायी थी वह अपनी चरम सीमा पर थी। भटटारको, मुनियो, साधुओ, ब्रह्मचारियो एव स्त्री सन्तो का विहार होता रहता था एव वे अपने सदुपदेशो द्वारा जनमानस को पवित्र किया करते थे। गृहस्थो में उनके प्रति अगाध श्रद्धा थी एव जहाँ उनके चरण पडते थे वहाँ जनता अपनी पलके बिछाने को तैयार रहती थी। ऐसे ही समय में घोघा नगर के हूबड जातीय श्रेष्ठी देवीदास के यहा एक बालक का जन्म हुआ।[1] माता सहजलदे विविध कलाओ से युक्त बालक को पाकर फूली नही समायी। जन्मोत्सव पर नगर में विविध प्रकार के उत्सव किये गये। वह बालक बडा होनहार था, बचपन में उस बालक को किस नाम से पुकारा जाता था इसका कही उल्लेख नही मिलता।

जीवन एव कार्य

बडे होने पर वह बाल विद्याध्ययन करने लगा तथा थोडे ही समय में उसने प्राकृत एव सस्कृत ग्रन्थो का गहरा अध्ययन कर लिया। एक दिन अकस्मात् ही उसका भट्टारक अभयनन्दि से साक्षात्कार हो गया। भट्टारकजी उसे देखते ही बडे प्रसन्न हुए एव उसकी विद्वत्ता एव वाक्चातुय से प्रभावित होकर उसे अपना शिष्य बना लिया। अभयनन्दि ने पहले उसे सिद्धान्त, काव्य, व्याकरण, ज्योतिष एव आयुर्वेद आदि विषयो के ग्रन्थो का अध्ययन करवाया।[1] वह व्युत्पन्न मति था इसलिए शीघ्र ही उसने उनपर अधिकार पा लिया। अध्ययन समाप्त होने के बाद अभयनन्दि ने उसे अपना पट्ट शिष्य घोषित कर दिया। ३२ लक्षणो एव ७२ कलाओ से सम्पन्न विद्वान् युवक को कौन

---

१ हुंबड वशे विबुध विख्यात रे,
मात सेहेजलदे देवीदास राततरे।
कुँअर कलानिधि कोमल काय रे,
पद पूजो प्रेम पातक पलाय रे।

रत्नकीर्ति गीत— गणेश कृत

अपना शिष्य बनाना नही चाहेगा। सवत् १६४३ मे एक विशेष समारोह के साथ उसका महाभिषेक कर दिया गया और उसका नाम रत्नकीर्ति रखा गया। इस पद पर वे सवत १६५६ तक रहे। अत इनका काल अनुमानत सवत् १६०० से १६५६ तक माना जा सकता है।

सन्त रत्नकीर्ति उस समय पूर्ण युवा थे। उनकी सुन्दरता देखते ही बनती थी। जब वे धर्म-प्रचार के लिए विहार करते तो उनके अनुपम सौन्दर्य एव विद्वत्ता से सभी मुग्ध हो जाते थे। तत्कालीन विद्वान् गणेश कवि ने भट्टारक रत्नकीर्ति की प्रशसा करते हुए लिखा है—

अरघ शशि सम सोहे शुभ भाल रे।
वदन कमल शुभ नयन विशाल रे।
दशन दाडिम सम रसना रसाल रे।
अधर बिबीफल विजित प्रवाल रे।
कण्ठ कम्बू सम रेखा त्रय राजे रे।
कर किसलिय सम नख छवि छाज रे ॥

वे जहाँ भी विहार करते सुन्दरियाँ उनके स्वागत में विविध मगल गीत गाती। ऐसे ही अवसर पर गाये हुए गीत का एक भाग देखिए—

कमल वदन करुणालय कहीये,
कनक वरण सोहे कान्त मोरी सहीय रे।
कजल दल लोचन पापना मोचन,
कलाकार प्रगटो विख्यात मोरी सहीय रे ॥

बलसाड नगर मे सघपति मल्लिदास ने जो विशाल प्रतिष्ठा करवायी थी वह रत्नकीर्ति के उपदेश से ही सम्पन्न हुई थी। मल्लिदास हूँबड जाति के श्रावक थे तथा अपार सम्पत्ति के स्वामी थे। इस प्रतिष्ठा में सन्त रत्नकीर्ति अपने सघ सहित सम्मिलित हुए थे तथा एक विशाल जलयात्रा हुई थी जिसका विस्तृत वणन तत्कालीन कवि जयसागर ने अपने एक गीत में किया है—

जलयात्रा जुगते जाय, त्याहा माननी मगल गाय।
सघपति मल्लिदास सोहन्त, सघवेण मोहणदे कन्त।
सारी शृगार सोलसु सार, मन धरयो हरषा अपार।
च्याला जलयात्रा काजे बाजित बहु विध बाजे।

---

१ अभयनन्द पाटे उदयो दिनकर, पच्च महाव्रत धारी।
सास्त्र सिधान्त पुराण ए जो, सो तर्क वितर्क विचारी।
गोमटसार सगीत सिरोमणि, जाणे गोयम अवतारी।
साहा देवदास केरो सुत सुखकर सेजलदे उरे अवतारी।
गणेश कहे तम्हो वन्दो रे, भवियण कुमति कुसग निवारी ॥२॥

वर ढोल निशान नफेरी, दड गडी दमाम सुभेरी ।
सणाई सरूपा साद, झल्लरी कसाल सुनाद ।
बन्धूक निशाण न फाट, बोले, विरद बहु विध भाट ।
पालखी चामर शुभ छत्र, गजगामिनी नाचे विचित्र ।
घाट चुनडी कुम्भ सोहावे, चन्द्राननी ओडीने आवे ।

शिष्य-परिवार

रत्नकीर्ति के कितने ही शिष्य थे । वे सभी विद्वान् एव साहित्य-प्रेमी थे । इनके शिष्यो की कितनी ही कविताएँ उपलब्ध हो चुकी है। इनमें कुमुदचन्द्र, गणेश, जयसागर एव राघव के नाम विशेषत उल्लेखनीय है। कुमुदचन्द्र को सवत् १६५६ में इन्होने अपने पट्ट पर बिठलाया। ये अपने समय के समथ प्रचारक एव साहित्य सेवी थे। इनके द्वारा रचित पद, गीत एव अन्य रचनाएँ उपलब्ध हो चुकी है। कुमुदचन्द्र ने अपनी प्राय प्रत्येक रचना में अपने गुरु रत्नकीर्ति का स्मरण किया है। कवि गणेश ने भी इनके स्तवन में बहुत-से पद लिखे हैं—एक वणन पढिए—

वदने चन्द हरावयो सीअले जीत्यो अनग ।
सुन्दर नयणा नीरखामे, लाजा मीन कुरग ।
जुगल श्रवण शुभ सोभतारे नास्या सूकनी चच ।
अधर अरुण रँगे ओपमा, दन्त मुक्त परपच ।
जुहवा जलीणी जाणे सखी रे, अनोपम अमृत वेल ।
ग्रीवा कम्बु कोमलरी रे, उन्नत भुजनी बेल ।

इसी प्रकार इनके एक शिष्य राघव ने इनकी प्रशसा करते हुए लिखा है कि वे खान मलिक द्वारा सम्मानित भी किये गये थे—

लक्षण बत्तीस सकल अगि बहोत्तरि
खान मलिक दिये मान जी ।

कवि के रूप मे

रत्नकीर्ति को अपने समय का एक अच्छा कवि कहा जा सकता है। अभी तक इनके ३६ पद प्राप्त हो चुके हैं। पदो के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वे सन्त होते हुए भी रसिक कवि थे। अत इनके पदो का विषय मुख्यत नेमिनाथ का विरह रहा है। राजुल की तडफन से ये बहुत परिचित थे। किसी भी बहाने राजुल नेमि का दर्शन करना चाहती थी। राजुल बहुत चाहती थी कि वे (नयन) नेमि के आगमन का इन्तजार न करें लेकिन लाख मना करने पर भी नयन उनके आगमन की बाट जोहना नही छोडते—

बरज्यो न माने नयन निठोर ।
सुमिरि सुमिरि गुन भये सजल घन, उमँगी चले मति फोर ॥१॥
चचल चपल रहत नहिं रोके, न मानत जु निहोर ।
नित उठि चाहत गिरि को मारग, जेहि विधि चन्द्र चकोर ॥बरज्यो ॥२॥
तन मन धन योवन नही भावत, रजनी न भावत भोर ।
रत्नकीरति प्रभु वेगो मिलो, तुम मेरे मन के चोर ॥३॥ बरज्यो ।

एक अन्य पद में राजुल कहती है कि नेमि ने पशुओ की पुकार तो सुन ली लेकिन उसकी पुकार क्यो नही सुनी । इसलिए यह कहा जा सकता है कि वे दूसरो का दर्द जानते ही नही हैं—

सखी री नेमि न जानी पीर ।
बहोत दिवाजे आये मेरे घरि, सग लेई हलधर वीर ॥१॥ सखी री ।
नेमि मुख निरखी हरषी मनसूं, अब तो होइ मन धीर ।
तामे पसूय पुकार सुनी करी, गयो गिरिवर के तीर ॥२॥ सखी री ।
चन्दवदनी पोकारती डारती, मण्डन हार उर चीर ।
रतनकीरति प्रभु भये वैरागी, राजुल चित कियो धीर ॥३॥ सखी री ।

एक पद में राजुल अपनी सखियो से नेमि से मिलाने की प्रार्थना करती है । वह कहती है कि नेमि के बिना यौवन, चन्दन, चन्द्रमा ये सभी फीके लगते है । माता-पिता, सखियाँ एव रात्रि सभी दुख उत्पन्न करनेवाली हैं । इन्ही भावो को रत्नकीर्ति के एक पद में देखिए—

सखि ! को मिलावे नेम नरिंदा ।
ता बिन तन मन योवन रजत है, चारु चन्दन अरु चन्दा ॥१॥ सखि ।
कानन भुवन मेरे जीया लागत, दु सह मदन को फन्दा ।
तात मात अरु सजनी रजनी, वे अति दु ख को कन्दा ॥२॥ सखि ।
तुम तो शकर सुख के दाता, करम अति काए मन्दा ।
रतनकीरति प्रभु परम दयालु, सेवत अमर नरिन्दा ॥३॥ सखि ।

अन्य रचनाएँ

इनकी अन्य रचनाओ मे नेमिनाथ फाग एव नेमिनाथ बारहमासा के नाम उल्लेखनीय हैं । नेमिनाथ फाग में ५७ पद्य हैं । इसकी रचना हाँसोट नगर में हुई थी । फाग में नेमिनाथ एव राजुल के विवाह, पशुओ की पुकार सुनकर विवाह किये बिना ही वैराग्य धारण कर लेना और अन्त में तपस्या करके मोक्ष जाने की अति सक्षिप्त कथा दी हुई है । राजुल की सुन्दरता का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है—

चन्द्रवदनी मृगलोचनी, मोचनी खजन मोन ।
वासग जीत्यो वेणिइ, श्रेणिय मधुकर दीन ।
युगल गल दाये शशि, उपमा नाशा कीर ।
अधर विद्रुम सम उपता, दन्तन निमल नीर ।
चिबुक कमल पर पट पद, आनन्द करे सुधापान ।
ग्रीवा सुन्दर सोभती, कम्बु कपोतने वान ॥१२॥

नेमिबारहमासा इनकी दूसरी बडी रचना ह । इसमे १२ त्रोटक छन्द ह । कवि ने इसे अपने जन्मस्थान घोघा नगर में चैत्यालय मे लिखी थी । रचनाकाल का उल्लेख नही दिया गया है । इसमे राजुल एव नेमि के १२ महीने किस प्रकार व्यतीत होते हैं यही वणन करना रचना का मुख्य उद्देश्य है ।

अब तक कवि की ६ रचनाएँ एव ३८ पदो की खोज की जा चुकी है ।

इस प्रकार सन्त रत्नकीर्ति अपने समय के प्रसिद्ध भटटारक एव साहित्य-सेवी विद्वान् थे । इनके द्वारा रचित पदो की प्रथम पक्ति निम्न प्रकार है—

१ सारग ऊपर सारग सोहे सारगत्यासार जी
२ सुण रे नेमि सामलीया साहेब क्यो बन छोरी जाय
३ सारग सजी सारग पर आवे
४ वृषभ जिन सेवो बहु प्रकार
५ सखी री सावन घटाई सतावे
६ नेम तुम कैसे चले गिरिनार
७ कारण कोउ पीया को न जाणे
८ राजुल गेह नेमी जाय
९ राम सतावे रे मोही रावन
१० अब गिरी वरज्यो न माने मारो
११ नेमि तुम आयो धरिय धरे
१२ राम कहे अवर जया मोही मारी
१३ दशानन वीनती कहत हाइ दास
१४ बरज्यो न माने नयन निठोर
१५ झीलते कहा करयो यदुनाथ
१६ सरदी की रयनि सुन्दर सोहात
१७ सुन्दरी सकल सिंगार करे गोरी
१८ कहा थे मडन करु कजरा नैन भरु
१९ सुनो मेरी सयनी धन्य या रयनी रे
२० रथडी नीहालती रे पूछति सहे सावन नी बाट
२१ सखी को मिलावो नेम नरिन्दा

२२ सखी री नेम न जानी पीर
२३ वन्देह जनता शरण
२४ श्रीराग गावत सुर किन्नरी
२५ श्रीराग गावत सारगधरी
२६ आजु आली आये नेम नो साउरी
२७ बली बन्धो का न बरज्यो अपनो
२८ आजो रे सखि सामलियो बहालो रथि परि रूडो भावे रे
२९ गोखि चडी जू ए रायुल राणी नेमिकुवर वर आवे रे
३० आवो सोहामणी सुन्दरी वृन्द रे पूजिये प्रथम जिणद रे
३१ ललना समुद्र विजय सुत साम सरे यदुपति नेमकुमार हो
३२ सुखि सखि राजुल कहे हैडे हरष न माय लाल रे
३३ सशधर बदन सोहामणि रे, गजगामिनी गुणमाल रे
३४ वणारसी नगरी नो राजा अश्वसेन गुणधार
३५ श्रीजिन सनमति अवतर्या ना रगी रे
३६ नेम जी दयालुडारे तू तो यादव कुल सिणगार
३७ कमल वदन करुणा निलय
३८ सुदर्शन नाम के मै वारि

अन्य कृतियाँ

३९ महावीर गीत
४० नेमिनाथ फागु
४१ नेमिनाथ का बारहमासा
४२ सिद्ध धूल
४३ बलिभद्रनी वीनती
४४ नेमिनाथ वीनती

मूल्याकन

भट्टारक रत्नकीर्ति दिगम्बर जैन कवियो मे प्रथम कवि है जिन्होने इतनी अधिक सख्या में हिन्दी पद लिखे हैं। ऐसा मालूम पडता है कि उस समय कबीरदास, सूरदास एव मीरा के पदों का देश में पर्याप्त प्रचार हो गया था और उन्हे अत्यधिक चाव से गाया जाता था। इन पदो के कारण देश में भगवद् भक्ति की ओर लोगो का स्वत ही झुकाव हो रहा था। ऐसे समय मे जैन साहित्य में इस कमी की पूर्ति के लिए भट्टारक रत्नकीर्ति ने इस दिशा में प्रयास किया और अध्यात्म एव भक्तिपरक पदो के साथ-साथ विरहात्मक पद भी लिखे और पाठको के समक्ष राजुल के जीवन को एक नये रूप

मे प्रस्तुत किया। ऐसा लगता है कि कवि राजुल एव नेमिनाथ की भक्ति मे अधिक रुचि रखते थे इसलिए उन्होने अपनी अधिकाश कृतियाँ इन्ही दो पर आधारित करके लिखी। नेमिनाथ गीत एव नेमिनाथ बारहमासा के अतिरिक्त अपने हिन्दी पदो में राजुल नेमि के सम्बन्ध को अत्यधिक भावपूण भाषा मे उपस्थित किया। सर्वप्रथम इन्होने राजुल को एक नारी के रूप मे प्रस्तुत किया। विवाह होने के पूव की नारी दशा को एव तोरणद्वार से लौट जाने पर नारी हृदय को खोलकर अपने पदो मे रख दिया। वास्तव मे यदि रत्नकीर्ति के इन पदो का गहरा अध्ययन किया जाये तो कवि की कृतियो मे हमे कितने ही नये चरणो की स्थापना मिलेगी। विवाह के पूव राजुल अपने पूरे श्रृगार के साथ पति की बारात देखने के लिए महल की छत पर सहेलियो के साथ उपस्थित होती है। इसके पश्चात पति के अकस्मात् वैराग्य धारण कर लेने के समाचारो से उसका श्रृगार वियोग में परिणत हो जाता है। दोनो ही वणनो को कवि ने अपने पदो मे उत्तम रीति से प्रस्तुत किया है।

भट्टारक रत्नकीर्ति की सभी रचनाएँ भाषा, भाव एव शैली सभी दृष्टियो से अच्छी रचनाएँ है। कवि हिन्दी के जबरदस्त प्रचारक थे। सस्कृत के ऊँचे विद्वान् होने पर भी उन्होने हिन्दी भाषा को ही अधिक प्रश्रय दिया और अपनी कृतियाँ इसी भाषा में लिखी। उन्होने राजस्थान के अतिरिक्त गुजरात में भी हिन्दी रचनाओ का ही प्रचार किया और इस तरह हिन्दी-प्रेमी कहलाने मे अपना गौरव समझा। यही नही, रत्नकीर्ति के सभी शिष्य-प्रशिष्यो ने इस भाषा में लिखने का उपक्रम जारी रखा और हिन्दी साहित्य को समृद्ध बनाने मे अपना पूण योग दिया।

भट्टारक कुमुदचन्द्र

बारडोली गुजरात का प्राचीन नगर है। सन् १९२१ मे यहा स्व सरदार वल्लभ भाई पटेल ने भारत की स्वतन्त्रता के लिए सत्याग्रह का बिगुल बजाया था और बाद में वही की जनता द्वारा उन्हे 'सरदार' की उपाधि दी गयी थी। आज से ३५० वष पूव भी यह नगर अध्यात्म का केन्द्र था। यहाँ पर ही सन्त कुमुदचन्द्र को उनके गुरु भट्टारक रत्नकीर्ति एव जनता ने भट्टारक-पद पर अभिषिक्त किया था। इन्होने यहाँ के निवासियो मे धार्मिक चेतना जाग्रत की एव उन्हे सच्चरित्रता, सयम एव त्यागमय जीवन अपनाने के लिए बल दिया। इन्होने गुजरात एव राजस्थान मे साहित्य, अध्यात्म एव धम की त्रिवेणी बहायी थी।

सन्त कुमुदचन्द्र वाणी से मधुर, शरीर से सुन्दर तथा मन से स्वच्छ थे। जहाँ भी उनका विहार होता जनता उनके पीछे हो जाती। उनके शिष्यो ने अपने गुरु की प्रशसा मे विभिन्न पद लिखे है। सयमसागर ने उनके शरीर को बत्तीस लक्षणो से सुशोभित, गम्भीर बुद्धि के धारक तथा वादियो के पहाड को तोडने के लिए वज्र-समान कहा है।[1] उनके दशनमात्र से ही प्रसन्नता होती थी। वे पाँच महाव्रत, तेरह प्रकार के चारित्र को धारण करनेवाले एव बाईस परीषह को सहनेवाले थे।[2] एक दूसरे शिष्य धर्मसागर ने उनकी पात्रकेशरी, जम्बूकुमार, भद्रबाहु एव गौतम गणधर से तुलना की है।[3]

उनके विहार के समय कुकुम छिडकने तथा मोतियो का चौक पूरने एव बधावा गाने के लिए भी कहा जाता था।[4] उनके एक और शिष्य गणेश ने उनके निम्न शब्दो मे प्रशसा की है—

कला बहोत्तर अग रे, सीयले जीत्यो अनग।
माहत मुनी मूलसघ के सेवो सुरतरुजी ॥

---

१ ते बहु कूँखि उपनो वीर रे, बत्तीस लक्षण सहित शरीर रे।
बुद्धि बहोत्तरि छे गंभीर रे, वादी नग खण्डन वज्र समधार रे ॥

२ पंच महाव्रत पाले चग रे, त्रयोदश चारित्र छे अभग रे।
बावीय परीसा सहे अगि रे, दरशन दीठे रग रे।

३ पात्रकेशरो सम जांणियेरे जाणों वे जम्बु कुमार रे।
भद्रबाहु यतिवर जयो, कलिकाले रे गोयम अवतार रे ॥

४ सुन्दरि रे सहु आवो, तह्ने कुकम छडो देवडावो।
वारु मोतिये चौक पूरावो, रूडा सह गुरु कुमुदचन्दने बधावे ॥

सेवो सज्जन आनन्द धनि कुमुदचन्द मुणिंद,
रतनकीरति पाटि चन्द के गछपति गुण निलोजी ॥१॥

जीवो की दया करने के कारण लोग उन्हे दया का वृक्ष कहते थे। विद्याबल से उन्होने अनेक विद्वानो को अपने वश में कर लिया था। उनकी कीर्ति चारो ओर फैल गयी थी तथा राजा-महाराजा एव नवाब उनके प्रशसक बन गये थे।

कुमुदचन्द्र का जन्म गोपुर ग्राम मे हुआ था। पिता का नाम सदाफल एव माता का नाम पद्माबाई था। इन्होने मोढ वश मे जन्म लिया था।[1] इनका जन्म का नाम क्या था, इसके विषय मे कोई उल्लेख नही मिलता। वे जन्म से होनहार थे।

बचपन से ही वे उदासीन रहने लगे और युवावस्था से पूव ही इन्होने सयम धारण कर लिया। इन्द्रियो के ग्राम को उजाड दिया तथा कामदेवरूपी नाग को जीत लिया।[2] अध्ययन की ओर इनका विशेष ध्यान था। ये रात-दिन व्याकरण, नाटक, न्याय, आगम एव छन्द-अलकार-शास्त्र आदि का अध्ययन किया करते थे।[3] गोम्मटसार आदि ग्रन्थो का इन्होने विशेष अध्ययन किया था। विद्यार्थी अवस्था में ही ये भट्टारक रत्नकीर्ति के शिष्य बन गये। इनकी विद्वत्ता, वाक्चातुय एव अगाध ज्ञान को देखकर भट्टारक रत्नकीर्ति इन पर मुग्ध हो गये और इन्हे अपना प्रमुख शिष्य बना लिया। धीरे-धीरे इनकी कीर्ति बढने लगी। रत्नकीर्ति ने बारडोली नगर मे अपना पट्ट स्थापित किया था और सवत् १६५६ (सन् १५९९) वैशाख मास में इनका जैनो के प्रमुख सन्त (भट्टारक) के पद पर अभिषेक कर दिया।[4] यह सारा काय सघपति कान्हजी सघ बहन जीवादे, सहस्रकरण एव उनकी धमपत्नी तेजलदे, भाई मल्लदास एव बहन मोहनदे, गोपाल आदि की उपस्थिति मे हुआ था। तथा इन्होने कठिन परिश्रम

---

१ मोढ वंश शृ गारशिरोमणि साह सदाफल तात रे।
जायो जतिवर जुग जयवन्तो पद्माबाई सोहात रे॥

२ बालपणे जिणे सयम लाधो धरायो वेराग रे।
इन्द्रिय ग्राम उजारया हेला जीत्यो मद नाग रे।

३ अहनिशि छन्द व्याकरण नाटिक भणे न्याय आगम अलकार।
वादी गज केसरी विरुद्ध बारु वहे, सरस्वती गच्छ सिणगार रे।

४ सवत् सोल छपन्ने वैशाखे प्रकट पटोधर थाप्या रे।
रत्नकीर्ति गोर बारडालो वर सूर मत्र शुभ आप्या रे।
भाई रे मन मोहन मुनिवर सरस्वती गच्छ साहत।
कुमुदचन्द भट्टारक उदयो भवियण मन मोहत रे॥

—गुरुस्तुति, गणेश कृत

बारडोली मध्ये रे, पाट प्रतिष्ठा कीध मनोहार।
एक शत आठ कुम्भ रे ढाल्या निमल जल अतिसार॥
सूर मन्त्र आपयो रे सकलसघ सानिध्य जयकार।
कुमुदचन्द्र नाम कह्‌व रे सघवि कुटम्ब प्रतपो उदार॥

—गुरुगीत, गणेश कृत

करके इस महोत्सव को सफल बनाया था।[1] तभी से कुमुदचन्द बारडोली के सन्त कहलाने लगे।

बारडोली नगर के एक लम्बे समय तक आध्यात्मिक, साहित्यिक एव धार्मिक गति-विधियो का केन्द्र रहा। सन्त कुमुदचन्द्र के उपदेशामृत को सुनने के लिए वहा धमप्रेमी सज्जनो का हमेशा ही आना-जाना रहता। कभी तीथयात्रा करनेवालो का सघ उनका आशीर्वाद लेने आता तो कभी अपने-अपने निवास स्थान के रजकणो को सन्त के पैरो से पवित्र कराने के लिए उन्हे निमन्त्रण देनेवाले वहा आते। सवत् १६८२ में इन्होने गिरिनार जानेवाले एक सघ का नेतृत्व किया।[2] इस सघ के सघपति नागजी भाई थे, जिनकी कीर्ति चन्द्र सूर्य-लोक तक पहुँच चुकी थी। यात्रा के अवसर पर ही कुमुदचन्द्र सघ सहित घोघा नगर आये, जो उनके गुरु रत्नकीर्ति का जन्मस्थल था। बारडोली वापस लौटने पर श्रावको ने अपनी अपार सम्पत्ति का दान दिया।[3]

कुमुदचन्द्र आध्यात्मिक एव धार्मिक सन्त होने के साथ-साथ साहित्य के परम आराधक थे। अब तक इनकी छोटी बडी २८ रचनाएँ एव ३० से भी अधिक पद प्राप्त हो चुके है। ये सभी रचनाएँ राजस्थानी भाषा मे है, जिन पर गुजराती का प्रभाव है। ऐसा ज्ञात होता है कि ये चिन्तन, मनन एव धर्मोपदेश के अतिरिक्त अपना सारा समय साहित्य सजन में लगाते थे। इनकी रचनाओ में गीत अधिक है, जिन्हे ये अपने प्रवचन के समय श्रोताओ के साथ गाते थे।[4] नेमिनाथ के तोरण द्वार पर आकर वैराग्य धारण करने की अद्भुत घटना से ये अपने गुरु रत्नकीर्ति के समान बहुत प्रभावित थे, इसीलिए इन्होने नेमिनाथ एव राजुल पर कई रचना लिखी है। उनमे नेमिनाथ बारहमासा,

---

१ सघपति कहान जी सघवेण जीवादेनो कन्त।
सहेसकरण सोहे रे तरुणो तेजलदे जयवन्त॥
मल्ल दास मनहरु रे नारी मोहन दे अति सन्त।
रमादे वीर भाई रे गोपाल वेजलदे मन मोहन्त

—गुरुगीत

सघवी कहान जी भाइया वीर भाई रे।
मल्लिदास जमला गोपाल रे॥
छपने सवत्सरे उछव अति कर्यो रे।
सघ मेली बाल गोपाल रे॥

—गीत गणेश कृत

२ संवत सोल व्यासीये सवच्छर गिरिनारि यात्रा कीधा।
श्री कुमुदचन्द्र गुरु नामि सघपति तिलक कहवा॥१३॥

—गीत धर्मसागर कृत

३ इणि परिउछव करता आव्या घोघानगर मझारि।
नेमि जिनेश्वर नाम जपन्ता उतर्या जलनिधिपार।
गाजते बाजते साहमा करीने आव्या बारडाली ग्राम
याचक जन सन्तोष्या भूतलि रार्यो नाम॥

४ देश विदेश विहार करे गुरु प्रति बोध प्राणी।
धर्म कथा रमने वरसन्ती, मीठी छे वाणी रे भाय॥

नेमीश्वर गीत, नेमिजिन गीत आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। राजुल का सौन्दय वर्णन करते हुए इन्होने लिखा है—

> रूपे फूटडी मिटे जूठडी बोले मीठडी वाणी।
> विद्रुम उठडो पल्लव गोठडी रसनी कोटडी बखाणी रे ।।
> सारग वयणी सारग नयणी सारग मनी श्यामा हरी
> लबी कटि भमरी वकी शकी करिनी मार रे ।।

कवि ने अधिकाश छोटी रचनाएँ लिखी है। उन्हे कण्ठस्थ भी किया जा सकता है। बडी रचनाओ मे आदिनाथ विवाहलो, नेमीश्वरहमची एव भरत बाहुबलि छन्द है। शेष रचनाएँ गीत एव विनतियो के रूप मे है। यद्यपि सभी रचनाएँ सुन्दर एव भावपूण है लेकिन भरत बाहुबलि छन्द, आदिनाथ विवाहलो एव नेमीश्वर हमची इनकी उत्कृष्ट रचनाएँ है। भरत बाहुबलि एक खण्डकाव्य है, जिसमें मुख्यत भरत और बाहुकलि के युद्ध का वणन किया गया है।

२. आदिनाथ विवाहलो

इसका दूसरा नाम ऋषभ विवाहलो भी है। यह भी छोटा खण्डकाव्य है, जिसमे ११ ढालें है। प्रारम्भ में ऋषभदेव को माता को १६ स्वप्नो का आना, ऋषभदेव का जन्म होना तथा नगर मे विभिन्न उत्सवो का आयोजन का वणन किया गया है। फिर ऋषभ के विवाह का वर्णन है। अन्त की ढाल मे उनका वैराग्य धारण करके निर्वाण प्राप्त करना भी बतला दिया गया है। कुमुदचन्द्र ने इसे भी सवत् १६७८ मे घोघा नगर में रचा था।

३ नेमिनाथ बारहमासा

नेमिनाथ के विरह मे राजुल किस प्रकार तडफती थी तथा उसके बारह महीने किस प्रकार व्यतीत हुए, इसका नेमिनाथ बारहमासा मे सजीव वर्णन किया है। इसी तरह का वर्णन कवि ने प्रणय गीत एव हिडोलना-गीत मे भी किया है।

> फागुण केसु फूलीयो, नर नारी रमे वर फाग जी।
> हास विनोद करे घणा, किम नाहे धरयो वैराग जी।
>
> —नेमिनाथ बारहमासा

> सीयालो सगलो गयो, पणि नावियो यदुराय।
> तेह बिना मुझने झूरता, एह दीहडा रे वरसा सो थापके।
>
> —प्रणय-गीत

४. वणजारा गीत

वणजारा गीत मे कवि ने ससार का सुन्दर चित्र उतारा है। यह मनुष्य वणजारे के रूप मे यो ही ससार से भटकता रहता है। वह दिन-रात पाप कमाता है और ससार बन्धन से कभी भी नही छूटता।

पाप कर्या ते अनन्त, जीवदया पाली नही।
साचो न बोलियो बोल, भरम मो साबहु बोलिया ॥

शील गीत मे कवि ने चरित्र प्रधान जीवन पर अत्यधिक जोर दिया है। मानव को किसी भी दिशा मे आगे बढने के लिए चरित्र बल की आवश्यकता है। साधु-सन्तो एव सयमी जनो को स्त्रियो से अलग ही रहना चाहिए—आदि का अच्छा वणन मिलता है। इसी प्रकार कवि की सभी रचनाएँ सुन्दर है।

पदो के रूप मे कुमुदचन्द्र ने जो साहित्य रचना की है वह और भी उच्चकोटि की है। भाषा, शैली एव भाव सभी दृष्टियो से ये पद सुन्दर है। 'मै तो नर भव वादि गवायो' पद में कवि ने उन प्राणियो की सच्ची आत्मपुकार प्रस्तुत की है, जो जीवन में कोई भी शुभ काय नही करते हैं। अन्त मे हाथ मलते ही चले जात ह।

'जो तुम दीन दयाल कहावत' पद भी भक्ति रस की सुन्दर रचना ह। भक्ति एव अध्यात्म-पदो के अतिरिक्त नेमि-राजुल सम्बन्धी भी पद है, जिनमे नेमिनाथ के प्रति राजुल की सच्ची पुकार मिलती है। नेमिनाथ के बिना राजुल को न प्यास लगती है और न भूख सताती है। नीद नही आती है, और बार-बार उठकर गृह का आँगन देखती रहती है। यहाँ पाठको के पठनाथ दो पद दिये जा रहे है—

राग-धनश्री

मै तो नर भव वादि गमायो।
न कियो जप तप व्रत विधि सुन्दर, काम भलो न कमायो।
मे तो ॥१॥

विकट लोभ ते कपट कूट करा, निपट विषय लपटाओ।
विटल कुटिल शठ सगति बैठो, साधु निकट विघटायो ॥ मै तो ।२।

कृपण भयो कछु दान न दीनो, दिन दिन दाम मिलायो।
जब जीवन जजाल पड्यो तब, पर त्रिया तनु चितलायो ॥ मैं तो ।३।

अन्त समय कोउ सग न आवत, झूठहि पाप लगायो।
कुमुदचन्द्र कहे चूक परी मोही, प्रभु पद जस नही गायो ॥ मे तो ।४।

सखी री अब तो रह्यो नहिं जात ।
प्राणनाथ की प्रीति न बिसरत, क्षण क्षण छीजत गात ।। सखी ।।१।।
नहिं न भूख नहिं तिसु लागत, घरहि घरहि मुरझात ।
मन तो उरझी रह्यो मोहन सु, सेवन ही सुरझात ।। सखी ।।२।।
नाहिने नीद परती निसिवासर, होत विसुरत प्रात ।
चन्दन चन्द्र सजल नलिनीदल, मन्द मारुत न सुहात ।। सखी ।।३।।
गृह आगन देख्यो नही भावत, दीन भई विललात ।
विरही वाउरी फिरत गिरि-गिरि, लोकन तें न लजात ।। सखी ।।४।।
पीउ विन पलक कल नही जीउकू न रुचित रासिक गुबात ।
'कुमुदचन्द्र' प्रभु सरस दरस कू, नयन चपल ललचात ।। सखी ।।५।।

राग-धनश्री

व्यक्तित्व

सन्त कुमुदचन्द्र सवत् १६५६ तक भट्टारक पद पर रहे। इतने लम्बे समय में इन्होने देश में अनेक स्थानो पर विहार किया और जन-साधारण को धम एव अध्यात्म का पाठ पढाया। ये अपने समय के असाधारण सन्त थे। उनकी गुजरात तथा राजस्थान में अच्छी प्रतिष्ठा थी। जैन साहित्य एव सिद्धान्त का उन्हें अप्रतिम ज्ञान था। वे सम्भवत आशु कवि भी थे, इसलिए श्रावको एव जन-साधारण को पद्य रूप में ही कभी-कभी उपदेश दिया करते थे। इनके शिष्यो ने जो कुछ इनके जीवन एव गतिविधियो के बारे में लिखा है, वह इनके अभूतपूर्व व्यक्तित्व की एक झलक प्रस्तुत करता है।

शिष्य परिवार

वैसे तो भट्टारको के बहुत-से शिष्य हुआ करते थे जिनमें आचाय, मुनि, ब्रह्मचारी, आयिका आदि होते थे। अभी जो रचनाएँ उपलब्ध हुई है, उनमें अभयचन्द्र, ब्रह्मसागर, धमसागर, सयमसागर, जयसागर एव गणेशसागर आदि के नाम उल्लेखनीय है। ये सभी शिष्य हिन्दी एव सस्कृत के भारी विद्वान् थे और इनकी बहुत-सी रचनाएँ उपलब्ध हो चुकी है। अभयचन्द्र इनके पश्चात् भट्टारक बने। इनके एव इनके शिष्य-परिवार के विषय में आगे प्रकाश डाला जायेगा।

कुमुदचन्द्र की अब तक २८ रचनाएँ एव पद उपलब्ध हो चुके हैं, उनके नाम निम्न प्रकार हैं—

मूल्याकन

भट्टारक रत्नकीर्ति ने जो साहित्य-निर्माण की पावन-परम्परा छोडी थी, उसे उनके उत्तराधिकारी भट्टारक कुमुदचन्द्र ने अच्छी तरह से निभाया। यही नही कुमुद-

चन्द्र ने अपने गुरु से भी अधिक कृतियाँ लिखी और भारतीय समाज को अध्यात्म एव भक्ति के साथ-साथ शृगार एव वीर रस का भी आस्वादन कराया। कुमुदचन्द्र के समय देश पर मुगल शासन था, इसलिए जहाँ-तहाँ युद्ध होते रहते थे। जनता में देशरक्षा के प्रति जागरूकता थी, इसलिए कवि ने भरत-बाहुबलि छन्द में जो युद्ध-वणन किया है वह तत्कालीन जनता की माँग के अनुसार था। इससे उन्होने यह भी सिद्ध किया कि जैन-कवि यद्यपि साधारणत अध्यात्म एव भक्तिपरक कृतियाँ लिखने में ही अधिक रुचि रखते है लेकिन आवश्यकता हो तो वे वीर रस-प्रधान रचना भी देश एव समाज के समक्ष उपस्थित कर सकते है।

कुमुदचन्द्र के द्वारा निबद्ध पद-साहित्य भी हिन्दी-साहित्य की उत्तम निधि है। उन्होने 'जो तुम दीनदयाल कहावत' पद में अपने हृदय को भगवान् के समक्ष निकालकर रख दिया है और वह अपने भक्तो के प्रति की जानेवाली उपेक्षा की ओर भी प्रभु का ध्यान आकृष्ट करना चाहता है और फिर 'अनाथनि कु कछु दीजे' के रूप में प्रभु और भक्त के सम्बन्धो का बखान करता है। 'मैं तो नर भव वादि गमायो'—पद में कवि ने उन मनुष्यो को चेतावनी दी है, जो जीवन का कोई सदुपयोग नही करते और यो ही जगत् मे आकर चल देते है। यह पद अत्यधिक सुन्दर एव भावपूण है। इसी तरह कुमुदचन्द्र ने नेमिनाथ-राजुल के जीवन पर जो पद-साहित्य लिखा है, वह भी अत्यधिक महत्त्वपूण है। 'सखी री अब तो रह्यो नहिं जात' में राजुल की मनोदशा का अच्छा चित्र उपस्थित किया है। इसी तरह 'आली री बिरखा ऋतु आजु आयी' में राजुल के रूप मे विरहिणी नारी के मन में उठनेवाले भावो को प्रस्तुत किया है। इस प्रकार कुमुदचन्द्र ने अपने पद साहित्य में अध्यात्म, भक्ति एव वैराग्यपरक पद-रचना के अतिरिक्त 'राजुल-नेमि' के जीवन पर जो पद-साहित्य लिखा है, वह भी हिन्दी-पद-साहित्य एव विशेषत जैन-साहित्य में एक नयी परम्परा को जन्म देने वाला रहा था। आगे होनेवाले कवियो ने इन दोनो कवियो की इस शैली का पर्याप्त अनुसरण किया था।

भट्टारक चन्द्रकीर्ति

[सवत् १६०० से १६६० तक]

भ रत्नकीति ने साहित्य निर्माण का जो वातावरण बनाया था तथा अपने शिष्य-प्रशिष्यो को इस ओर काय करने के लिए प्रोत्साहित किया था, इसी के फल-स्वरूप ब्रह्म जयसागर, कुमुदचन्द्र, चन्द्रकीर्ति, सयमसागर, गणेश और धमसागर-जैसे प्रसिद्ध सन्त साहित्यरचना की ओर प्रवृत्त हुए। 'आ चन्द्रकीर्ति' भट्टारक रत्नकीर्ति प्रिय शिष्यो में से थे। ये मेधावी एव योग्यतम शिष्य थे तथा अपने गुरु के प्रत्येक काय मे सहयोग देते थे।

चन्द्रकीति के गुजरात एव राजस्थान प्रदेश प्रमुख क्षेत्र थे। कभी-कभी ये अपने गुरु के साथ और कभी स्वतन्त्र रूप से इन प्रदेशो में विहार करते थे। वैसे बारडोली, भडौच, डूँगरपुर, सागवाडा आदि नगर इनके साहित्य निर्माण के स्थान थे। अब तक इनकी निम्न कृतियाँ उपलब्ध हुई है—

१ सोलहकारण रास
२ जयकुमाराख्यान
३ चारित्र चुनडी
४ चौरासी लाख जीवनयोनि वीनती

उक्त रचनाओ के अतिरिक्त इनके कुछ हिन्दी पद भी उपलब्ध हुए है।

१ सोलहकारण रास

यह कवि की लघु कृति है। इसमें षोडशकारण व्रत का माहात्म्य बतलाया गया है। ४६ पद्योवाले इस रास में रागौडी, देशी, दूहा, राग देशाख, त्रोटक, चाल, राग धन्यासी आदि विभिन्न छन्दो का प्रयोग हुआ है। कवि ने रचनाकाल का उल्लेख तो नही किया है किन्तु रचनास्थान भडौच का अवश्य निर्दिष्ट किया है।[1] भडौच नगर में जो शान्तिनाथ का मन्दिर था वही इस रचना का समाप्ति स्थान था।

१ श्री भरुयच नगरे सोहामणु श्री शान्तिनाथ जिनराय रे।
प्रासादे रचना रचि श्री चन्द्रकीरति गुण गाय रे ॥४४॥

२ जयकुमार आख्यान

यह कवि का सबसे बडा काव्य है जो ४ सर्गों में विभक्त है। जयकुमार प्रथम तीर्थंकर भट्टारक ऋषभदेव के पुत्र सम्राट् भरत के सेनाध्यक्ष थे। इन्ही जयकुमार का इसमें पूरा चरित्र वर्णित है। आख्यान वीर रस प्रधान है। इसकी रचना बारडोली नगर के चन्द्रप्रभ चैत्यालय में सवत् १६५५ की चैत्र शुक्ला दशमी के दिन समाप्त हुई थी।

जयकुमार को सम्राट् भरत सेनाध्यक्ष पद पर नियुक्त करके शान्ति पूर्वक जीवन बिताने लगे। जयकुमार ने अपने युद्ध-कौशल से सारे साम्राज्य पर अखण्ड शासन स्थापित किया। वे सौन्दर्य के खजाने थे। एक बार वाराणसी के राजा अकम्पन ने अपनी पुत्री सुलोचना के विवाह के लिए स्वयवर का आयोजन किया। स्वयवर मे जयकुमार भी सम्मिलित हुए। इसी स्वयवर में 'सम्राट् भरत' के एक राजकुमार अर्ककीर्ति भी गये थे, लेकिन जब सुलोचना ने जयकुमार के गले में माला पहना दी तो वह अत्यन्त क्रोधित हुए। अककीर्ति एव जयकुमार में युद्ध हुआ और अन्त में जयकुमार का सुलोचना के साथ विवाह हो गया।

इस आख्यान के प्रथम अधिकार में जयकुमार-सुलोचना विवाह का वणन है। दूसरे और तीसरे अधिकार में जयकुमार के पूव भवो का वणन और चतुथ एव अन्तिम अधिकार में जयकुमार के निर्वाण प्राप्ति का वर्णन किया गया है।

आख्यान में वीर रस, शृगार रस एव शान्त रस का प्राधान्य है। इसकी भाषा राजस्थानी डिंगल है। यद्यपि रचना-स्थान बारडोली नगर है, लेकिन गुजराती शब्दों का बहुत ही कम प्रयोग किया गया है, इससे कवि का राजस्थानी प्रेम झलकता है।

कवि ने इसे सवत् १६५५ में समाप्त किया था। इसे यदि अन्तिम रचना भी माना जाये तो उसका समय सवत् १६६० तक का निश्चित होता है। इसके अतिरिक्त कवि ने अपने गुरु के रूप मे केवल रत्नकीर्ति का ही नामोल्लेख किया है, जबकि सवत् १६६० तक तो रत्नकीर्ति के पश्चात् कुमुदचन्द्र भी भट्टारक हो गये थे, इसलिए यह भी निश्चित-सा है कि कवि ने रत्नकीर्ति से ही दीक्षा ली थी और उनकी मृत्यु के पश्चात् वे सघ से अलग ही रहने लगे थे। ऐसी अवस्था मे कवि का समय यदि सवत् १६०० से १६६० तक मान लिया जाये तो कोई आश्चय नही होगा।

अन्य कृतियाँ

जयकुमाराख्यान एव सोलहकारण रास के अलावा अन्य सभी रचनाएँ लघु रचनाएँ है। किन्तु भाव एव भाषा की दृष्टि से उल्लेखनीय कवि का एक पद देखिए —

राग प्रभाति

जागता जिनवर जे दिन निरख्यो
धन्य ते दिवस चिन्तामणि सरिखो।

सुप्रभाति मुख कमल जु दीठु

वचन अमृत थकी अधिकजु मीठु (१)

सफल जनम हवो जिनवर दीठा ।

करण सफल सुण्या तुह्म गुण मीठा (२)

धन्य ते जे जिनवर पद पूजे

श्री जिन तुम्ह बिन देव न दूजो (३)

स्वग मुगति जिन दरसनि पामे,

'चन्द्रकीरति' सूरि सीसज नामे (४)

भट्टारक अभयचन्द्र

[सवत् १६८५ से १७२१ तक]

अभयचन्द्र नाम के दो भट्टारक हुए है। प्रथम अभयचन्द्र भट्टारक लक्ष्मीचन्द्र के शिष्य थे, जिन्होने एक स्वतन्त्र भट्टारक-सस्था को जन्म दिया। उनका समय विक्रम की सोलहवी शताब्दी का द्वितीय चरण था। दूसरे अभयचन्द्र इन्ही की परम्परा में होने वाले भटटारक कुमुदचन्द्र के शिष्य थे। यहाँ इन्ही दूसरे अभयचन्द्र का परिचय दिया जा रहा है।

अभयचन्द्र भट्टारक थे और कुमुदचन्द्र की मृत्यु के पश्चात् भट्टारक गादी पर बैठे थे। यद्यपि अभयचन्द्र का गुजरात से काफी निकट का सम्बन्ध था, लेकिन राजस्थान में भी इनका बराबर विहार होता था और ये गाँव-गाँव एव नगर-नगर में भ्रमण करके जनता से सीधा सम्पर्क बनाये रखते थे। अभयचन्द्र अपने गुरु के योग्यतम शिष्य थे। उन्होंने भट्टारक रत्नकीर्ति एव भटटारक कुमुदचन्द्र का शासनकाल देखा था और देखी थी उनकी 'साहित्य-साधना'। इसलिए जब ये स्वय प्रमुख सन्त बने तो इन्होंने भी उसी परम्परा को बनाये रखा। सवत् १६८५ की फाल्गुन सुदी ११ सोमवार के दिन बारडोली नगर में इनका पट्टाभिषेक हुआ और इस पद पर सवत् १७२१ तक रहे।

अभयचन्द्र का जन्म स १६४० के लगभग हूबड वश में हुआ था। इनके पिता का नाम श्रीपाल एव माता का नाम कोडमदे था। बचपन से ही बालक अभयचन्द्र को साधुओ की मण्डली में रहने का सुअवसर मिल गया था। हेमजी कुँअरजी इनके भाई थे—सम्पन्न घराने के थे। युवावस्था के पहले ही इन्होंने पाँचो महाव्रतो का पालन प्रारम्भ किया था।[1] इसी के साथ इन्होने सस्कृत, प्राकृत के ग्रन्थो का उच्चाध्ययन किया। न्यायशास्त्र में पारगतता प्राप्त की तथा अलकार-शास्त्र एव नाटको का गहरा अध्ययन किया।[2] अच्छे वक्ता तो ये प्रारम्भ से ही थे, किन्तु विद्वत्ता के होने से सोने-सुगन्ध का-सा सुन्दर समन्वय हो गया।

---

१ हूँबड वशे श्रीपाल साह तात, जनम्यों रूडी रतन कोडमदे मात।
लघु पणें लीधो महाव्रत भार, मनवश करी जीत्यो दुर्द्धर भार॥

२ तर्क नाटक आगम अलकार अनेक शास्त्र भण्यां मनोहार।
भट्टारक पद ए हने छाजे, जेहवे यश जग मां वास गाजे॥

जब उन्होने युवावस्था में पदार्पण किया तो त्याग एव तपस्या के प्रभाव से इनकी मुखाकृति स्वयमेव आकषक बन गयी और जनता के लिए ये आध्यात्मिक जादूगर बन गये। इनके सैंकडो शिष्य थे जो स्थान-स्थान पर ज्ञान दान किया करते थे। इनके प्रमुख शिष्यो में गणेश, दामोदर, धर्मसागर, देवजी व रामदेव के नाम विशेषत उल्लेखनीय है। जितनी अधिक प्रशसा शिष्यो द्वारा इनकी (भ अभयचन्द्र) की गयी, सम्भवत अन्य भट्टारको की उतनी अधिक प्रशसा देखने में अभी नही आयी। एक बार भ अभयचन्द्र का सूरत नगर में पदार्पण हुआ, वह सवत् १७०६ का समय था। सूरत नगर-निवासियो ने उस समय इनका भारी स्वागत किया। घर-घर उत्सव किये गये, कुकुम छिडका गया और अग-पूजा का आयोजन किया गया। इन्ही के एक शिष्य देवजी—जी उस समय स्वय वहाँ उपस्थित थे, ने निम्न प्रकार इनके सूरत नगर आगमन का वणन किया है—

आज आणद मन अति घणो ए, काई बरत यो जय जयकार।
अभयचन्द्र मुनि आवया ए, काई सुरत नगर मझार रे ।।आज आणद ।।१।।

घरे घरे उछव अति घणए, काई माननी मगल गाये रे।
अग पूजा ने उवराणा ए, काई कुकुम छडादेवडाय रे ।।आज ।।२।।

श्लोक बखाणें गोर सोभता रे, वाणी मीठी अपार साल रे।
धर्मकथा ये प्राणी ने प्रतिबोधे ए, काई कुमति करे परिहारे रे ।।३।।

सवत सतर छलोतरे, काई हीरजी प्रेमजीनी पूगी आस रे।
रामजी ने श्रीपाल हरखीया ए, काई वेलजी कुअरजी मोहनदास रे ।।४।।

गोतम समगोर सोभतो ए, काई बूथे जयो अभयकुमार रे।
सकल कला गुण मडणो ए, काई देवजी कहे उदयो उदार रे ।।आज ।।५।।

श्रीपाल १८वी शताब्दी के प्रमुख साहित्य सेवी थे। इनकी कितनी ही हिन्दी रचनाएँ अभी लेखक को कुछ समय पूव प्राप्त हुई थी। स्वय कवि श्रीपाल भट्टारक अभयचन्द्र से अत्यधिक प्रभावित थे। इसलिए स्वय भट्टारकजी महाराज की प्रशसा में लिखा गया कवि का एक पद देखिए। इस पद के अध्ययन से हमें अभयचन्द्र के आकर्षक व्यक्तित्व की स्पष्ट झलक मिलती है। पद निम्न प्रकार है—

चन्द्रवदनी मृग लोचनी नारि।
अभयचन्द्र गछ नायक बाँदो, सकल सघ जयकारि ।।१।।चन्द्र ।।
मदन माहामद मीडे ए मुनिवर, गोयस सम गुणधारी।
क्षमावतवि गभिर विचक्षण, गरुयो गुण भण्डारी ।।चन्द्र ।।२।।
निखिलकला विधि विमल विद्या निधि विकटवादी हठहारी।
रम्य रूप रजित नर नायक, सज्जन जन सुखकारी ।।चन्द्र ।।३।।

सरसति गछ श्रृगार शिरोमणी, मूल सघ मनोहारी ।
कुमुदचन्द्र पदकमल दिवाकर, 'श्रीपाल' तुम बलीहारी ॥चन्द्र ॥४॥

गणेश भी अच्छे कवि थे । इनके कितने ही पद, स्तवन एव लघु कृतियाँ उपलब्ध हो चुकी है । भट्टारक अभयचन्द्र के आगमन पर कवि ने जो स्वागत गान लिखा था और जो उस समय सम्भवत गाया भी गया था, उसे पाठको के अवलोकनाथ यहाँ दिया जा रहा है

आजु भले आये जन दिन घन रयणी ।
शिवया नन्दन बन्दी रत तुम, कनक कुसुम बधावो मृगनयनी ॥१॥
उज्जल गिरि पाय पूजी परमगुरु सकल सघ सहित सग सयनी ।
मृदग बजावते गावते गुनगनी, अभयचन्द्र पटधर आयो गजगयनी ॥२॥
अब तुम आये भली करी, घरी घरी जय शब्द भविक सब कहेनी ।
ज्यो चकोरी चन्द्र कु इयत, कहत गणेश विशेषकर वयनी ॥३॥

इसी तरह कवि के एक और शिष्य दामोदर ने भी अपने गुरु की भूरि-भूरि प्रशसा की है । गीत में कवि के माता-पिता के नाम का भी उल्लेख किया है तथा लिखा है कि भट्टारक अभयचन्द्र ने कितने ही शास्त्रार्थों में विजय प्राप्त की थी । पूरा गोत निम्न प्रकार है—

वादो बन्दो सखी री श्री अभयचन्द्र गोर वादो ।
मूल सग मण्डण दुरित निकन्दन, कुमुदचन्द्र पगी ब दो ॥१॥
शास्त्र सिद्धान्त पूरण ए जाण, प्रतिबोधे भवियण अनेक ।
सकल कला करी विश्वने रजे, भजे वादि अनेक ॥२॥
हूबड वश विख्यात वसुधा श्रीपाल साधन तात ।
जायो जननीइ पतिय शवन्तो, कोडमदे धन मात ॥३॥
रतनचन्द पाटि कुमुदचन्दयति, प्रेमे पूजो पाय ।
तास पाटि श्री अभयचन्द्र गोर 'दामोदर' नित्य गुणगाय ॥४॥

उक्त प्रशसात्मक गीतो से यह तो निश्चित-सा जान पडता है कि अभयचन्द्र की जैन-समाज में काफी अधिक लोकप्रियता थी । उनके शिष्य साथ रहते थे और जनता को भी उनका स्तवन करने की प्रेरणा किया करते थे ।

अभयचन्द्र प्रचारक के साथ-साथ साहित्य निर्माता भी थे । यद्यपि अभी तक उनकी अधिक रचनाएँ उपलब्ध नही हो सकी हैं, लेकिन फिर भी उन प्राप्त रचनाओ के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उनकी कोई बडी रचना भी मिलनी चाहिए । कवि ने लघु गीत अधिक लिखे है । इसका प्रमुख कारण तत्कालीन साहित्यिक वातावरण ही था । अब तक इनकी छोटी-बडी १० रचनाएँ तथा कुछ गीत मिल चुके है जिनके नाम निम्न प्रकार है—

१	वासुपूज्यनी धमाल	१० पद्य
२	चन्दागीत	२६ पद्य
३	सूखडी	३७ पद्य
४	चतुर्विंशति तीथकर लक्षण गीत	११ पद्य
५	पद्मावती गीत	११ पद्य
६	गीत	
७	गीत	
८	नेमीश्वरनु ज्ञान कल्याणक गीत	
९	आदीश्वरनाथनु पचकल्याणक गीत	
१०	बलभद्र गीत	

इस प्रकार कविवर अभयचन्द्र ने अपनी लघु रचनाओ के माध्यम से हिन्दी साहित्य की जो महती सेवा की थी, वह सदा स्मरणीय रहेगी।

भट्टारक महीचन्द्र

भट्टारक महीचन्द्र नाम के तीन भट्टारक हो चुके है। इनमें से प्रथम विशालकीर्ति के शिष्य थे जिनकी कितनी ही रचनाएँ उपलब्ध होती है। दूसरे महीचन्द्र भट्टारक वादिचन्द्र के शिष्य थे तथा भट्टारक सहस्रकीर्ति के शिष्य थे। लवाकुश छप्पय के कवि भी सम्भवत वादिचन्द्र के ही शिष्य थे। 'नेमिनाथ समवशरण विधि' उदयपुर के खण्डेलवाल मन्दिर के शास्त्र भण्डार में सग्रहीत है उसमें उन्होने अपने को भट्टारक वादिचन्द्र का शिष्य लिखा है।

श्री मूलसघे सरस्वती गच्छ जाणो,
बलातकार गण बखाणो।
श्री वादिचन्द्र मने आणो,
श्री नेमीश्वर चरण नमेसू ॥३२॥

तस पाटे महीचन्द्र गुरु थाप्यो,
देश विदेश जग बहु व्याप्यो।
श्री नेमीश्वर चरण नमेसूँ ॥३३॥

उक्त रचना के अतिरिक्त आपकी 'आदिनाथविनति', 'आदित्यव्रत कथा' आदि रचनाएँ और भी उपलब्ध होती है। 'लवाकुश छप्पय' कवि की सबसे बडी रचना है। इसमें छप्पय छन्द के ७० पद्य है। जिनमें राम के पुत्र लव एव कुश की जीवनगाथा का वर्णन है। भाषा राजस्थानी है जिस पर गुजराती एव मराठी का प्रभाव है। रचना साहित्यिक है तथा उसमें घटनाओ का अच्छा वर्णन मिलता है। इसे हम खण्डकाव्य का रूप दे सकते है। कथा राम के लका विजय एव अयोध्या आगमन के बाद से प्रारम्भ होती है।

भाषा

महीचन्द्र की इस रचना को हम राजस्थानी डिंगल भाषा की एक कृति कह सकते है। डिंगल की प्रमुख रचना कृष्ण-रुक्मिणी वेलि के समान है। इसमे भी डिंगल शब्दो का प्रयोग हुआ है। यद्यपि छप्पय का मुख्य रस शान्त रस है लेकिन आधे से अधिक छन्द वीर रस प्रधान है। शब्दो को अधिक प्रभावशील बनाने के लिए चल्यो, छल्यो, पामया, लाज्या, आव्यो, पाड्या, चत्यो, नम्या, उपसम्या, वोल्या आदि क्रियाओ का

प्रयोग हुआ है। 'तुम' 'हम' के स्थान पर तुह्म, अह्म का प्रयोग करना कवि को प्रिय है। डिंगल शैली के कुछ पद्य निम्न प्रकार है—

रण निसाण बजाय सकल सैन्या तव मेली।
चढ्यो दिवाजे करि कटक करि दश दिश भेजी॥
हस्ति तुरग मसूर भार करि शेषज शको,
खडगादिक हथियार देख रवि शशि पण कम्प्यो॥
पृथ्वी आन्दोलित थई छत्र चमर रवि छादयो।
पृथु राजा ने चरे कल्यो, व्याघ्र राम तवे आवयो॥१५॥

रुध्या के असवार हणीगय वरनि घण्टा।
रथ धच कूचर हणी वली हृयनी थटा॥
लव अकुश युद्ध देख दशो दिशि नाथ जावे।
पृथुराजा बहु बढे लोहि पण जुगति न पावे॥
वज्र जघ नृप देखतो बल साथे भागो यदा।
कुल सील हीन केतो जिते पृथु रा पगे पड्यो तदा॥२॥

भट्टारक वीरचन्द्र

भट्टारकीय बलात्कारगण शाखा के सस्थापक भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति थे, जो सन्त शिरोमणि भट्टारक पद्मनन्दि के शिष्यो में से थे। जब देवेन्द्रकीर्ति ने सूरत में भट्टारक गादी की स्थापना की थी, उस समय भट्टारक सकलकीर्ति का राजस्थान एव गुजरात में जबरदस्त प्रभाव था और सम्भवत इसी प्रभाव को कम करने के उद्देश्य से देवेन्द्रकीर्ति ने एक और नयी भट्टारक सस्था को जन्म दिया। भट्टारक दवेन्द्रकीर्ति के पीछे एव वीरचन्द्र के पहले तीन और भट्टारक हुए जिनके नाम विद्यानन्दि (स १४९९-१५३७), मल्लिभूषण (१५४४-५५) और लक्ष्मीचन्द्र (१५५६-८२)। वीरचन्द भट्टारक लक्ष्मीचन्द्र के शिष्य थे और इन्ही की मृत्यु के पश्चात् ये भट्टारक बने थे। यद्यपि इनका सूरत गादी से सम्बन्ध था, लेकिन ये राजस्थान के अधिक समीप थे और इस प्रदेश में खूब विहार किया करते थे।

'सन्त वीरचन्द्र' प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् थे। व्याकरण एव न्यायशास्त्र के प्रकाण्ड वेत्ता थे। छन्द, अलकार एव सगीत शास्त्र के मर्मज्ञ थे। वे जहाँ जाते अपने भक्तो की सख्या बढा लेते एव विरोधियो का सफाया कर देते। वाद-विवाद में उनसे जीतना बडे-बडे महारथियो के लिए भी सहज नही था। वे अपने साधु जीवन को पूरी तरह निभाते और गृहस्थो को सयमित जीवन रखने का उपदेश देते। एक भट्टारक पट्टावली में उनका निम्न प्रकार परिचय दिया गया है—

"तदवशमडन-कदपदपदलन विश्वलोकहृदयरजनमहाव्रतीपुरदराणा, नवसहस्र-प्रमुखदेशाधिपराजाधिराजश्रीअर्जुनजीवराजसभामध्यप्राप्तसन्मानाना, षोडशवर्षपयन्तशाक-पाकपक्वान्नशाल्योदनादिसर्पिप्रभृतिसरसहारपरिवर्जिताना, व्याकरणप्रमेयकमलमार्त्तण्डछन्दो-लक्कतिसारसाहित्यसगीतसकलतर्कसिद्धान्तागमशास्त्रसमुद्रपारगताना, सकलमूलोत्तरगुण-गणमणिमण्डितविबुधवरश्री वीरचन्द्र भट्टारकाणा "

उक्त प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि वीरचन्द्र ने नवसारी के शासक अजुन जीवराज से खूब सम्मान पाया तथा १६ वष तक नीरस आहार का सेवन किया। वीरचन्द्र की विद्वत्ता का इनके बाद होनेवाले कितने ही विद्वानो ने उल्लेख किया है। भट्टारक शुभचन्द्र से अपनी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की सस्कृत टीका में इनकी प्रशसा में निम्न पद्य लिखा है—

भट्टारकपदाधीश मूलसघे विदावरा
रमावीरेन्द्र-चिद्रूप पुरेवा हि गणेशिन ॥१०॥

भट्टारक सुमतिकीर्ति ने इन्हे वादियो के लिए अजेय स्वीकार किया है और उनके लिए वज्र के समान माना है। अपनी प्राकृत पचसग्रह की टीका मे इनके यश को जीवित रखने के लिए निम्न पद्य लिखा है

दुर्वारदुर्वादिकपर्वताना वज्रायमानो वरवीरचन्द्र ।
तदन्वये सूरिवरप्रधानो ज्ञानादिभूषो गणिगच्छराज ॥

इसी तरह भट्टारक वादिचन्द्र ने अपनी शुभगसुलोचना चरित में वीरचन्द्र की विद्वत्ता की प्रशसा की है और कहा है कि कौन-सा मूर्ख उनके शिष्यत्व को स्वीकार कर विद्वान् नही बन सकता।

वीरचन्द्र समाश्रित्य के मूर्खा न विदो मथन् ।
त (श्रये) त्यक्त सावन्न दीप्त्या निर्जितकाञ्चनम् ॥

वीरचन्द्र जबरदस्त साहित्य-सेवी थे। वे सस्कृत, प्राकृत, हिन्दी एव गुजराती के पारगत विद्वान् थे। यद्यपि अब तक उनकी केवल ८ रचनाएँ ही उपलब्ध हो सकी है, लेकिन वही उनकी विद्वत्ता का परिचय देने के लिए पर्याप्त है। इनकी रचनाओ के नाम निम्न प्रकार है—

१ वीर विलास फाग
२ जम्बूस्वामी वेलि
३ जिन आन्तरा
४ सीमधरस्वामी गीत
५ सम्बोध सत्ताणु
६ नेमिनाथ रास
७ चित्तनिरोध कथा
८ बाहुबलि वेलि

१ वीर विलास फाग

वीर विलास फाग एक खण्डकाव्य है, जिसमें २२वें तीथकर नेमिनाम की जीवन की एक घटना का वर्णन किया गया है। फाग में १३७ पद्य है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति उदयपुर के खण्डेलवाल दिगम्बर जैन मन्दिर के शास्त्र भण्डार में सग्रहीत है। यह प्रति सवत् १६८६ मे भट्टारक वीरचन्द्र के शिष्य भट्टारक महीचन्द के उपदेश से लिखी गयी थी। ब्र ज्ञानसागर इसके प्रतिलिपिकार थे।

रचना के प्रारम्भ में नेमिनाथ के सौन्दय एव शक्ति का वणन किया गया है, इसके पश्चात् उनकी होनेवाली पत्नी राजुल की सुन्दरता का वर्णन मिलता है। विवाह के अवसर पर नगर की शोभा दशनीय हो जाती है तथा वहा विभिन्न उत्सव मनाये जाते है। नेमिनाथ की बारात बडी सजधज के साथ आती है लेकिन तोरण द्वार के निकट पहुँचने के पूर्व ही नेमिनाथ एक चौक मे बहुत-से पशुओ को देखते है और जब

उन्हे सारथी द्वारा यह मालूम होता है कि वे सभी पशु बरातियो के लिए एकत्रित किये गये है तो उन्हे तत्काल वैराग्य हो जाता है और वे बन्धन तोडकर गिरनार चले जाते है। राजुल को जब उनकी वैराग्य लेने की घटना मालूम होती है तो वह घोर विलाप करती है, बेहोश होकर गिर पडती है। वह स्वय भी अपने सब आभूषणो को उतारकर तपस्वी जीवन धारण कर लेती है। रचना के अन्त में नेमिनाथ के तपस्वी जीवन का भी अच्छा वणन मिलता है।

फाग सरस एव सुन्दर है। कवि के सभी वणन अनूठे है और उनमे जीवन है तथा काव्यत्व के दर्शन होते है। नेमिनाथ की सुन्दरता का एक वर्णन देखिए—

वेलि कमल दल कोमल, सामल वरण शरीर।
त्रिभुवनपति त्रिभुवन निलो, नीलो गुण गम्भीर ।।७।।
माननी मोहन जिनवर, दिन दिन देह दिपन्त।
प्रलम्ब प्रताप प्रभाकर, भवहर श्री भगवन्त ।।८।।
लीला ललित नेमीश्वर, अलवेश्वर उदार।
प्रहसित पकज पखडी, अखडी रूपि अपार ।।९।।
अति कोमल गल गन्दल, प्रविमल वाणी विशाल।
अगि अनोपम निरुपम, मदन निवास ।।१०।।

इसी तरह राजुल के सौन्दय वर्णन को भी कवि के शब्दो मे पढिए—

कठिन सुपीन पयोधर, मनोहर अति उतग।
चम्पक वर्णी चन्द्राननी, माननी सोहि सुरग ।।१७।।
हरणी हरखी निज नयणीउ, वयणीउ साह सुरग।
दन्त सुपन्ती दीपन्ती, सोहन्ती सिरवेणी बन्ध ।।१८।।
कनक केरी जसी पूतली, पातली पदमनी नारि।
सतीय शिरोमणि सुन्दरी, भवतरी अवनि मझारि ।।१९।।
ज्ञान-विज्ञान विचक्षणी, सुलक्षणी कोमल काय।
दान सुपात्रह पेखती, पूजती श्री जिनवर पाय ।।२०।।
राजमती रलीयामणी, सोहामणि सुमधुरीय वाणि।
भभर म्योली भामिनी, स्वामिनी सोहि सुराणि ।।२१।।
रूपि रम्भा सुतिलोत्तमा, उत्तम अगि आचार।
परणितु पुण्यवन्ती तेहनि, नेह करी नेमिकुमार ।।२२।।

फाग के अन्य सुन्दरतम वर्णनों में राजुल-मिलाप भी एक उल्लेखनीय स्थल है। वर्णनो के पढने के पश्चात् पाठको के स्वयमेव आँसू बह निकलते है। इस वणन का एक स्थल देखिए—

कनकमि ककण मोडती, तोडती मिणि मिहार।
लूचती केश कलाप, विलाप करि अनिवार ।।७०।।

नयणि नीर काजलि गलि, टलवलि भामिनी भूर ।
किम करू कहि रे साहेलडी, विहि नडि गयो मझनाह ॥७१॥

काव्य के अन्त में कवि ने जो अपना परिचय दिया है, वह निम्न प्रकार है—

श्री मूल सघि महिमा निलो, जती तिलो श्री विद्यानन्द ।
सूरी श्री मल्लिभूषण जयो, जयो सूरी लक्ष्मीचन्द ॥१३५॥
जयो सूरी श्री वीरचन्द गुणिन्द, रच्यो जिणि फाग ।
गाता सामलता ए मनोहर, सुखकर श्री वीतराग ॥१३६॥
जी हाँ मेदिनी मेरु महीधर, द्वीप सायर वगि जाम ।
तिहाँ लगि ए चदो, नदो, सदा फाग ए ताम ॥१३७॥

रचना-काल

कवि ने फाग के रचनाकाल का कही भी उल्लेख नही किया है। लेकिन यह रचना स १६०० के पहले की मालूम होती है।

२ जम्बूस्वामो वेलि

यह कवि की दूसरी रचना है। इसकी एक अपूण प्रति लेखक को उदयपुर (राजस्थान) के खण्डेलवाल दिगम्बर जैन मन्दिर के शास्त्र भण्डार मे उपलब्ध हुई थी। वह एक गुटके मे सग्रहीत है। प्रति जीण अवस्था में है और उसके कितने ही स्थलो से अक्षर मिट गये है। इसमें अन्तिम केवली जम्बूस्वामी का जीवन चरित वर्णित है।

जम्बूस्वामी का जीवन जैन कवियो के लिए आकषक रहा है। इसलिए सस्कृत, अपभ्रश, हिन्दी, राजस्थानी एव अन्य भाषाओ में उनके जीवन पर विविध कृतियाँ उपलब्ध होती है।

'वेलि' की भाषा गुजराती मिश्रित राजस्थानी है, जिस पर डिंगल का प्रभाव है। यद्यपि वेलि काव्यत्व की दृष्टि से उतनी उच्चस्तर की रचना नही है, किन्तु भाषा के अध्ययन की दृष्टि से यह एक अच्छी कृति है। इसमें दूहा, त्रोटक एव चाल छन्दो का प्रयोग हुआ है। रचना का अन्तिम भाग जिसमें कवि ने अपना परिचय दिया है, निम्न प्रकार है—

श्री मूलसघे महिमा निलो, अने देवेन्द्र कीरति सूरि राय ।
श्री विद्यानन्दि वसुधा निलो, नरपति सेवे पाय ॥१॥
तेह वारें उदयो गति लक्ष्मीचन्द्र जेण आण
श्री मल्लिभूषण महिमा धर्णे, नमें ग्यासुद्दीन सुलतान ॥२॥
तेह गुरुचरण कमलनमी, अर्नें वेल्लि रची छे रसाल ।
श्री वीरचन्द्र सूरीवर कहे, गाता पुण्य अपार ॥३॥

जम्बूकुमार केवली हवा, अमें स्वग-मुक्ति दातार ।
जे भवियण भावें भावसे, ते तरसे ससार ॥४॥

कवि ने इसमें भी रचनाकाल का कोई उल्लेख नही किया है ।

३ जिन आन्तरा

यह कवि की लघु रचना है, जो उदयपुर के उसी गुटके मे सग्रहीत है । इसमें २४ तीथकरो के एक के बाद दूसरे तीथकर होने में जो समय लगता है—उसका वणन किया गया है । काव्य-सौष्ठव की दष्टि से रचना सामान्य है । भाषा भी वही है, जो कवि की अन्य रचनाओ की है । रचना का अन्तिम भाग निम्न प्रकार है—

सत्य शासन जिन स्वामीनू , जेहने तेहने रग ।
हो जाते वशे भला, ते नर चतुर सुचग ॥६॥
जगें जनम्यू धन्य तेहनू, तेहनू जीव्यू सार ।
रग लागे जेहने मनें, जिन शासनह मझार ॥७॥
श्री लक्ष्मीचन्द्र गुरु गच्छपती, तिस पाठेंसार श्रृगार ।
श्री वीरचन्द्र गोरे कह्या, जिन आन्तरा उदार ॥८॥

४ सम्बोध सत्ताणु भावना

यह एक उपदेशात्मक कृति है, जिसमे ५७ पद्य है तथा सभी दोहो के रूप में है । इसकी प्रति भी उदयपुर के उसी गुटके में सग्रहीत है जिसमें कवि की अन्य रचनाएँ है । भावना के अन्त में कवि ने अपना परिचय भी दिया है जो निम्न प्रकार है

सूरि श्री विद्यानन्दि जयो, श्री मल्लिभूषण मुनिचन्द्र ।
तस पाटे महिमा निलो, गुरु श्री लक्ष्मीचन्द्र ॥९६॥
तेह कुलकमल दिवसपति, जपतो यति वीरचन्द ।
सुणता भणता ए भावना, पामीइ परमानन्द ॥९७॥

भावना में सभी दोहे शिक्षाप्रद है तथा सुन्दर भावो से परिपूर्ण है । कवि की कहने की शैली सरल एव अथगम्य है । कुछ दोहो का आस्वादन कीजिए—

धम धर्म नर उच्चरे, न धरे धमनो मम ।
धर्म कारन प्राणि हणें, न गणे निष्ठुर कम ॥३॥
धर्म धर्म सहू को कहो, न गहे धम सू नाम ।
राम राम पोपट पडे, बूझे न ते निज राम ॥६॥
धनपाले धनपाल ते, धनपाल नामें भिखारी ।
लछि नाम लक्ष्मी गणु, लाछि लाकडा वहे नारी ॥७॥
दया बीज विण जे क्रिया, ते सघली अप्रमाण ।
शीतल सजल जल भऱ्या, जेम चण्डाल न बाण ॥१९॥

धर्म मूल प्राणी दया, दया ते जीवनी माय ।
भाट भ्रान्ति न आणिए, भ्रान्ते धमनी पाय ॥२१॥
प्राणि दया विण प्राणी ने, एक न इच्छयू होय ।
तेल न बेलू पलिता, सूप न तोय विलोय ॥२२॥
कण्ठ विहूणू गान जिम, जिम विण व्याकरणे वाणि ।
न सोहे धम दया बिना, जिम भोयण विण पाणि ॥३२॥
नीचनी सगति परिहरो, धारो उत्तम आचार ।
दल्लभ भव मानव तणो, जीव तू आलिम हार ॥४०॥

५ सीमन्धर स्वामी

यह एक लघु गीत है जिसमें सीमन्धर स्वामी का स्तवन किया गया है ।

६ चित्तनिरोधक कथा

यह १५ छन्दो की एक लघु कृति है, जिसमें चित्त को वश मे रखने का उपदेश दिया गया है । यह भी उदयपुरवाले गुटके में ही सग्रहीत है । अन्तिम पद्य निम्न प्रकार है—

सूरि श्री मल्लिभूषण जयो जयो श्री लक्ष्मीचन्द्र ।
तास वश विद्यानिलु लाड नीति शृगार ।
श्री वीरचन्द्र सूरी भणी, चित्त निरोध विचार ॥१५॥

७ बाहुबलि वेलि

इसकी एक प्रति उदयपुर के खण्डेलवाल दिगम्बर जैन मन्दिर के शास्त्र भण्डार मे सग्रहीत है । यह एक लघु रचना है लेकिन इसमें विभिन्न छन्दो का प्रयोग किया गया है । त्रोटक एव राग सिन्धु मुख्य छन्द है ।

८ नेमिकुमार रास

यह नेमिनाथ की वैवाहिक घटना पर एक लघु कृति है । इसकी प्रति उदयपुर के अग्रवाल दिगम्बर जैन मन्दिर के शास्त्र भण्डार में सुरक्षित है । रास की रचना सवत् १६१३ मे समाप्त हुई थी जैसा कि निम्न छन्दो से ज्ञात होता है—

तेहनी भक्ति करी घणी, मुनि वीरचन्द्र नि दीघी बुधि ।
श्री नेमितणा गुण वर्णव्या, पामवा सघली रिधि ॥१६॥
सवत् सोलताहोत्तरि, श्रावण सुदि गुरुवार ।
दशमी को दिन रुभडो, रास रच्चो मनोहार ॥१७॥

उक्त रास में भट्टारक ज्ञानभूषण एव शुभचन्द्र को श्रद्धाजलि समर्पित की गयी है।

इस प्रकार भट्टारक वीरचन्द्र को अब तक जो कृतियाँ उपलब्ध हुई है वे इनके साहित्य प्रेम का परिचय प्राप्त करने के लिए पर्याप्त है। राजस्थान एव गुजरात के शास्त्र-भण्डारो की पूर्ण खोज होने पर इनकी अभी और भी रचनाएँ प्रकाश में आने की आशा है।

नेमिकुमार रास

मुनि वीरचन्द गु २१ वो स ३६९ पत्र, अग्रवाल दि जैन मन्दिर, उदयपुर।

दूहा— नेमकुमार गगति गया, इन्द्रनि हवू तव जाण।
सुरपति फणपति आवीआ, आवी आचदनि भाण ॥१॥
करीय कलाणक पाचसु, इद्र गया नीज धाम।
पुण्य तणा फल देखवी, जपता नेम जीनू नाम ॥२॥
मूल सघ माहि जाणी, सरसती गछ सुणगार।
श्री पद्मनदि पहि भलो, सुरी सकलकीरति भवतार ॥३॥
जिणि मिथ्या मोह नीवारीड, प्रकट कीउ सुभ सान।
धर्म्माधर्म्म प्रकाशिनि, कीधो चीद्रूप ध्यान ॥४॥
तस उदआचलि उपनो, भुवन कीर्ति तस नाम।
तस तेजि करी सोही, जसो डगमतो भाग ॥५॥
तस पटि जिती उपमा, श्री ज्ञान भूषण मुनि राय।
देश विदेशि विहारकरी, भव्य लगाया पाय ॥६॥
तस पद पकज मोहनु, श्री विजयकीर्ति जिस्यो अन्द।
वाणीअ अमृत वर सुणो, जेण दीथे नयणा नन्द ॥७॥
तस कुलि कमल प्रकासीउ, भट्टारक शुभचन्द्र सूरी।
वाणीइ सुर नर मोही आ, कुमती नाग दूरि ॥८॥
सु कहता सुभ कीर्तिजे, जेहनी देशि विदेशि।
विक्षात मद गज भजनो, रजनो राय नरेस ॥९॥
भ कहिता भक्तिकरी, जिणवर तणी सुचग।
सास्त्र सीधात रचि घणा, मनि बहु आणी चग ॥१०॥
च कहिता जे चद्रमा, ज्यम कमलनो करि विकास।
सत्य धर्मामृत उपदेशिनि, छोडवि ससार पास ॥११॥
द्र कहिता छ द्रव्यनु करि ते सरस बखाण।
भट्टारक भव भय हरि, श्री शुभचन्द्र सुजाण ॥१२॥
चहू अक्षिर नाम नीपनु, मुनी वीरचन्द्र गुर तेही
तरस पसाई नेमनु, रास करो मइ ऐही ॥१३॥

सास्त्र माहि भइ साभलि, कवनि रचू नेमजीनु सार ।
भविमण भावि भण जो, जिस पाम्यो जयकार ॥१४॥
जवाछ नयर सोहामणु, ज्याहृया जिनवर भुवन उत्तग ।
आदिनाथ महि विठो, जेहनु नीमल सोहि अग ॥१५॥
तेहनी भक्ति करी घणी, मुनि वीरचन्द्र नि दीधी बुधि,
श्री नेमतणा गण वणया, पामवा सछली रिधि ॥१६॥
सवत सोलनाहोत्तरि, श्रावण श्रुदि गुरुवार ।
दशमि को दिन रूमडो, रास करो मर सार ॥१७॥
वस्तु—
सुणो भवियण रे, रास ए सार मनोहर ॥
नेम कुमार तणो सवडो, भणो ए सार सदूजल ॥
भवीयण भावि भण जो, तहम पुहचि सिथली आस निभर ।
लीला लाछि लक्षमी लहो, लहिरयो सगि निवास ।
ससार तणा सुख भोगवी, पदि भुगति होसि नीवास ॥१॥
इति श्री नेमकुमार रास समाप्त श्री ।छा।
सवत् १६३८ वर्षे फागुण शुदि १५ वार शुकर ।लक्षत।
शुभ भवतु कल्याणमस्तु ॥

भट्टारक क्षेमकीर्ति

[सवत् १७३० से १७५७ तक]

भट्टारक क्षेमकीर्ति प्रथम दिगम्बर जैन सन्त है जिनके जीवन का पूरा इतिवृत्त मिलता है। क्षेमकीर्ति १७वी शताब्दी के महान् विद्वान् एव प्रभावशाली भट्टारक थे। ६० वर्ष के जीवन में उन्होने राजस्थान, गुजरात एव मध्य प्रदेश मे विहार करके जन-जन में भगवान् महावीर के सिद्धान्तो का प्रचार किया तथा स्थान-स्थान पर प्रतिष्ठा, विधान एव व्रत-पूजा करके लोगो मे धार्मिक निष्ठा उत्पन्न की।

उनका जन्म भीलोडा नगर में सवत् १६९७ मे मगसिर सुदी ३ शुक्रवार के* दिन हुआ। इनके पिता का नाम साह खातु भाई एव माता का नाम गोगा बाई था। जब ये ७ वर्ष के ही थे तभी से आचाय देवेन्द्रकीर्ति के चरणो में रहने लगे। उस दिन अक्षय तृतीया का पावन दिन था। १६वें वष में पदापण करते ही उन्होने अणुव्रत धारण कर लिये तथा पच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के शुभावसर पर भट्टारक देवेन्द्र-कीर्ति ने इसे अपना शिष्य घोषित कर किया और इनका नाम ब्रह्मचारी क्षेमा रखा गया। १४ वर्ष तक ब्रह्मचारी क्षेमा अपने गुरु के पास रहे और समस्त शास्त्रो का गहरा अध्ययन किया। भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति ने उनकी प्रतिष्ठा, व्यक्तित्व एव अध्ययनरुचि को देखकर उन्हें अपना प्रमुख शिष्य घोषित कर दिया और अपनी मृत्यु के पश्चात् उन्हें भट्टारक पद देने की अपनी हार्दिक इच्छा व्यक्त की। सवत् १७३० माह सुदी २ के दिन भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति का स्वर्गवास हुआ।

सवत् १७३० माह सुदी २ गुरुवार के शुभ दिन ब्र क्षेमा को भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के पट्ट पर अभिषेक किया गया और उनका नाम क्षेमकीर्ति रखा गया। भट्टारक बनने के पश्चात् सवप्रथम वे उदयपुर पधारे। वहाँ विभिन्न उत्सव, व्रत एव पूजा विधान आयोजित किये गये। उदयपुर मे उन्होने सर्वप्रथम अपना चातुर्मास किया। चातुर्मास में कमदहन पूजा का विशाल आयोजन किया गया और बृहद् आदिपुराण का विशेष प्रवचन किया गया। इसके पश्चात् भट्टारक क्षेमकीर्ति ने देश के विभिन्न भागो एव प्रदेशो में विहार किया और जनता मे पूजा-विधान एव उत्सवो के माध्यम से अपूर्व धार्मिक जागृति उत्पन्न की। कुछ प्रमुख ग्राम एव नगर जिन्हें भट्टारक श्री क्षेमकीर्ति ने अपने चरणरज से पावन किया निम्न प्रकार हैं

इस वर्ष गिरिपुर (डूँगरपुर)

सागवाडा वशावलि, बुहरानपुर, महेश्वर नगरो को भी पावन किया। सवत् १७३२ का चातुर्मास महेश्वर मे किया। वहाँ उज्जैन नगर के बाई जानु को १८३४ व्रत पूजा विधान विशेष रूप से रखा गया। इसी वष भटटारक जी बडवानी सिद्धचन्द्र की यात्रा की। यात्रा समाप्ति के पश्चात् पूजा एव उद्यापन किया। इसी वष पूज्य श्री आसेरगढ पधारे वहा विविध प्रकार के व्रतोद्यापन एव उत्सव सम्पन्न हुए। फिर बुरहानपुर पधारे वहा कमदहन पूजा, दशलक्षण, सोहलकारण पूजा एव उद्यापन किये और समाज मे धार्मिक जाग्रति उत्पन्न की। वहाँ से खोरमपुर, रावेर, अडाबाद, महुआ आदि नगरो में विहार किया।

चार्तुमासो का विवरण

सवत् १७३१	उदयपुर	सवत् १७४४	सागवाडा
१७३२	महेश्वर	१७४५	उदयपुर
१७३३	सूरत	१७४६	उदयपुर
१७३४	अहमदाबाद	१७४७	उदयपुर
१७३५	कोट	१७४८	आगरा
१७३६	सागवाडा	१७४९	दारानगर
१७३७	सागवाडा	१७५०	उदयपुर
१७३८	डूँगरपुर	१७५१	उदयपुर
१७३९	डूँगरपुर	१७५२	अहमदाबाद
१७४०	राजनगर	१७५३	डूँगरपुर
१७४१	अहमदाबाद	१७५४	सागवाडा
१७४२	सूरत	१७५५	कोट
१७४३	अहमदाबाद	१७५६	सावली
		१७५७	अहमदाबाद

मगसिर वदी ४, सवत् १७५७ मे स्वगवास हुआ।

भट्टारक पटटावली में भटटारक क्षेमकीर्ति के जीवन का पूरा इतिवत्त दे रखा है। यह ऐसी प्रथम पट्टावली है जिसमें जन्म से लेकर मृत्यु तक प्रत्येक घटना तिथि एव सवत् तथा वार के साथ प्रस्तुत की गयी है। पूरी पट्टावली भट्टारक क्षेमकीर्ति का एक प्रकार से इतिवृत्त है। जिसकी एक प्रति मन्दिर उदयपुर में सग्रहीत है।

पूजा प्रतिष्ठा का युग

१७वी शताब्दी पूजा प्रतिष्ठा एव व्रत विधान का युग था। इन पूजा तथा व्रत उपवास का विधान ये भट्टारक गण कराते और गाँव-गाँव मे विहार करके धर्म का

प्रचार करते। दशलक्षण, षोडशकारण, कमदहन पूजा, बारहसौ चौतीस व्रतोद्यापन पूजा, तीस चौबीसी पूजा आदि प्रमुख पूजा विधान थे और भट्टारक क्षेमकीर्ति इतने अधिक पूजापाठी बन गये थे कि इन्हे चातुर्मास के अतिरिक्त गुराज, मध्यप्रदेश एव राजस्थान के प्रमुख नगरो एव ग्रामो मे इसीलिए विहार करना पडता। इन्होंने अपने जीवन मे ४०० से अधिक उत्सव विधान कराये होगे।

ढूँढाहड प्रदेश की यात्रा

सवत् १७४७ की चैत्र वदी ३ के दिन ये सम्मेदशिखर की यात्रा के लिए पधारे तथा मालपुरा, नारायण, मौजमाबाद, सागानेर, आमेर, बसवा, मथुरा के मन्दिरो के दर्शन किये तथा अपने सघ को विदा करके वापस नारायण आये और वहाँ भट्टारक जगतकीर्ति जी से भेंट की जो आमेर गादी के भट्टारक थे। सवत् १७५१ में आपने बीकानेर की ओर विहार किया जहा देवकरण दोशी के पुत्र लालचन्द्र ने कमदहन पूजा महोत्सव किया था। वहाँ से आप पाली गये और तेजसिंह-नारायणदास ने मिल करके तीस चौबीसी पूजा विधान सम्पन्न कराया।

व्यक्तित्व

भट्टारक क्षेमकीर्ति अपने समय के सबसे प्रतिभाशाली भट्टारक थे। उनकी यश एव कीर्ति सारे देश मे और विशेषत गुजरात एव बागड प्रदेश मे सवत्र व्याप्त थी और जनता इनके दर्शनो के लिए पलक पावडे बिछाये रहती थी। वे जहा भी जाते उनका शानदार स्वागत होता और पूजा प्रतिष्ठा एव महोत्सव आयोजित किये जाते जिससे सारे देश मे धार्मिक जाग्रति फैल जाती।

साहित्य निर्माण

भट्टारक क्षेमकीर्ति ने साहित्य निर्माण किया या नही इस सम्बन्ध मे भट्टारक पट्टावली मौन है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उनकी इस ओर रुचि नही थी और वे ग्रन्थो के स्वाध्याय की ओर ही अपने शिष्यो का ध्यान दिलाते रहते थे।

भट्टारक शुभचन्द्र (द्वितीय)

[सवत् १७२५ से १७४८ तक]

शुभचन्द्र के नाम से कितने ही भट्टारक हुए है। भट्टारक सम्प्रदाय मे ४ शुभचन्द्र गिनाये गये है[1]—

१ कमलकीर्ति के शिष्य	भट्टारक शुभचन्द्र
२ पद्मनन्दि के शिष्य	,,
३ विजयकीर्ति के शिष्य	,,
४ हृषचन्द्र के शिष्य	,,

इनमे प्रथम काष्ठासघ के माथुरगच्छ और पुष्कर गण मे होनेवाले भ कमलकीर्ति के शिष्य थे। इनका समय १६वी शताब्दी का प्रथम-द्वितीय चरण था। दूसरे शुभचन्द्र भ पद्मनन्दि के शिष्य थे, जिनका भट्टारक काल स १४५० से १५०७ तक था। तीसरे भ शुभचन्द्र भट्टारक विजयकीर्ति के शिष्य थे जिनका हम पूव पृष्ठो मे परिचय दे चुके है। चौथे शुभचन्द्र भट्टारक हृषचन्द्र के शिष्य बताये गये है। इनका समय १७२३ से १७४९ माना गया है। ये भट्टारक भुवनकीर्ति की परम्परा मे होनेवाले भ हृषचन्द्र (स १६९८-१७२३) के शिष्य थे। लेकिन आलोच्य भट्टारक शुभचन्द्र भट्टारक अभयचन्द्र के शिष्य थे जो भटटारक रत्नकीर्ति के प्रशिष्य एव भट्टारक कुमुदचन्द्र के शिष्य थे जिनका परिचय यहाँ दिया जा रहा है—

भट्टारक अभयचन्द्र के पश्चात् स १७२१ की ज्येष्ठ वदी प्रतिपदा के दिन पारबन्दर मे एक विशेष उत्सव किया गया। देश के विभिन्न भागो से अनेक साधु सन्त एव प्रतिष्ठित श्रावक उत्सव में सम्मिलित होने के लिए नगर मे आये। शुभ मुहूर्त में शुभचन्द्र का भट्टारक गादी पर अभिषेक किया गया। सभी उपस्थित श्रावको ने शुभचन्द्र की जयकार के नारे लगाये। स्त्रियो ने उनकी दीर्घायु के लिए मगल गीत गाये। विविध वाद्य यन्त्रो से सभास्थल गूँज उठा और उपस्थित जनसमुदाय ने गुरु के प्रति हार्दिक श्रद्धाजलियाँ अर्पित की।[2]

शुभचन्द्र ने भट्टारक बनते ही अपने जीवन का लक्ष्य निर्धारित किया।

---

१ देखिए भट्टारक सम्प्रदाय, पृ स ३०६।

२ तब सज्जन उलट अग धरे, मधुरे स्वरे माननी गान करे (११)
ताहाँ बहु विध वाजित्र वाजता, सुर नर मन माहो निरखता (१२)

यद्यपि अभी वे पूणत युवा थे,[1] उनके अग-प्रत्यग से सुन्दरता टपक रही थी, लेकिन उन्होने अपने आत्म-उद्धार के साथ-साथ समाज के अज्ञानान्धकार को दूर करने का बीडा उठाया और उन्हे अपने इस मिशन में पर्याप्त सफलता भी मिली। उन्होने स्थान-स्थान पर विहार किया। राजस्थान से उन्हे अत्यधिक प्रेम था इसलिए इस प्रदेश मे उन्होने बहुत भ्रमण किया और अपने प्रवचनो द्वारा जनसाधारण के नैतिक, सामाजिक एव राष्ट्रीय विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

शुभचन्द्र नाम के ये पाचवें भटटारक थे, जिन्होने साहित्यिक एव सास्कृतिक कार्यो में विशेष रुचि ली। शुभचन्द्र गुजरात प्रदेश के जलसेन नगर में उत्पन्न हुए। यह नगर जैन समाज का प्रमुख केन्द्र था तथा हूबड जाति के श्रावको का वहाँ प्रभुत्व था। इन्ही श्रावको मे हीरा भी एक श्रावक थे जो धनधान्य से पूण तथा समाज द्वारा सम्मानित व्यक्ति थे। उनकी पत्नी का नाम माणिक दे था। इन्ही की कोख से एक सुन्दर बालक का जन्म हुआ, जिसका नाम नवलराम रखा गया था। बालक नवल अत्यधिक व्युत्पन्न मति था इसलिए उसने अल्पायु मे ही व्याकरण, न्याय, पुराण, छन्द-शास्त्र, अष्टसहस्री एव चारो वेदो का अध्ययन कर लिया।[2] १८वी शताब्दी में भी गुजरात एव राजस्थान में भटटारक साधुओ का अच्छा प्रभाव था। इसलिए नवलराम को बचपन से ही इनकी सगति में रहने का अवसर मिला। भ अभयचन्द्र के सरल जीवन से ये अत्यधिक प्रभावित थे इसलिए उन्होने भी गृहस्थ जीवन के चक्कर में न पडकर आजन्म साधु जीवन का परिपालन करने का निश्चय कर लिया। प्रारम्भ में अभयचन्द्र से ब्रह्मचारी पद की शपथ ली और इसके पश्चात् वे भट्टारक बन गये।

शुभचन्द्र के शिष्यो में प गोपाल, गणेश, विद्यासागर, जयसागर, आनन्द-सागर आदि के नाम विशेषत उल्लेखनीय है। श्री गोपाल ने तो शुभचन्द्र के कितने ही पदो में प्रशसात्मक गीत लिखे है जो साहित्यिक एव ऐतिहासिक दोनो प्रकार के है।

भ शुभचन्द्र साहित्य निर्माण मे अत्यधिक रुचि रखते थे। यद्यपि उनकी कोई बडी रचना उपलब्ध नही हो सकी है, लेकिन जो पद साहित्य के रूप मे इनकी कृतिया मिली है, वे इनकी साहित्य रसिकता की ओर पर्याप्त प्रकाश डालनेवाली है। अब तक इनके निम्न पद प्राप्त हुए है—

---

१ छण रजनी कर वदन विलोकि, अर्द्ध ससी सम भाल।
पकज पत्र समान सुलोचन, ग्रीवा कबु विशाल रे ॥८॥
नाशा शुक चची सम सुन्दर, अधर प्रवाली वृ द।
रक्त वर्ण द्वि पक्ति विराजित नीरखता आनन्द रे ॥६॥
दिम दिम मद्दन तबलन फेरी, तत्ताथेई करत।
पंच शब्द वाजित्र ते बाजे नादे नभ गज्जत रे ॥२१॥

२ व्याकर्ण तर्क वितर्क अनोपम, पुराण पिगल भेद।
अष्टसहस्री आदि ग्रन्थ अनेक जु ह्रौं विद्द जाणो वेद रे ॥
—श्रीपाल कृत एक गीत

१ पेखो सखी चन्द्रसम मुख चन्द्र
२ आदिपुरुष भजो आदि जिनेन्द्रा
३ कौन सी सुध ल्यावे श्याम की
४ जपो जिन पाश्वनाथ भवतार
५ पावन मति मात पद्मावति पेखता
६ प्रात समये शुभ ध्यान धरीजे
७ वासुपूज्य जिन विनती सुणो वासुपूज्य मेरी विनती
८ श्री सारदा स्वामिनी प्रणमि पाय, स्तूब वीर जिनेश्वर विबुध राय
९ अज्झारा पार्श्वनाथनी वीनती

उक्त पदो एव विनतियो के अतिरिक्त अभी भ शुभचन्द्र की और भी रचनाएँ होगी, जो किसी गुटके के पृष्ठो पर अथवा किसी शास्त्र भण्डार मे स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप मे अज्ञातावस्था मे पडी हुई अपने उद्धार की बाट जोह रही होगी।

पदो मे कवि ने उत्तम भावो को रखने का प्रयास किया है। ऐसा मालूम होता है कि शुभचन्द्र अपने पूववर्ती कवियो के समान 'नेमि-राजुल' की जीवन घटनाओ से अत्यधिक प्रभावित थे इसलिए एक पद मे उन्होने 'कौन सभी सुध ल्यावे श्याम' का मार्मिक भाव भरा। इस पद से स्पष्ट है कि कवि के जीवन पर मीरा एव सूरदास के पदो का प्रभाव भी पडा है।

कौन सखी सुध ल्यावे श्याम की।
मधुरी धुनी मुखचन्द्र विराजित, राजमति गुण गावो ।।श्याम ।।१।।
अग विभूषण मनीमय मेरे, मनोहर माननी पावे।
करो कछू तत मन्त मेरी सजनी, मोहि प्राननाथ मीलावे ।।श्याम ।।२।।
गजगमनी गुण मन्दिर स्यामा, मनमथ मान सतावे।
कहा अवगुन अब दीन दयाल छोरि मुगति मन भावे ।।श्याम ।।३।।
सब सखी मिली मन मोहन के ढिग जाई कथा जु सुनावे।
सुनो प्रभु श्री शुभचन्द्र के साहिब, कामिनी कुल क्यो लजावे ।।श्याम ।।४।।

कवि ने अपने प्राय सभी पद भक्ति रस प्रधान लिखे है। उनमे विभिन्न तीथकरो का स्तवन किया गया है। आदिनाथ स्तवन का एक पद देखिए—

आदि पुरुष भजो आदि जिनेन्दा ।।टेक।।
सकल सुरासुर शेष सु व्यन्तर, नर खग दिनपति सेवित चन्दा ।।१।।
जुग आदि जिनपति भये पावन, पतित उदारण नाभि के नन्दा।
दीन दयाल कृपानिधि सागर, पार करो अध तिमिर निदेन्दा ।।२।।
केवल ग्यान थे सब कछु जानत, काह कहू प्रभु मो मति मन्दा।
देखत दिन-दिन चरण सरणते, विनती करत यो सूरि शुभ चन्दा ।।३।।

समय

शुभचन्द्र सवत् १७४५ तक भट्टारक रहे। इसके पश्चात् रत्नचन्द्र को भट्टारक पद पर सुशोभित किया गया। भट्टारक रत्नचन्द्र का एक लेख सवत् १७४८ का मिला है, जिसमे एक गीत की प्रतिलिपि प श्रीपाल के परिवार के सदस्यो के लिए की गयी थी ऐसा उल्लेख किया गया है। इस तरह भ शुभचन्द्र ने २४-२५ वष तक देश के एक कोने से दूसरे कोने तक भ्रमण करके साहित्य एव सस्कृति के पुनरुत्थान का जो अलख जगाया था वह सदैव स्मरणीय रहेगा।

शाकम्भरी प्रदेश के प्रभावक आचार्य

शाकम्भरी प्रदेश प्रारम्भ से ही जैनाचार्यों, भट्टारको, मुनियो एव विद्वानो का प्रदेश रहा है। इन सन्तो ने प्रदेश मे विहार करके जन-जन को भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित अहिंसा, सत्य, अचौय, ब्रह्मचय एव अपरिग्रह को जीवन में उतारने का उपदेश दिया था। यही कारण है कि इस प्रदेश मे भगवान महावीर की अहिंसा का जनता पर पूण प्रभाव रहा और जनसामान्य की भावना प्राणीमात्र को बचाने की रही। यह पूरा प्रदेश ही तीर्थ के समान पूजित एव सम्मानित रहा। साँभर, नरायण, नागौर, अजमेर, मौजमाबाद-जैसे नगरो मे जैन तीथयात्री यहाँ के मन्दिरो की, जैन सन्तो एव शास्त्र भण्डारो की वन्दना करने जाते रहते थे। सिद्धसेन सूरि ने अपनी पुस्तक सकल-तीथ स्तोत्र में साँभर प्रदेश के कुछ प्रमुख तीर्थो का निम्न प्रकार वणन किया है—

खडिल्ल डिडूआणय नराण हरसउर खट्टउ देसे,
नागउर मुव्विदतिसु सभरि देसमि वदेसि ॥

नागौर एव अजमेर-जैसे नगर आचार्यों एव भट्टारको के केन्द्र ही नही रहे किन्तु साहित्य एव सस्कृति के प्रचार-प्रसार मे भी ये प्रमुख अभियन्ता रहे तथा साहित्य की अपूर्व सुरक्षा करके इस क्षेत्र में गौरवशाली काय किया। अजमेर तो १०वी ११वी शताब्दी से ही जैन सन्तो की गतिविधियो का प्रमुख नगर रहा। सवत् ११९८ मे इस नगर में महाराजाधिराज अर्णोराजादेव के शासन मे आवश्यकनियुक्ति की प्रतिलिपि की गयी थी[1] जो नगर की १२वी शताब्दी में सम्पन्न साहित्यिक गतिविधियो की ओर सकेत करती है। अजमेर में १३वी शताब्दी मे ही भट्टारको की गादी स्थापित हो गयी थी और भट्टारक शुभकीर्ति (स १२७१) तथा भट्टारक रत्नकीर्ति एव भट्टारक प्रभाचन्द्र (स १३९०) का इसी नगर में पट्टाभिषेक हुआ था।[2]

अजमेर के पश्चात् जब भट्टारको का देहली केन्द्र बना और भट्टारक प्रभाचन्द्र ने देहली में जाकर सम्राट् फिरोजशाह तुगलक के समय दिगम्बर भट्टारको के त्याग एव तप की प्रभावना की तो सारे देश में प्रसन्नता की लहर दौड गयी तथा दिगम्बर सम्प्रदाय के साधुओ एव भट्टारको का देश मे जन-जन द्वारा स्वागत होने लगा।[3] देहली

---

१ राजस्थान के प्राचीन नगर—डॉ के सी जेन पृ स ३०६।
२ भट्टारक पट्टावली—महावीर भवन, जयपुर।
३ बुद्धिविलास—बखतराम साह, पृष्ठ सख्या ७५-७६।

में होनेवाले भट्टारक शुभचन्द्र, प्रभाचन्द्र एव जिनचन्द्र जैसे भट्टारको का राजस्थान की ओर विशेष विहार होता रहा और वे शाकम्भरी प्रदेश की जनता को अपने दिव्य सन्देशो से कृताथ करते रहे। सवत् १५८१ में पुन भट्टारक रत्नकीर्ति ने नागौर में स्वतन्त्रत भट्टारक गादी की स्थापना की जिससे सारे मारवाड प्रदेश मे धम एव साहित्य का प्रचार किया जा सके तथा जनता के अधिक सम्पर्क मे आ सके। नागौर की गादी पर एक पट्टावली के अनुसार २७ भट्टारक हुए।[१] अन्तिम भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति थे जिनका अभी कुछ ही वर्ष पूव स्वगवास हुआ था। इस गादी के कारण राजस्थान मे तथा विशेषत साँभर प्रदेश एव मारवाड में जैन धम का अधिक प्रचार हो सका और साहित्य सुरक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया। नागौर का शास्त्र भण्डार राजस्थान में ही नही किन्तु देश मे सबसे महत्त्वपूर्ण तथा विशाल शास्त्र भण्डार माना जाता है।

नागौर शाखा के भट्टारको का पट्टाभिषेक प्रमुख रूप से नागौर के अतिरिक्त अजमेर, जोबनेर, मारोठ-जैसे नगरो में हुआ। भट्टारको के पट्टाभिषेक मे विभिन्न नगरो एव गाँवो की जैन समाज भारी सख्या मे भाग लेती थी और इस प्रकार ये समारोह भी सैकडो वर्षो तक धर्म प्रभावना के एक अग माने जाते रहे। आमेर गादी के भट्टारक जगत्कीर्ति के पट्टाभिषेक में राजस्थान के ही नही किन्तु देहली, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश में से भी भारी सख्या में श्रावकगण सम्मिलित हुए थे।[२]

सवत् १७४५ मे भट्टारक रत्नकीर्ति (द्वितीय) ने अजमेर मे पुन भट्टारक गादी की स्थापना की। यद्यपि इस गादी का सम्बन्ध नागौर गादी से पूरी तरह नही टूटा था लेकिन इन भट्टारको की अलग ही परम्परा चली। भट्टारक विजयकीर्ति सवत (१८०२) इस गादी के प्रसिद्ध भट्टारक थे। अजमेर मे जो भट्टारकीय शास्त्र भण्डार है वह भी इसी गादी के भट्टारको की देन है।

शाकम्भरी प्रदेश मे केवल नागौर एव अजमेर के भट्टारको का ही विहार नही होता था किन्तु आमेर एव बागड प्रदेश के भट्टारक भी इन प्रदेशो मे विहार करते थे और साहित्य एव सस्कृति के प्रचार मे अपना योगदान देते थे। सवत् १७४८ मे बागड के भट्टारक क्षेमकीर्ति ने सम्मेद शिखर की यात्रा के लिए जब सघ सहित विहार किया तो मालपुरा, नरायणा, मौजमाबाद, साँगानेर, आमेर आदि नगरो की भी वन्दना की तथा आमेर के भट्टारक श्री जगत्कीर्तिजी से भेंट की।[3]

---

१ भट्टारक सम्प्रदाय—डॉ वी पी जोहरापुरकर, पृ स १२४-२५।

२ भट्टारक पट्टावली—महावीर भवन, जयपुर।

३ त्यहां श्री श्रीपूज्य गिरिपुर आवो श्री सघनि शिरम दर्शनि। सागयत्तन उदयपुर ना श्री सघनि वदावीनि चेत्र बदी ३ दिने श्री सम्मेदशिखरजी यात्रा साम चाल्या मालपुर नराणि मौजाबद सागानेर आबेर मथुरा ने श्री सघानि वदावीनि नराणि भट्टारक श्री जगत्कीर्तिनि मलीनि। संवत् १७४८ नु चौमासो आगरे कीधु।

भट्टारक गादियों की स्थापना

भट्टारक जिनचन्द्र के समय मे नागौर में स्वतन्त्र भट्टारक गादी की स्थापना हुई। पहले ये मण्डलाचाय कहलाते थे लेकिन कुछ समय पश्चात् ये भी अपने आपको भट्टारक लिखने लगे।[1] इस भट्टारक परम्परा मे निम्न प्रकार भट्टारक हुए—

१ भ रत्नकीर्ति
२ भ भुवनकीर्ति, सवत् १५७२, आषाढ सुदी २, जाति छावडा[2]
३ भ विशालकीर्ति स १५०१
४ भ लक्ष्मीचन्द्र, सवत् १५११, जाति छाबडा
५ भ सहस्रकीर्ति, सवत् १६३१, जाति पाटनी
६ भ नेमिचन्द, सवत् १६५०, जाति ठोलिया
७ भ यशकीर्ति, स १६७२, गोत्र पाटनो
८ भ भानुकीर्ति, स १६९०, गोत्र गगवाल
९ भ श्रीभूषण, स १७०५, गोत्र पाटनी
१० भ धमचन्द्र, स १७१२, गोत्र सेठी
११ भ देवेन्द्रकीर्ति, स १७२७, गोत्र सेठी
१२ भ अमरेन्द्रकीर्ति,[3] स १७३८

भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति के पश्चात् भ रत्नकीर्ति (द्वितीय) हुए। इनके दो शिष्य थे—एक विद्यानन्द और दूसरे ज्ञानभूषण। भ रत्नकीर्ति कुछ समय तक नागौर गादी पर रहने के पश्चात् अजमेर में स्वतन्त्र भट्टारक गादी की स्थापना की। नागौर की गादी पर अपने शिष्य ज्ञानभूषण को भट्टारक बना दिया। इसके पश्चात् निम्न भट्टारक और हुए—

१३ रत्नकीर्ति द्वितीय
१४ ज्ञानभूषण
१५ चन्द्रकीर्ति
१६ पद्मनन्दि
१७ सकलभूषण
१८ सहस्रकीर्ति
१९ अनन्तकीर्ति
२० हषकीर्ति
२१ विद्याभूषण
२२ हेमकीर्ति

---

१ गुटका दि जैन मन्दिर, पाटोदी, सरया १५२।
२ भट्टारक सम्प्रदाय में डॉ जोहरापुरकर ने भ धर्मकीर्ति का नाम और दिया है।
३ भ सम्प्रदाय में अमरेन्द्रकीर्ति के स्थान पर सुरेन्द्रकीर्ति का नाम दिया है।

२३ क्षेमेन्द्रकीर्ति
२४ मुनीन्द्रकीर्ति
२५ कनककीर्ति
२६ देवेन्द्रकीर्ति

भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति नागौर गादी के अन्तिम भट्टारक थे जिनका स्वगवास अभी कुछ ही वर्षों पहले हुआ है। नागौर गादी का सम्बन्ध नागपुर, अमरावती आदि विदभ के नगरो से भी रहा है तथा महाराष्ट्र के अन्य नगरो मे जहा मारवाडी व्यापारी रहते है वहाँ वे भी जाया करते थे।

सवत् १७५१ में भट्टारक रत्नकीर्ति ने अजमेर में जब भट्टारक गादी की स्थापना की तो उनका पुन पट्टाभिषेक आयोजित किया गया। इस वष जोबनेर में एक पच-कल्याणक प्रतिष्ठा समारोह हुआ जिसकी प्रतिष्ठा सम्पन्न करानेवाले भट्टारक रत्नकीर्ति ही थे। सघी जैसा ने रथ प्रतिष्ठा की थी।

अजमेर की इस पट्ट पर निम्न भट्टारक हुए—

१ भ रत्नकीर्ति
२ भ विद्यानन्द (स १७६६)
३ भ महेन्द्रकीर्ति (स १७६९)
४ भ अनन्तकीर्ति (स १७७३)
५ भ भुवनभूषण (स १७९७)
६ भ विजयकीर्ति (स १८०२)
७ भ त्रिलोकेन्द्रकीर्ति
८ भ भुवनकीर्ति
९ भ रतनभूषण
१० भ पद्मनन्दि

भट्टारक पद्मनन्दि अजमेर गादी के अन्तिम भट्टारक थे। उक्त सभी भट्टारको ने राजस्थान के विभिन्न भागो मे विहार किया और भगवान् महावीर के सन्देश को जन-जन तक पहुँचाने का प्रयास किया। इन भट्टारको के अजमेर चबूतरे बने हुए है। सवत् १७६९ में भट्टारक रतनकीर्ति व भट्टारक विद्यानन्द ने चबूतरा बनवाया। सवत् १८१० में भट्टारक विजयकीर्ति ने अपने गुरु भवनभूषण का चबूतरा बनवाया। सवत् १८५२ में अजमेर मे भट्टारक भुवनकीर्ति के तत्त्वावधान मे एक विशाल प्रतिष्ठा का आयोजन किया गया। सघही धर्मदास इस प्रतिष्ठा के आयोजक थे तथा अजमेर पर उस समय सिंधिया दौलतराव का शासन था।[1]

---

१ सवत् १८५२ वैशाख मासे शुक्लपक्षे तिथि पचानण गुरुवासरे अजमेर महागुर्गे सीधिया दौलतराबजी राज्ये श्री मूलसघे भ श्री भुवनकीर्तिस्तदाम्नाये गगवाल गोत्रे सघही धर्मदासेन इद प्रतिष्ठा करायिता।

वैसे तो सभी भट्टारक विद्वान्, साहित्य-सेवी एव श्रमण सस्कृति के प्रमुख प्रचारक थे लेकिन इनमे निम्न भट्टारको की सेवाएँ विशेषत उल्लेखनीय है—

भट्टारक पद्मनन्दि

भट्टारक पद्मनन्दि प्रभाचन्द्र के शिष्य थे। भट्टारक प्रभाचन्द्र की आज्ञा से गुराज क्षेत्र में विधि-विधान से प्रतिष्ठा सम्पन्न कराने के लिए उन्हे वहाँ भेजा गया था। एक बार वहाँ के श्रावको ने भट्टारक प्रभाचन्द्र से वहा की प्रतिष्ठा सम्पन्न कराने की प्राथना की लेकिन वे वहाँ नही जा सके तो उन्होने आचार्य पद्मनन्दि को ही सूरी मन्त्र देकर भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित कर दिया।[1] भट्टारक पट्टावलि मे पद्मनन्दि का जो परिचय मिलता है वह निम्न प्रकार है—

सवत् १३८५, पौष सुदी ७, पद्मनन्दिजी गृहस्थ वष १०, मास ७, दीक्षा वर्ष २३, मास ५, गृहस्थ वर्ष ६५, दिन १८, अन्तर दिन १०, सव आयु वष ९९, मास ०, दिन २८।

पद्मनन्दि पर सरस्वती का पूरा वरदहस्त था। एक बार उन्होने पाषाण की सरस्वती प्रतिमा को मुख से बुलाया था ऐसा उल्लेख मिलता है।[2] आचाय पद्मनन्दि अपने समय के बडे विद्वान् भट्टारक थे। इनके सघ मे अनेक साधु एव साध्वियाँ थी। इनके चार शिष्य प्रधान थे। इनमें भटटारक सकलकीर्ति ने गुजरात मे, भट्टारक शुभचन्द्र ने देहली में, भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति ने सूरत मे भट्टारक गादी की स्थापना की। पद्मनन्दि की १५ रचनाएँ प्राप्त हो चुकी है जो सभी सस्कृत भाषा मे निबद्ध है। सागानेर में सघीजी के मन्दिर में जो शान्तिनाथ की प्रतिमा है, जिसकी प्रतिष्ठा इन्ही के द्वारा सवत् १४६४ में अजमेर मे सम्पन्न हुई थी।[3] इसी तरह इनके द्वारा प्रतिष्ठापित मूर्ति भरतपुर में पचायती मन्दिर में भी विराजमान है।

भट्टारक धर्मकीर्ति

ये नागौर गादी के भट्टारक थे। ये सवत् १५९० की चैत्र कृष्ण ७ को भट्टारक हुए। आप खण्डेलवाल जाति एव सेठी गोत्र मे उत्पन्न हुए थे। सवत् १६०१ की फाल्गुन शुक्ला ९ को आपने चन्द्रप्रभु मूर्ति की प्रतिष्ठा करायी थी।[4]

---

१ सवत् तेरहसौ पिचि जानि बै, भये भटारक प्रभाचन्द्र गुनषानिवै।
जिनकौ आचारिज इक हौ गुजरात मै तहा सर्व पचनि मिली ठानी बात में। १६१।
कीजै एक प्रतिष्ठा तै सुभकाज ह्वे, करन लगे विधिवत सब ताजा साज वै।
भट्टारक बुलवाये सो पहुँचे नहीं तबै सबै पचनि मिली यह ठानी सही।
सूरिमत्र वाही आचारिज कौ दिये, पद्मनन्दि भट्टारक नाम सुयेह कियौ।
ताकि पाटि सकलकीरति मुनिवर भये, तिन समोधि गुजरात देख अपने किये। १२०।

२ पाषाण की सरस्वती मुखै बुलाई। जाति ब्राह्मण पट्ट अजमेर।

३ मूर्ति पच सग्रह—महावीर भवन, जयपुर, पृ स २६४।

४ भट्टारक सम्प्रदाय, पृष्ठ सरया १२।

भट्टारक विशालकीर्ति

सवत् १६०१ वैशाख सुदी, विशालकीर्तिजी गृहस्थ वष ९, दीक्षा वष ५८, भट्टा वष ९, मास १०, दिवस २०, अन्तर मास १ दिवस १०, सव वष ७७, दिवस २३ जाति पाटोदी यह जोबनेर।

विशालकीर्ति का पट्टाभिषेक जोबनेर मे सवत् १६०१ में हुआ था। ये भी नागौर पट्ट के भट्टारक थे। जाति से खण्डेलवाल एव गोत्र पाटोदी था। ये १० वष तक भट्टारक रहे।

भट्टारक लक्ष्मीचन्द्र

भट्टारक विशालकीर्ति के प्रमुख शिष्य थे। सवत १६११ में इनका भी जोबनेर मे ही पट्टाभिषेक हुआ। ये भी खण्डेलवाल एव छाबडा गोत्र के थे। इन्होने २० वष तक भट्टारक पद पर रहकर साहित्य एव समाज की अपूर्व सेवा की थी।

भट्टारक सहस्रकीर्ति

जोबनेर मे पट्टस्थ होनेवाले ये तीसरे भट्टारक थे। इनके गुरु भट्टारक लक्ष्मीचन्द्र थे। सवत १६३१ जेष्ठ सुदी ५ को इनका बडे ठाट से पट्टाभिषेक हुआ। इसके पश्चात् ये १८ वष तक भट्टारक रहे। इनका गोत्र पाटनी था।

भट्टारक नेमिचन्द्र

जोबनेर में ही पट्टस्थ होनेवाले ये चौथे भट्टारक थे। अपने गुरु लक्ष्मीचन्द्र के समान ये भी खण्डेलवाल जाति के थे तथा ठोलिया इनका गोत्र था। सवत् १६५० की श्रावण शुक्ला १३ को इनका अभिषेक हुआ। ये २२ वष तक भट्टारक पद पर रहे। ये साहित्य-प्रेमी थे तथा अपने लिए एव अपने शिष्यो के लिए ग्रन्थो की पाण्डुलिपियाँ कराया करते थे।

भट्टारक यशःकीर्ति

ये नागौर गादी के भट्टारक थे तथा सवत् १६७२ की फाल्गुन शुक्ला ५ को इनका रेवासा नगर में पट्टाभिषेक हुआ। एक भट्टारक पट्टावलि मे इनका परिचय निम्न प्रकार दिया है—

सवत् १६७२ फागुन सुदी ५, यश कीर्तिजी गृहस्थ वष ९, दीक्षा वप ४०, भट्टा वष १७, मास ११, दिवस ८, अन्तर २, सव वर्ष ६७ जाति पाटनी पट्ट रेवा।

रेवासा नगर के आदिनाथ जिनमन्दिर में एक शिलालेख के अनुसार यश कीर्ति के उपदेश से रायसाल के मुख्य मन्त्री देवीदास के दो पुत्र जतिमल एव नथमल ने मन्दिर का निर्माण कराया था। इनके प्रमुख शिष्य रूपा एव डूँगरसी ने धमपरीक्षा की एक

प्रति गुणचन्द्र को भेंट देने के लिए बनायी थी तथा रेवासा के पचो ने उन्हे एक सिंहासन भेंट किया था।[1]

भट्टारक भानुकीर्ति

भानुकीर्ति का पट्टाभिषेक नागौर में ही सवत १६९० मे सम्पन्न हुआ। एक पट्टावलि के अनुसार इन्होने ७वें वर्ष में ही दीक्षा ले ली और ३७ वप तक साधु जीवन में रहकर गहरी साधना की। इसके पश्चात १४ वप तक भट्टारक पद पर रहकर जैन साहित्य एव सस्कृति का प्रचार किया। इनके द्वारा रचित रविव्रत कथा की एक पाण्डुलिपि जयपुर भण्डार सग्रह में मिलती है जिसमे उन्होने अपने आपका निम्न प्रकार उल्लेख किया है—

आठा सात सोला के अग, रविदिन कथा रचियो अकलक।
भाव सहित सत सुख लहे, भानुकीर्ति मुनिवर जी कहे।

उक्त कथा के अतिरिक्त इनकी बृहद सिद्धचक्रपूजा, रोहिणी व्रतकथा एव समीणा पाश्वनाथ स्तोत्र भी राजस्थान के विभिन्न भण्डारो मे मिलती है।

भट्टारक श्रीभूषण

ये भट्टारक भानुकीर्ति के शिष्य थे तथा नागौर गादी के सवत १७०५ में भट्टारक बने थे। ७ वष तक भट्टारक रहने के पश्चात् इन्होने अपने शिष्य धमचन्द्र को भट्टारक गादी देकर एक उत्तम उदाहरण उपस्थित किया। ये खण्डेलवाल एव पाटनी गोत्र के थे। साहित्य रचना में इन्हें विशेष रुचि थी। इनकी कुछ रचना निम्न-प्रकार है—

अनन्तचतुदशी पूजा	सस्कृत
अनन्तनाथ पूजा	,,
भक्तामर पूजा विधान	,,
श्रुतस्कन्ध पूजा	,,
सप्तऋषि पूजा	,,

भट्टारक धर्मचन्द्र

भट्टारक धमचन्द्र का पट्टाभिषेक सवत् १७१२ मारोठ में हुआ था। ये नागौर गादी के भट्टारक थे। एक पट्टावली के अनुसार ये ९ वष गृहस्थ रहे, २० वर्ष तक साधु अवस्था में रहे तथा १५ वष तक भट्टारक पद पर आसीन रहे। सस्कृत एव हिन्दी दोनों

---

१ श्रीमद् भट्टारकजी श्री १०८ श्री यश कीर्ति जी तस्य आमनाय का श्री पचा सिंहासन कराय चढ़ायो रेवासा नगर स १६७२ का मिति फाल्गुन सुदी ५।

के ही ये अच्छे विद्वान् थे और इन्होने सवत् १७२६ में 'गौतमस्वामीचरित' की रचना की थी। सस्कृत का यह एक अच्छा काव्य है। मारोठ (राजस्थान) मे इसकी रचना की गयी थी। उस समय मारोठ पर रघुनाथ का राज्य था। उक्त रचना के अतिरिक्त नेमिनाथ विनती, सम्बोध पचासिका एव सहस्रनाम पूजा नामक कृतियाँ और मिलती है।

देवेन्द्रकीर्ति

देवेन्द्रकीर्ति के नाम से कितने ही भट्टारक हो गये है। लेकिन प्रस्तुत देवेन्द्रकीर्ति नागौर के भट्टारक धर्मचन्द्र के शिष्य थे। इनका पट्टाभिषेक सवत् १७२७ मे मारोठ में सम्पन्न हुआ था। ये केवल ११ वष तक ही भट्टारक पद पर रहे।

भट्टारक अमरेन्द्रकीर्ति

ये भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य थे तथा सवत् १७३८ में भट्टारक पद पर अभिषिक्त हुए थे। कुछ पट्टावलियो में सुरेन्द्रकीर्ति का भी नाम मिलता है। ये खण्डेलवाल जाति एव पाटणी गोत्र के थे। सवत् १७४० मे इनके द्वारा रचित रविवार व्रतकथा की प्रति मिलती है। ये भी करीब ७ वर्ष तक भट्टारक गादी पर रहे।

भट्टारक रत्नकीर्ति (द्वितीय)

रत्नकीर्ति सवत् १७४५ मे भट्टारक पद पर अभिषिक्त किये गये। ये कुछ समय तक नागौर गादी पर रहे लेकिन बाद में अजमेर चले गये और वहाँ पर उन्होने स्वतन्त्र भट्टारक गादी की स्थापना की। यह कोई सवत् १७५१ की घटना होगी। सवत् १७५१ में कालाडहरा मे पुन इनका पट्टाभिषेक किया गया। ये बडे प्रभावशाली भट्टारक थे। एक भट्टारक पट्टावली मे इनका परिचय निम्न प्रकार दिया गया है—

सवत् १७४५ वैशाख सुदी ९ रत्नकीर्ति जो गृहस्थ वष ३०, दीक्षा वर्ष ४७, पट्ट वष २१, सर्व वष ९८ मास १ दिवस ४, अन्तर मास १, दिवस ३, जाति गोधा पट्ट कालाडहरा।

भट्टारक विजयकीर्ति

अजमेर गादी के भट्टारको में भट्टारक विजयकीर्ति का नाम विशेषत उल्लेखनीय है। इनका अजमेर नगर मे सवत् १८०२ आषाढ सुदी १ के शुभ दिन पट्टाभिषेक हुआ था। इन्होने अपने गुरु भवनभूषण का चबूतरा एव चरण अजमेर में ही स्थापित किये थे। विजयकीर्ति सस्कृत एव हिन्दी के अच्छे विद्वान् थे।

अब तक इनकी निम्न रचनाएँ उपलब्ध हो चुकी है—

१ अकलक निकलंक चौपाई
२ कथा सग्रह
३ कर्णामृतपुराण
४ चन्दनषष्ठीव्रत पूजा
५ धर्मपाल सवाद
६ भट्टरण्डक
७ शालिभद्र चौपाई
८ श्रेणिक चरित्र

कर्णामृत पुराण की रचना रूपगन (रूपनगढ) में सवत् १८२६ में सम्पन्न हुई थी। जिसका कवि ने निम्न प्रकार उल्लेख किया है—

सवत् अठारहसौ छब्बीस ग्रन्थ रचित बीस।
कार्तिक बदि बारस गुरुवार, रूपनगर में रच्यो सुसार ॥

श्रेणिकपुराण सवत् १८२७, शालिभद्र चौपाई सवत १८२७, महादण्डक सवत् १८२९ की रचनाएँ है। महादण्डक की अन्तिम प्रशस्ति निम्न प्रकार है —

सवत् जाति प्रवीन अठारासै गुणतीस लखि
महादण्डक शुभ दीन, ज्येष्ठ चौथि गुरु पुष्प शुक्ल
गढ अजमेर सुथान, श्रावक सुख लीला करै
जैनधम बहुमान देव शास्त्र गुरु भक्ति मन ॥

इति श्री महादण्डक कर्णानुयोग भट्टारक श्री विजयकीर्ति लघुदण्ड वणन इकतालिसिया अधिकार ४१ । स १८२९ का।

भट्टारक भुवनकीर्ति

भट्टारक भुवनकीर्ति त्रिलोकेन्द्रकीर्ति के शिष्य थे। ये भी प्रभावशाली भटटारक थे। सवत् १८५२ मे अजमेर में जो विशाल प्रतिष्ठा समारोह हुआ था वह इन्ही के निर्देशन मे सम्पन्न हुआ था। जयपुर के बडे दीवानजी के दिगम्बर जैन मदिर मे जो आदिनाथ एव महावीर की विशाल मूर्तिया है वे अजमेर मे प्रतिष्ठापित हुई थी।

चाकसू, आमेर, जयपुर एव श्री महावीरजी की गादी के प्रमुख भट्टारक

मूलसघ के सरस्वतीगच्छ एव बलात्कारगण के कुछ प्रमुख भट्टारको का विस्तृत परिचय पहले दिया जा चुका है। प्रस्तुत पृष्ठो में शेष भट्टारको का परिचय दिया जा रहा है।

एक भट्टारक पट्टावलि मे भट्टारक पद्मनन्दि से लेकर भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति तक का निम्न परिचय दिया गया है—

८४ भट्टारक पद्मनन्दि .

सवत् १३८५, पौष सुदी ७—गृहस्थ वष १०, मास ७, दीक्षा वष २३, मास ५। पट्टस्थ वष ६५ दिन १८, अन्तर दिन १०, सर्व आयु वष ९९, मास—दिन २८।

८५ भट्टारक शुभचन्द्र

सवत् १४५०, माह सुदी ५—गृहस्थ वष १६, दीक्षा वर्ष २४, पट्टस्थ वर्ष ५६ मास ३, दिन ४, अन्तर दिन ११, सव आयु वष ९६, मास ३, दिन २५।

८६ भट्टारक जिनचन्द्र

सवत् १५०७, ज्येष्ठ सुदी ५—गृहस्थ वष १२, दीक्षा वष १५, पट्टस्थ वष ६४, मास ८, दिन १७, अन्तर दिन ११, सव वर्ष ९१, मास ८, दिन २७।

८७ भट्टारक प्रभाचन्द्र

सवत् १५७१, फागुन बदी २—गृहस्थ वर्ष १५, दीक्षा वर्ष ३५, पट्टस्थ वर्ष ९, मास ४, दिन २५, अन्तर दिन ८, सर्व आयु वर्ष ५९, मास ५, दिन ३। याकै बारे सवत १५७१ कैसालि गच्छ दोय हुआ एक तो चित्तौड में अर दूर नागौर हुवा तदि सु नागौर को फास्यो नाव प्रभाचन्द्र भी कहे।

८८ भट्टारक धर्मचन्द्र

सवत् १५८१, श्रावण बदी ५—धर्मचन्द्रजी गृहस्थ वर्ष ९, दीक्षा वर्ष ३१, पट्टस्थ वर्ष २१, मास ८, दिन १८।

८९ भट्टारक ललितकीर्ति

सवत् १६०३, चैत्र सुदी ८—ललितकीर्तिजी गृहस्थ वर्ष ७, दीक्षा वर्ष २५, पट्टस्थ वष १९, दिन १५, अन्तर दिन २५, सर्व वष ५१, मास—दिन २२।

९० भट्टारक चन्द्रकीर्ति

सवत् १६२२, वैशाख बदी ३०—चन्द्रकीर्ति गृहस्थ वर्ष—दीक्षा वर्ष—पट्टस्थ वष ४०, मास ९, अन्तर दिन ७।

९१ भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति

सवत् १६६२, फाल्गुण बदी ३०—देवेन्द्रकीर्तिजी पट्टस्थ वर्ष २८, मास ७, दिन २५, अन्तर दिन ५।

९२ भट्टारक नरेन्द्रकीर्तिजी

सवत् १६९१, कार्तिक बदी ३०—नरेन्द्रकीर्तिजी गृहस्थ वर्ष ११, पट्टस्थ वर्ष ३१, मास ८, दिन १५, अन्तर दिन ८, याकै बारे तेरापन्थी हुआ सवत् १६९५ मे।

९३ भट्टारक सुरेन्द्रकीर्तिजी

सवत् १७२२ श्रावण बदी ८—सुरेन्द्रकीर्ति गृहस्थ वष ९, पट्टस्थ वष १०, मास ११, दिन २२, अन्तर दिन ५, जाति काला।

९४ भट्टारक जगत्कीर्तिजी

सवत् १७३३, श्रावण बदी ५—जगत्कीर्तिजी गृहस्थ वष ११, दीक्षा वर्ष २६, पट्टस्थ वष ३४, मास ५, दिन २८, अन्तर दिन ७, सव आयु वप ७४, माह ८, दिन ५, जाति साखूण्या।

९५ भट्टारक देवेन्द्रकीर्तिजी

सवत् १७७०, माह बदी ११—देवे द्रकीर्तिजी पट्टस्थ वष २१, मास ११, दिन १४, जाति ठोलिया।

९६ भट्टारक महेन्द्रकीर्तिजी

सवत् १७९०, पौष सुदी १०—महेन्द्रकीर्ति पट्टस्थ वष २१, मास ९, दिन १५, जाति पापडीवाल दिल्ली मे यह हुआ।

९७ भट्टारक क्षेमेन्द्रकीर्तिजी

सवत् १८१५, आषाढ सुदी ११—क्षेमेन्द्रकीर्तिजी पट्टस्थ वष ७, अन्तर मास ८, दिन ५, जाति पाटणी यह सवाई जयपुर मे हुआ।

९८ भट्टारक सुरेन्द्रकीर्तिजी

सवत् १८२२, मिति फागुण सुदी ४—सुरेन्द्रकीर्तिजी पट्टस्थ वष २९, मास ९, दिन ४, अन्तर दिन—। जाति पहाड्या यह सवाई जयपुर में हुवो।

९९ भट्टारक सुखेन्द्रकीर्तिजी

सवत् १८५२, मगसिर वदी ८—सुखेन्द्रकीर्तिजी पट्टस्थ वष—मास—दिन, अन्तर दिन १६, जाति अनोपडा पट्टस्थ सवाई जयपुर में हुवो।

१०० भट्टारक नरेन्द्रकीर्तिजी

सवत् १८८०, मिती आषाढ वदी १०—नरेन्द्रकीर्तिजी पट्टस्थ वर्ष २४, जाति बडजात्या। यह सवाई जयपुर मे अन्तर दिन १५ को।

१०१ भट्टारक देवेन्द्रकीर्तिजी

सवत् १८८३, मिती माह सुदी ५—गृहस्थ वष ७, पण्डित वर्ष १३, प्रगराज वष—अन्तर दिन—वष १ को यह सवाई जयपुर में हुवो जाति काला भट्टारक देवेन्द्रकीर्तिजी पट्टस्थ हुवो।

१०२ भट्टारक महेन्द्रकीर्तिजी

सवत् १९३९।

१०३ भट्टारक चन्द्रकीर्ति

सवत् १९७५। सवत् २०२६ में स्वर्गवास हुआ।

इस प्रकार भट्टारक पद्मनन्दि से लेकर भट्टारक चन्द्रकीर्तिजी तक इस परम्परा मे २० भट्टारक हुए। अन्तिम भट्टारक चन्द्रकीर्ति हुए। इनमें से भट्टारक पद्मनन्दि, भट्टारक शुभचन्द्र, भट्टारक जिनचन्द्र एव प्रभाचन्द्र का परिचय पूव पृष्ठो मे दिया जा चुका है। शेष भट्टारको का परिचय निम्न प्रकार है।

भट्टारक धर्मचन्द्र

इनका पट्टाभिषेक सवत् १५८१ श्रावण वदी ५ के शुभ दिन चित्तौड मे हुआ। इस समय इनकी आयु ४० वष की थी। इसके पूव ३१ वष तक इन्होंने भट्टारक प्रभाचन्द्र के साथ ग्रन्थो का खूब अध्ययन किया था तथा प्रतिष्ठा विधि आदि के सम्बन्ध में पूरा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। इन्होने सवप्रथम सवत् १५८३ माह सुदी ५ को दशलक्षण यन्त्र की प्रतिष्ठा सम्पन्न करवायी। इसके प्रतिष्ठाकारक थे सघी माल्ह एव उनकी धमपत्नी गौरी तथा पुत्र नेमदास विमलदास। वतमान में यह यन्त्र पाश्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर टोक में उपलब्ध है।[1] इसके पूव इनके उपदेश के आधार पर राणा सग्रामसिह के शासनकाल मे चम्पावती नगर (चाटसू) में किसी साह गोत्रीय श्रावक ने पचकल्याणक प्रतिष्ठा सम्पन्न करवायी थी। इस लेख में धर्मचन्द्र को मण्डलाचार्य कहा है।[2] पचायती मन्दिर पाश्वनाथजी सवाई माधोपुर (राजस्थान) मे एक चौबीसो जी की मूर्ति है जो सवत् १५८६ फागुण सुदी १० के शुभ दिन इन्ही धमचन्द्र द्वारा प्रतिष्ठित हुई थी। प्रतिष्ठा के आयोजक खण्डेलवाल जाति में उत्पन्न साह गोत्र के श्रावक थे।[3] सवत् १५९० के ऐसे दो लेख मिलते है जिनमे भट्टारक धर्मचन्द्र का उल्लेख है। एक लेख

---

१ मूर्ति यन्त्र लेख सग्रह—महावीर भवन, जयपुर के सग्रह में, पृ स २६४।

२ वही, पृष्ठ ३३३।

३ वही, पृष्ठ ५७५।

है सवत् १५९० माघ सुदी ७ का जिसमें चम्पावती नगर एव वहाँ के सम्भवनाथ चैत्यालय का उल्लेख है।[१] यह प्रतिष्ठा बाकलीवाल गोत्र के स तालु धमपत्नी तौला के एव उनके पुत्र लल्लू बल्लू ने सम्पन्न करायी थी। दूसरा लेख सवत् १५९० माह सुदी ४ का है जिसमें भट्टारक धमचन्द्र वा प्रभाचन्द्र के शिष्य रूप मे उल्लेख है तथा लुहाडिया गोत्रवाले श्रावक लाना एव उनके परिवार ने यन्त्र की प्रतिष्ठा सम्पन्न करायी थी।[२]

सवत् १५९३ ज्येष्ठ सुदी ३ के दिन आयोजित समारोह भट्टारक धमचन्द्र के जीवन का सबसे बडा समारोह था। इस दिन आँवा मे एक बडी भारी प्रतिष्ठा आयोजित की गयी थी। इसमे शान्तिनाथ स्वामी की एक विशाल एव मनोज्ञ प्रतिमा की प्रतिष्ठा हुई जो आवाँ (टोक) के मन्दिर में विराजमान है। एक प्रतिष्ठा-पाठ में इस प्रतिष्ठा का निम्न प्रकार उल्लेख किया गया है—

"सवत् १५९३ के साल गाव आवाँ में प्रभाचन्द्र धमचन्द्र के बारे वेणीराम छावडो प्रतिष्ठा करायी। राजा सूयसेन कू जैनी करयौ। श्री भट्टारक दो घडी में गिरनारजी सूँ आया। बडी अजमत दिखाई। देव माया सूँ घृत, खाड व गुड का कुआ भर दीना। जीमणार में ७५० मण मिरच मुसाला मे लागी। सबकू जैनी करया। मूलनायक प्रतिमा शान्तिनाथ स्वामी की विराजमान की।[३]

उक्त उल्लेख से ज्ञात होता है कि यह प्रतिष्ठा प्रतिष्ठाओ के इतिहास मे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण थी जब उसमें सम्मिलित होनेवाले दशनार्थियो को जैनधर्म में दीक्षित किया गया। तथा धमचन्द्र ने अपनी विद्याओ का चमत्कार दिखलाया। इसी वष आवा की एक पहाडी पर भट्टारक शुभचन्द्र, भट्टारक जिनचन्द्र एव भट्टारक प्रभाचन्द्र की निषेधिकाएँ स्थापित की गयी।

सवत् १५७७ में भट्टारक धमचन्द्र मुनि कहलाते थे। उत्तरपुराण की टीकावाली प्रशस्ति में भट्टारक श्री प्रभाचन्द्र देवा तत् शिष्य मुनि धर्मचन्द्रदेवा उल्लेख मिलता है।[४] एक दूसरी प्रशस्ति में इसी सवत् में प्रवचनसार वृत्ति की एक पाण्डुलिपि को नागौर में लिखवाकर साह खोराज एव उनके परिवार ने मुनि धर्मचन्द्र को भेंट की ऐसा उल्लेख मिलता है।[५] सवत् १५९५ में माघ शुक्ला ६ रविवार को साखौण नगर में वराग चरित्र की एक पाण्डुलिपि मण्डलाचाय धर्मचन्द्र के शासन में लिखी गयी थी तथा उसमें धमचन्द्र को 'सद्गुरु' की उपाधि से सम्बोधित किया गया है।[६] सवत् १५८३

---

१ मूर्ति यन्त्र लेख सग्रह—महावीर भवन, जयपुर के सग्रह में, पृ सं ३२७।

२ सवत् १५९० वर्षे माह सुदि ४ बुधवारे श्री मूलसघे नद्याम्नाये बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्री कुन्द कुन्दाचार्य ने भट्टारक श्री प्रभाचन्द्र तत् शिष्य भट्टारक धर्मचन्द्रदेवा तदाम्नाये खण्डेलवालान्वये लुहाडिया गोत्रे सा भार्या रीतु तत्पुत्र सा माधावे भा गरिवत तत्पुत्र सा दाराहुत बाला मित नित्य प्रणमति।

३ प्रतिष्ठापाठ वा कथन—चौ जीवनबाल पृष्ठ सख्या ३३।

४ प्रशस्ति सग्रह—डॉ कस्तूरचन्द कासलीवाल, पृष्ठ सं २।

५ वही पृष्ठ ३६-३७।

६ वही पृष्ठ ५५।

में चाटसू नगर में अपभ्रश काव्य सिरिचन्दप्पह् चरिउ की पाण्डुलिपि सा काघिल एव अन्य श्रावको ने लिखवायी थी और उसे इनको भेंट की गयी थी।[1] धमचन्द्र के एक शिष्य का नाम कमलकीर्ति था। इनको स्वाध्याय के लिए सवत् १६०२ में पाण्डव-पुराण—अपभ्रश (यश कीर्तिकृत) की सा कीला अजमेरा ने पाण्डुलिपि तैयार करवायी और कमलकीर्ति को श्रद्धापूवक समर्पित की।[2] इससे जान पडता है उस शताब्दी में अपभ्रश के काव्यो को पढने की ओर विद्वानो मे रुचि थी। सवत् १६११ आषाढ वदी ९ शुक्रवार को अपभ्रश के महाकाव्य पासणाह् चरिउ (पद्मकीर्ति) की रचना भट्टारक धमचन्द्र के लिए की गयी थी। इस प्रशस्ति मे धर्मचन्द्र को 'वसुन्धराचाय' की उपाधि से सम्बोधित किया गया है।[3]

धमचन्द्र अपने साथ ब्र एव मुनियो के अतिरिक्त आर्यिकाएँ भी रहती थी। सवत् १५९५ मे इनकी एक शिष्या आर्यिका विनयश्री को पढने के लिए पट्टावलि सिंह कृत 'पन्जुणचरिउ' की पाण्डुलिपि साह् सुरजन एव उसकी धर्मपत्नी सूनावत द्वारा भेंट की गयी थी।[4] इनके एक शिष्य का नाम ब्र कोल्हा था जिन्हे भी सवत् १५९५ में धनपाल कृत भविसयत्तकहा की पाण्डुलिपि भेंट मे दी गयी थी। इसके पूव सवत् १५८९ में भी इसी ग्रन्थ की प्रतिलिपि इ हे भेंटस्वरूप प्राप्त हुई थी।

इस प्रकार और भी पचासो प्रशस्तियाँ उपलब्ध होती है जिनमे धर्मचन्द्र का सारा उल्लेख किया गया है तथा उन्हें या उनके शिष्यो को ग्रन्थो की पाण्डुलिपियाँ भेंट में दी गयी थी। धमचन्द्र अपने युग के बडे भारी सन्त एव प्रभावक आचाय थे और जिन्होने जैन साहित्य एव सस्कृति की भारी सेवा की थी।

---

१ प्रशस्ति सग्रह—डॉ कस्तूरचन्द कासलीवाल पृ स ६६।
२ वही, पृष्ठ १२७।
३ वही, पृ १२६।
४ वही, पृ १३८।

भट्टारक ललितकीर्ति

[सवत् १६०३ से १६२२ तक]

भट्टारक धर्मचन्द्र के पश्चात् ललितकीर्ति का भट्टारक गादी पर सवत १६०३ के चैत्र सुदी ८ के शुभ दिन पट्टाभिषेक हुआ। इस समय इनकी आयु ३२ वर्ष की थी तथा इसके पूव २५ वष तक इन्होने भट्टारक प्रभाचन्द्र एव धमचन्द्र के पास रहकर विविध विषयो के ग्रन्थो का उच्च अध्ययन किया था। ये ७ वष की अवस्था में ही भट्टारक प्रभाचन्द्र के चरणो में आ गये थे। तथा उनके महान् व्यक्तित्व से प्रभावित होकर इन्होने अपने जीवन का निर्माण प्रारम्भ किया था।

ललितकीर्ति सस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। राजस्थान के विभिन्न भण्डारो में सस्कृत भाषा मे निबद्ध इनकी विभिन्न कथाएँ मिलती है जिनकी सख्या २० होगी।[१] इन कथाओ के नाम निम्न प्रकार है—

१ अक्षय दशमी कथा।
२ अनन्तव्रत कथा।
३ आकाशपचमी कथा।
४ एकावली व्रत कथा।
५ कर्मनिजरा व्रत कथा।
६ काजिका व्रत कथा।
७ जिनगुण सम्पत्ति कथा।
८ जिनरात्रि व्रत कथा।
९ ज्येष्ठ जिनवर कथा।
१० दशपरमस्नान व्रत कथा।
११ दशलाक्षणिक कथा।
१२ द्वादश व्रत कथा।
१३ धनकलश कथा।
१४ पुष्पाजलि व्रत कथा।
१५ रक्षाविधान कथा।
१६ रत्नत्रय व्रत कथा।

---

१ राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रन्थसूची, पंचम भाग, पृ सख्या ४७६ ८०।

१७ रोहिणी व्रत कथा।
१८ षट्रस कथा।
१९ षोडशकारण कथा।
२० सिद्धचक्र पूजा।

ललितकीर्ति का साहित्य निर्माण एव लेखन की ओर अधिक ध्यान था। प्रतिष्ठा समारोह में भाग लेना, प्रतिष्ठा विधि आयोजित करवाने में सम्भवत इतनी कोई रुचि नही थी इसलिए इनका स्वतन्त्र उल्लेख बहुत कम मिलता है। लेकिन इनके उपदेश एव प्रेरणा में विभिन्न ग्रन्थो की प्रतिलिपियाँ हुइ जिनका यत्र-तत्र अवश्य उल्लेख मिलता है। सवत् १६१२ में तत्रकमहादुग (टोडारायसिंह) में वसुनन्दि के उपासकाध्ययन की प्रतिलिपि की गयी और वह आर्य नरसिंघ को भेंट की गयी।[1] इसी तरह सवत १६१६ में आमेर मे यश कीर्ति के पाण्डवपुराण की पाण्डुलिपि करवाकर मण्डलाचाय ललितकीर्ति को साह लेजला ने दशलक्षण व्रतोद्यापन के अवसर पर भेंट की।[2]

भट्टारक ललितकीर्ति का कार्यक्षेत्र चाटसू, टोडारायसिंह, आमेर, सागानेर-जैसे स्थानो में रहा और यही के श्रावको में साहित्य के प्रति अभिरुचि जाग्रत् करते रहे। पुष्पदन्त के जसहरचरिउ की एक प्रति तमकमहादुग मे तैयार की गयी। उस समय महाराजाधिराज रामचन्द्र का शासन था तथा भट्टारक ललितकीर्ति महाराजा द्वारा सम्मानित जैन भट्टारक थे। यशोधरचरित की प्रति भी ललितकीर्ति के लिए ही लिखायी गयी थी जो आजकल महावीर भवन, जयपुर के सग्रह में सुरक्षित है।

---

१ प्रशस्ति सग्रह प सख्या ९४।
२ वही, पृ १२७।

भट्टारक चन्द्रकीर्ति

[सवत् १६२२ से १६६२ तक]

भट्टारक धमचन्द्र के स्वगवास के सात दिन पश्चात सवत् १६२२ वैशाख वदी अमावस्या के दिन चन्द्रकीर्ति भट्टारक गद्दी पर बैठे। धर्मचन्द्र ने अपने भट्टारक काल में प्रतिष्ठाओ को अधिक महत्त्व नही दिया था किन्तु भट्टारक चद्रकीर्ति ने भट्टारक बनने के कुछ वर्षों पश्चात ही प्रतिष्ठा समारोहो को प्रोत्साहन देना प्रारम्भ कर दिया। सवत् १६३२ फाल्गुन सुदी २ को भट्टारक चन्द्रकीर्ति के शिष्य आचाय हेमचन्द्र के सदुपदेश से मन्त्र लिखवाकर प्रतिष्ठित करवाया गया। प्रतिष्ठा करनेवाले श्रावक साह ठाकुरसी एव इसकी भार्या नेमा रतना थी। यह मन्त्र भुसावहियो के दिगम्बर जैन मन्दिर सवाईमाधोपुर में विराजमान है। सवत् १६३५ मे आयोजित प्रतिष्ठा समारोह के अवसर पर मन्त्र भी लिखवाकर उइणियारा (टोक) के दिगम्बर जैन मन्दिर मे विराजमान किया गया। सवत् १६५१ में भट्टारक चन्द्रकीर्ति ने कितनी ही प्रतिष्ठाओ का आयोजन किया। इस समय आमेर पर महाराज मानसिंह का राज्य था। चारो ओर शान्ति थी। सवत् १६५८ में एक साथ पाँच प्रतिष्ठाओ का आयोजन रखा गया। प्रतिष्ठा पाठ कचन में इस प्रतिष्ठा समारोह का निम्न वणन मिलता है—

सवत् १६५८ की साल भट्टारक चन्द्रकीर्तिजी के बारे मे गाँव ढूढू में मालजी भौसा प्रतिष्ठा कराई मन्दिर पाँच बणया दूधू में एक, आरा में एक, चोरु में एक, काला-डेरा में एक, सीखोली में एक तीसो रुपया बीस लाख लाग्या ज्यो का बेटा मालावत कुहावे छै।

इसके पश्चात १६६० मे भट्टारक चन्द्रकीर्ति ने पुन साखूण गाँव में सामूहिक प्रतिष्ठा का आयोजन किया। प्रतिष्ठा करानेवाले थे श्री मनीराम दोशी। इन्होने ४ मन्दिरो का निर्माण कराया और वही की समाज को समर्पित किया गया। इन मन्दिरो का निर्माण बानरसिंदरी, हरसूली, लखा तथा साखूण में किया गया।

उक्त लेखो के अतिरिक्त स १६६१ में भी प्रतिष्ठाओ का आयोजन हुआ था। जिसके लेख आदि मन्दिरो में मिलते हैं। प्रतिष्ठाओ के अतिरिक्त साहित्य लेखन की ओर भी चन्द्रकीर्ति का विशेष ध्यान था। राजस्थान के शास्त्र भण्डारो में ऐसी बहुत-सी पाण्डुलिपियाँ सग्रहीत है जिनका लेखन भट्टारक चन्द्रकीर्ति की प्रेरणा से सम्पन्न हुआ था।

उनके एक शिष्य थे आचार्य शुभचन्द्र जिनको साह नाथू ने यशोधरचरित की प्रति लिखवाकर भेंट की थी।

भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति

[सवत् १६६२ से १६९० तक]

भट्टारक चन्द्रकीर्ति के स्वर्गवास के पश्चात् सवत् १६६२ मे देवेन्द्रकीर्ति भट्टारक गद्दी पर बैठे। भट्टारक गादी पर सवत् १६६२ फाल्गुन बदी अमावस का शुभ दिन था। ये २८ वष ७ मास २५ दिन तक भट्टारक गादी पर रहे और इन वर्षों में राजस्थान के विभिन्न भागो में विहार करके जैन धर्म एव सस्कृति के प्रचार एव प्रसार में योग दिया।

एक जावडी के अनुसार भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति सेठ नवमल साह के पुत्र थे। उनकी माता का नाम सोभा था। बचपन मे ही इन्होने सयम धारण कर लिया और पाँच महाव्रत, तीन गुणव्रत एव चार शिक्षाव्रत की पालना करने लगे। वे शास्त्राथ मे बहुत प्रवीण थे और अपने विरोधियो को सहज ही में जीत लेते थे। उनका दिव्य मुख था तथा वह सूर्य के समान तेजस्वी लगता था। रत्नो के सिंहासन पर विराजमान होकर जब वे सूत्र एव सिद्धान्त ग्रन्थो पर व्याख्यान देते थे तब गौतम गणधर के समान लगने लगते थे।

एक बार कामदेव ने जब उनके सयम की मन्त्रणा सुनी तो वह उस मत्रणा को सहन नही कर सका और अपनी पत्नी रति को बुलाकर देवेन्द्रकीर्ति के सयम को भग करने का आदेश दिया। रति ने अब तक अपनी किसी से भी हार स्वीकार नही की थी इसलिए वह शीघ्र ही उनके पास गयी और विभिन्न साधनो से उनके सयम को भग करना चाहा। लेकिन देवेन्द्रकीर्त्ति को वे पराजित नही कर सके और अन्त में कामदेव एव रति को अपनी हार माननी पडी।

देवेन्द्रकीर्ति पहले मुनि थे और बाद में भट्टारक कहलाने लगे थे। उनके सघ में मुनिगण एव बडे-बडे पण्डित रहते थे। सवत् १६६३ कार्तिक मास में ही वे अपने सघ के साथ मौजमाबाद चले गये और वहाँ सवत् १६६४ में नानू गोधा द्वारा निर्मित विशाल मन्दिर में प्रतिष्ठा करायी। यह प्रतिष्ठा अपने समय की सबसे भारी प्रतिष्ठा थी जिसमें देहली बादशाह एव आमेर के महाराजा का पूरा सहयोग था। तीन शिखरोवाला यह मन्दिर नानू गोधा ने बादशाह अकबर के आदेश से बनवाया था इसलिए इस प्रतिष्ठा मे असख्य द्रव्य खर्च किया गया था। एक उल्लेख के अनुसार इस प्रतिष्ठा में २५ करोड रुपया खर्च हुआ था। इस सब आयोजन में भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति का प्रमुख हाथ था। वे

प्रतिष्ठा के लिए ही पूर्ण व्यवस्था के लिए वहाँ पधार गये। इस प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित हज़ारो विशाल मूर्तियाँ न केवल राजस्थान में उपलब्ध होती है किन्तु उत्तरी भारत के सभी प्रमुख मन्दिरो में विराजमान है।

इस प्रतिष्ठा के पश्चात् देवेन्द्रकीर्ति की कीर्ति वायुवेग से सारे देश में फैल गयी और उन्होने सारे राजस्थान मे धर्म एव सस्कृति के विकास में अपना बृहद् योगदान दिया।[1]

---

१ जुद्धकरण मयण जब आयो आठ, कर्म्म कटक बल ल्यायो।
देवेन्द्र कीरति गुण गाज्यो सूत्र ध्यान तणो अस्त्र साज्यो।
मुनि समवति खडग सभाल्यो, जेणे ममण तणो दल मारयो।

भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति

[सवत् १६९१ से १७२२ तक]

नरेन्द्रकीर्ति अपने समय के ज़बरदस्त भट्टारक थे। ये शुद्ध बीसपन्थ को माननेवाले थे। ये खण्डेलवाल श्रावक थे और सोगाणी इनका गोत्र था। एक भट्टारक पट्टावली के अनुसार ये सवत् १६९१ में भट्टारक बने थे। इनका पट्टाभिषेक सागानेर में हुआ था। इसकी पुष्टि बख्तराम साह ने अपने बुद्धिविलास में निम्न पद्य से की है—

नरेन्द्रकीरति नाम, पट इक सागानेरि में।
भये महागुन धाम, सोलह् से इक्याणवे ॥

ये भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य थे, जो आमेर गादी के सस्थापक थे। सम्पूण राजस्थान में ये प्रभावशाली थे। मालवा, मेवात तथा दिल्ली आदि के प्रदेशो मे इनके भक्त रहते थे और जब वे जाते, तब उनका ख़ूब स्वागत किया जाता। एक भट्टारक पट्टावलि[1] में ननेन्द्रकीर्ति की आम्नाय का जहाँ-जहाँ प्रचार था, उनका निम्न पद्यो में नामोल्लेख किया है—

आमनाइ ढिलीय मण्डल मुनिवर, अवर मरहट देसय,
भ्रणीये बत्तीसी विख्यात, वदि बैराठस वैसय ॥

मेवात मण्डल सवै सुणीए, धरम तिण बाधे घरा।
परसिध पचवारौस मुणिए, खलक बदे अतिखरा ॥
धर प्रकट ढुढा इडर ढाढो, अवर अजमेरौ भणा।
मुरधर सन्देश करै महोछा, मड चवरासी घणा ॥
साभरिह सुधान सुद्रग सुणीजै, जुगत इहरै जाण ए।
अधिकार ऐती घरा बोपैं, विरुद्ध अधिक बखाणए।
नरसाह नागरचाल निसचल बहौत खैराडा वरै।
मेवाड देस चीतौड मोटौ, महैपति मगल करे।

मालवै देसि बडा महाजन, परम सुखकारी सुणा।
आगया सुवाल सुधुम सब विधि, भाव अगि मोटा भणा ॥
माडौर माडिल अजब, बून्दी, परसि पाटण थानय।
सीलौर कोटौ ब्रह्मवार, मही रिणथभ मानय ॥

---

१ इसकी एक प्रति महावीर भवन, जयपुर के सग्रहालय में है।

दीरघ चदेरी चाव निस्चल, महृत धरम सुमडणा ।
विडदैत लाखैहेरी विराजै, अधिक उणियारा तणा ।।

दिगम्बर समाज के प्रसिद्ध तेरह पन्थ की उत्पत्ति भी इन्ही के समय में हुई थी। यह पन्थ सुधारवादी था और उसके द्वारा अनेक कुरीतियो का जोरदार विरोध किया था। बख्तराम शाह ने अपने मिथ्यात्व खण्डन में इसका निम्न प्रकार उल्लेख किया है—

भट्टारक आवैरिके, नरेन्द्र कीरति नाम।
यह कुपथ तिनकै समै, नयो चल्यो अघ धाम ।।

इस पद्य से ज्ञात होता है कि नरेन्द्रकीर्ति का अपने समय से ही विरोध होने लगा था और इनकी मान्यताओ का विरोध करने के लिए कुछ सुधारको ने तेरहपन्थ नाम से एक पन्थ को जन्म दिया। लेकिन विरोध होते भी नरेन्द्रकीर्ति अपने मिशन के पक्के थे और स्थान-स्थान पर घूमकर साहित्य एव सस्कृति का प्रचार किया करते थे। यह अवश्य था कि ये सन्त अपने आध्यात्मिक उत्थान की ओर कम ध्यान देने लगे थे तथा लौकिक रूढियो में फँसते जा रहे थे। इसलिए उनका धीरे-धीरे विरोध बढ रहा था, जिसने महापण्डित टोडरमल के समय में उग्र रूप धारण कर लिया और इन सन्तो के महत्त्व को ही सदा के लिए समाप्त कर दिया।

नरेन्द्रकीर्ति अपने समय में आमेर के प्रसिद्ध भट्टारकीय शास्त्र भण्डार को सुरक्षित रखा और उसमें नयी-नयी प्रतियाँ लिखवाकर विराजमान करायी गयी।

'तीर्थंकर चौबीसना छप्पय' नाम से एक रचना मिली है जो सम्भवत इन्ही नरेन्द्रकीर्ति की मालूम होती है। इस रचना का अन्तिम पद्य निम्न प्रकार है—

एकादश वर अग, चउद पूरव सहू जाणउ ।
चउद प्रकीर्णक शुद्ध, पच चूलिका बखाणु ।।
अरि पच परिकम सुत्र, प्रथमह दिनि योगह ।
तिहुना पद शत एक अधिक द्वादश कोटिगह ।।
आसी लक्ष अधिक बली, सहस्र अठावन पच पद ।
इन आचार्य नरेन्द्रकीरति कहइ, श्रीश्रुत ज्ञान पाठधरीय मुद ।।

सवत् १७२२ तक ये भट्टारक रहे और इसी वष महापण्डित आशाधर कृत प्रतिष्ठा पाठ की एक हस्तलिखित प्रति इनके शिष्य आचाय श्रीचन्द्रकीर्ति घासीराम, प भीवसी एव भयाचन्द्र के पठनार्थ भेंट की गयी।

कितने ही स्तोत्रो की हिन्दी गद्य टीका करनेवाले अखयराज इन्ही के शिष्य थे। सवत् १७१७ में सस्कृत मजरी की प्रति इन्हें भेंट की गयी थी। टोडारायसिंह के प्रसिद्ध पण्डित कवि जगन्नाथ इन्ही के शिष्य थे। प परमानन्द जी ने नरेन्द्रकीर्ति के विषय में लिखते हुए कहा है कि इनके समय में टोडारायसिंह में सस्कृत पठन-पाठन का अच्छा काय चलता था। लोकशास्त्रो के अभ्यास द्वारा अपने ज्ञान की वृद्धि करते थे। यहाँ शास्त्रो का भी अच्छा सग्रह था। लोगो को जैनधर्म से विशेष प्रेम था। अष्टसहस्री

और प्रमाणनिर्णय आदि न्याय ग्रन्थो का लेखन, प्रवचन, पचास्तिकाय आदि सिद्धान्त ग्रन्थो आदि का प्रति लेखन काय तथा अनेक नूतन ग्रन्थो का निर्माण हुआ था। कवि जगन्नाथ ने श्वेताम्बर पराजय में नरेन्द्रकीर्ति का मगलाचरण में निम्न प्रकार उल्लेख किया है—

पदाम्बुज मधुव्रतो भुवि नरेन्द्रकीर्तिगुरो ।
सुवादि पद भृद्बुध प्रकरण जगन्नाथ वाक् ॥

प्रतिष्ठा-कार्य

भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति ने राजस्थान के विभिन्न भागो में विहार करके अनेक प्रतिष्ठा महोत्सव एव सास्कृतिक समारोह सम्पन्न कराये। सवत् १७१० में मालपुरा (टोक) में एक बडा भारी प्रतिष्ठा महोत्सव आयोजित किया गया। स्वय भट्टारक जी ने उसमें सम्मिलित होकर प्रतिष्ठा महोत्सव की शोभा में चार चाँद लगाये। इसके एक पव ही में गिरनार सघ गये थे और वहा भी पचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव आयोजित किया गया था। सवत १७१६ में ये सघ के साथ हस्तिनापुर गये। इनके सघ में आमेर एव अन्य स्थानो के अनेक श्रावकगण थे। वहाँ पर जाने पर उनका भव्य स्वागत किया गया और आमेर के श्रावक द्वारा प्रतिष्ठा महोत्सव आयोजित किया गया था।

भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति के अनेक शिष्य थे। इनमें प दामोदरदास प्रमुख थे और ये ही इनके पश्चात् भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति के नाम से भट्टारक बने थे। एक शताब्दी में इनकी शिष्य-परम्परा निम्न प्रकार दी है—
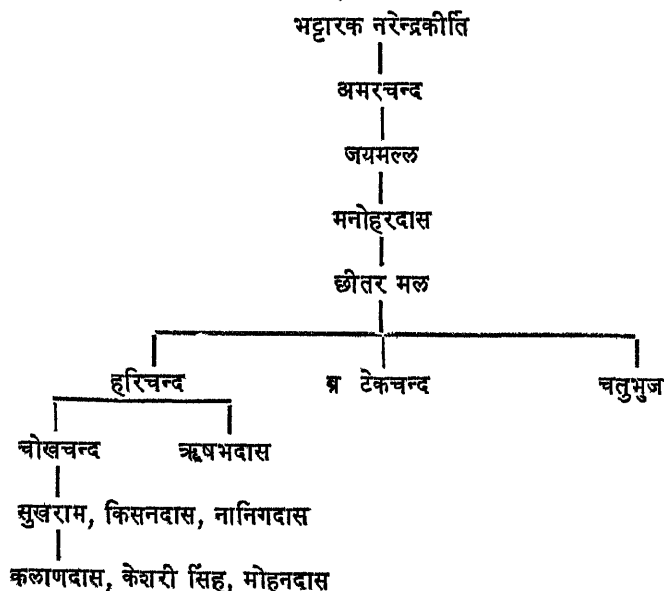
भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति ने जब अपना अन्तिम समय जाना तब उन्हे अपने उत्तराधिकारी के विषय मे चिन्ता हुई। वे साँगानेर आये और समाज को बुलाकर अपने विचार व्यक्त किये। इसके पश्चात् वे आमूर आ गये। सघपति विमलदास भी इनके साथ आये। वहाँ पर भी किसी योग्य व्यक्ति की तलाश होने लगी। अन्त में यही निश्चित हुआ कि भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति स्वय ही जिसका नाम सुझा देगे उसी को भटटारक पद पर अभिषिक्त कर दिया जायेगा। उन्होने दामोदरदास का नाम लिख दिया और बडे ठाठबाट से उनका महाभिषेक किया गया और वे भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति के नाम से प्रसिद्ध हुए।

भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति

[सवत् १७२२ से १७३३ तक]

भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति के शिष्य थे। इनकी गृहस्थ अवस्था का नाम दामोदरदास था। ये बडे भारी विद्वान् एव सयमी श्रावक थे। प्रारम्भ से ही उदासीन रहकर शास्त्रो के सम्पर्क मे ये कब आये इमका तो कोई उल्लेख नही मिलता लेकिन ये उनके प्रिय शिष्यो में से थे और इन पर नरेन्द्रकीर्ति का सबसे अधिक विश्वास था। भट्टारक रतनकीर्ति सवत् १७२२ के श्रावण मास तक भट्टारक रहे। लेकिन उन्हें इसके पूव ही अपने जीवन के अन्तिम ममय का आभास हो गया था।

जब भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति विहार करते हुए सागानेर आये तो प दामोदरदास से कहने लगे कि अब शरीर का अता-पता नही है इसलिए तुम (दामोदरदास) चाहो तो महाभिषेक हो सकता है। अपने गुरु के ऐसे वाक्य सुनकर उन्हें बहुत दुख हुआ तथा वे कहने लगे कि आज पूज्य भट्टारकजी महाराज ऐसी बात क्यो कह रहे है। अभी आपकी आयु काफी शेष है और गुरु महाराज का तो शरीर पर भी अधिकार है। फिर भी वह चार महीने पश्चात् भट्टारक पद पर अभिषिक्त हो सकेगा ऐसा प दामोदरदास ने अपने गुरु से निवेदन किया। अपने शिष्य के विनयपूर्ण वचन सुनकर इन्हे काफी सन्तोष हुआ और वे वहाँ से आमेर चले आये।

आमेर मे उनके साथ सघपति विमलदास भी आये। इस विषय में सघपति से फिर चर्चा हुई। वहाँ पर उन्होने भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति से पुन अपने हृदय की बात कहने के लिए निवेदन किया। भट्टारकजी ने यही कहा कि महाभिषेक करने की उनकी हार्दिक इच्छा है इमलिए यदि कोई योग्य विद्वान् पण्डित अथवा विद्याशील व्यक्ति हो तो इसको भट्टारक गादी पर बिठवाया जा सकता है। सघपति विमलदास ने जब ऐसे वाक्य सुने तो उन्होने तत्काल ही सागानेर प कल्याण को पत्र लिखा कि भट्टारकजी अपने शरीर को समाप्त होनेवाला मान रहे है इसलिए जिसके लिए उनका सुझाव मिले उसे ही भट्टारक पद दिया जा सकता है। प कल्याण ने बहुत सोच-विचार कर लिखा कि आजकल कोई पण्डित नही है तथा भट्टारकजी के पत्र से ऐसा ही आभास मिलता है कि भट्टारक पद पर पण्डित दामोदरदास को दिया जाना चाहिए। इसके पश्चात् सभी प्रतिष्ठित सज्जन जिनमें सघपति विमलदास, प कल्याण, चन्द्रदेव, उदयराज, जीवराज, कल्याण सोगाणी आदि के नाम उल्लेखनीय है, मिलकर भट्टारकजी के पास आये।

सघपति विमलदास ने भट्टारकजी से अपने उत्तराधिकारी के विषय मे सकेत देने के लिए निवेदन किया तथा कहा कि वतमान में तो प ाामोदरदास से अच्छा काई पण्डित नही है। यह सुनकर नरेन्द्रकीर्ति हँस दिये तथा कहने लगे कि जैनधम तो गच्छ के सहारे है और इन पण्डितो मे जैनधर्म के प्रति अपार श्रद्धा है। इसके पश्चात् सभी ने यह निश्चय किया कि प दामोदरदास को शीघ्र ही पत्र लिखकर बुलाया जाये। पत्र लेकर मनराम को भेजा गया जो तत्काल सागानेर जाकर प दामोदरदास को आमेर ले आये। भट्टारक महाभिषेक की बात नगर-नगर मे फैल गयी और लोग इसे सुनकर हर्षित हो गये। प दामोदरदास अकेले ही नही आये किन्तु अपने साथ सागानेर के प्रमुख सज्जनो को भी लाये थे। इनमें एक अजयराज चौधरी ने जो सागानेर के सिरताज थे। इसके अतिरिक्त शम्भुराम छाबडा, ऋषभदास वैद, लूणकरण, राइसिंह, सघ हरिराम, प्रेम ठोलिया, उदैराज सोगानी आदि प्रतिष्ठित व्यक्ति भी आमेर आकर उत्सव की शोभा बढाना चाहते थे।

सवत् १७२८ की श्रावण शुक्ला अष्टमी मगलवार को महाभिषेक समारोह आयोजित किया जाना निश्चित हुआ। दोपहर के पश्चात् सघपति विलदास प दमोदरदास के साथ आये। तत्काल अभिषेक की सामग्री मँगायी गयी। स्वणकलशो मे जल भरा गया। उनमे अखण्ड अक्षत डाले गये। सवप्रथम केशर एव हल्दी से युक्त जल से स्वय भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति का अभिषेक किया गया तथा उन्होने सुरेन्द्रकीर्ति को अपना पट्ट शिष्य घोषित किया। सुरेन्द्रकीर्ति ने सवप्रथम पच महाव्रतो को जीवन में उतारने का नियम लिया। इसके पश्चात् नरेन्द्रकीर्ति ने अपने शिष्य सुरेन्द्रकीर्ति को अपना आसन दिया तथा मन्त्र पढकर उनके सिर पर हाथ रखा और भविष्य मे भगवान् महावीर के सिद्धान्तो को जन-जन तक पहुँचाने की प्रतिज्ञा की। तथा यही आशीर्वाद दिया कि जगत् मे जैनधम का विस्तार करो जिससे इस जगत को दुखो से छुटकारा मिल सके। सुरेन्द्रकीर्ति ने सयम वृत ग्रहण किया। इसके पश्चात् सागानेर एव आमेर के प्रतिष्ठित सज्जनो ने सुरेन्द्रकीर्ति का अभिषेक किया एव भट्टारक पट्टावली में इसका निम्न प्रकार उल्लेख किया है—

रतनजडि हेम सकुच महा, पुरिषा मिली पचमु हाथी करे
सगही विमलेस मुनि कवलागिर, चन्द्रसेठी करि चाव मने।
अजैराजर रायसिंह सरोमणि धरमचद्र अभैराज धने।
रस पच्च भस्या अति कुदन, ढाले मसताकि साधु तण।
थिर भमण पार नरिंद तणो, सुरिइन्द्र भट्टारिक साध भण।
कलसा अवशेष कीयौ मुनि उपरि आपण श्री सुरराज अयौ।
अति उदव एम हुवा, भ्रव मडल में सुरभिषि भयो।

अभिषेक के पश्चात् सर्वप्रथम सुरेन्द्रकीर्ति ने अपने अमृतमय वचनो से सबको सम्बोधित किया और आत्मविकास करने की सबको प्रेरणा दी। भट्टारकजी की उस

समय शोभा ही निराली लगने लगी थी। मद-मोह एव मिथ्यात्व से रहित साधु लगने लगे। ज्ञान में वे गौतम के समान दिखाई दिये तथा उनका शरीर तेजयुक्त हो गया जिनके दशन मात्र से ही सबका मन गलित हो जाता था।

उस समय आमेर नगर की शोभा भी निराली ही बन गयी थी। आमेर दुग उस समय राजस्थान में विख्यात था। मिर्जा राजा जयसिंह इसके शासक थे। श्री सुरेन्द्रकीर्ति भट्टारक थे और सघपति विमलदास सब श्रावको के शिरोमणि थे। नगर में भगवान् नेमिनाथ का मन्दिर सबसे बडा था जिसकी श्रावको द्वारा तीनो काय बन्दना की जाती थी। यही मन्दिर भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति का प्रमुख केन्द्र था।

सुरेन्द्रकीर्ति की सेवा में राजस्थान के एव अन्य प्रदेशो के श्रावक आते रहे और उनमें अपने-अपने नगर एव ग्रामो को पवित्र करने की प्राथना करने लगते थे। वे जहाँ भी विहार करते कितने ही प्रकार के महोत्सव आयोजित किये जाते। स्त्रियाँ मगलगीत गाती एव भावकगण साष्टाग प्रणाम के साथ ही चरणस्पश करते एव आशीर्वाद की याचना करते। जब महामुनि बाहर के लिए निकलते तो एक अपूर्व शोभायात्रा होती। उन पर पुष्पो की वर्षा की जाती एव उनके चरणो मे श्रावकगण अपने आपको न्योछावर करने के लिए तत्पर रहते। वे जैनो के आध्यात्मिक बादशाह थे जिनको सभी नर-नारी बिना किसी भेद-भाव के पूजते थे।

पतिसाह जैनि बदे प्रथी दुख दालिद केता हरण।
सुरइद व्रति सुणत सहु सकल सग मगल करण ॥

इस प्रकार सुरेन्द्रकीर्ति का यश चारो ओर फैल गया। उनके गीत गाये जाते और लोग उन्हें तरह-तरह की उपाधियो से विभूषित करके उनका गुणानुवाद करते। एक कवि के शब्दो में देखिए—

छन्द वरसावल

मेट मरजादरा, दृढते दानरा
गोरखे आनरा, रखणै भानरा।
मेटीया मदरा, आदि खेदूरा
जेनिरा बदरा, जोडि सुरिंदरा
सील सन्तोषरा, भूप वदैभरा
ततधारीषरा, व्रिदवाह वरा।

भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति भट्टारक पद पर केवल ११ वष तक रहे लेकिन इतने अल्प समय में ही उन्होने सारे उत्तर भारत में अपना अच्छा प्रभाव जमा लिया। इन्होने दो प्रतिष्ठाओ में विशेष रूप से भाग लिया जो एक सवत् १७२९ में तथा दूसरी सवत् १७३२ में सम्पन्न हुई थी। दोनो ही के प्रतिष्ठाकारक मन्त्रहीन हरिराम थे।

भट्टारक जगत्कीर्ति

[सवत् १७३३ से १७७१ तक]

जगत्कीर्ति भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति के शिष्य थे। सवत् १७३३ में इन्हे भट्टारक गादी पर अभिषिक्त किया गया। भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति की मृत्यु के पश्चात् जब उनके शिष्य की तलाश हुई तो आमेर एव सागानेर की जैन समाज ने जगत्कीर्ति को भट्टारक पद सर्मपित करने का निश्चय किया। इस शुभ काय में रत्नकार्ति, महीचन्द्र एव यशकीर्ति ने मिलकर जगत्कीर्ति को अपने समय का सबसे गौरवशाली भट्टारक गादी समर्पित किया। जगत्कीर्ति के भट्टारक बनते ही चारो ओर हृष छा गया। श्रावकगण उन्हे जैन समाज मण्डल एव गौतम गणधर के समान महान् तपस्वी एव ज्ञानी मानने लगे। एक पट्टावली मे भट्टारक जगत्कीर्ति के इस महाभिषेक का निम्न प्रकार वर्णन किया है—

अती उछाह आनन्द कीया बढिउ हरिष अपार।
गछपति गुद श्रीय जगतकृति, सबै जैनि सिरदार॥
जैनि मडण बौपे सिरताज, महिमा यत्र बडौ मुनिराज।
गौतम तिसौ तपै श्री जगगुर प्रतपै जगतकीरति पाटोधर॥

जगत्कीर्ति विद्या वारिधि थे। महान् तपस्वी एव सयमी थे। अपरिग्रह व्रत धारक थे। जब आसन धारण कर अडिग आखो से सामायिक करने बैठते थे तो वे महान् तपस्वी लगते थे। मन्त्र विद्या के आराधक थे तथा अमृतवाणी के प्रस्तोता थे।

जगत्कीर्ति का महाभिषेक आमेर नगर में हुआ था। विमलदास ने उस समय जैन समाज का नेतृत्व किया और पाच स्वर्ण कलशो में उनका अभिषेक किया। भट्टारकजी खण्डेलवाल जाति में उत्पन्न हुए थे और साखोट्या उनका गोत्र था। उनके महाभिषेक के दिन श्रावण बदी पचमी सवत् १७३३ का शुभ दिन था।

जगत्कीर्ति के कितने ही विशेषण थे। इनमें 'सन्तुष्टीकृत भव्यजनवृन्द' स्वपर पविश्रीकृते ललायमण्डल, निर्बाधवाक्सूरपीयूख उल्लेखनीय है। भट्टारक बनते ही सर्व-प्रथम इन्होने जयपुर राज्य के विभिन्न नगरो में विहार किया। सवत् १७३६ आषाढ बदी १२ गुरुवार के दिन जब ये कामा नगर में पहुँचे तो पचास्तिकाय ग्रन्थ आचार्य श्री दयाभूषण के शिष्य प हीरानन्द को भेंट किया। सवत् १७४१ में करवरनगर में एक विशाल प्रतिष्ठा महोत्सव का आयोजन किया गया। प सोनपाल छाबडा ने प्रतिष्ठा

काय सम्पन्न कराया। इस प्रतिष्ठा में भट्टारक जगत्कीर्ति प्रमुख अतिथि थे। सवत् १७४५ में बणायणा ग्राम मे भट्टारकजी के एक शिष्य ब्र नाथूराम के छोटे भाई झगडू के लिए षट्कर्मोपदेश रत्नमाला की एक पाण्डुलिपि सभी श्रावको ने मिलकर लिखवायी और उसे ब्र. नाथू को भेट की गयी। ग्रन्थ की प्रशस्ति में भट्टारक जगत्कीर्ति के लिए निम्न शब्दो का प्रयोग किया गया है—

'तत्पट्टोदयाद्रिदिनमाण गाभीयधैर्यादाय पाण्डित्य सौजन्य
प्रमुख गुणमणमणि रोहिणीक्षितिभृत भट्टारकश्री जगत्कीर्ति'

भट्टारक जगत्कीर्ति की अध्यक्षता मे चाँदखेडी में सवत् १७४६ मे एक विशाल प्रतिष्ठा महोत्सव का आयोजन किया गया। प्रतिष्ठा में जगत्कीर्ति को सादर एव श्रद्धा के साथ आमन्त्रित किया गया। १८वी शताब्दी में होनेवाली प्रतिष्ठाओ में चाँदखेडी की प्रतिष्ठा का बडा महत्त्व है। एक प्रतिष्ठा पाठ के अनुसार इसमे ११ भट्टारक सम्मिलित हुए थे और उन सबसे प्रमुख भट्टारक जगत्कीर्ति थे। किशनदास बघेरवाडा प्रतिष्ठा-कारक थे। हाथियोवाला रथ था और जिसके सारथी थे, कोटा और बूँदी दरबार से स्वय चलाया था। एक यती द्वारा जब रथ को मन्त्र द्वारा कील दिया गया तो भट्टारक जगत्कीर्ति ने ही उसका प्रबन्ध किया था। इस प्रतिष्ठा महोत्सव मे करीब ५ लाख रुपये खर्च हुए थे ऐसा उल्लेख मिलता है।

"सवत् १७४६ के साल भट्टारक जगत्कीर्ति के बारे मे चादखेडी मे किशनराम बघेरवाला भगवान को रथ हाथ चलाओ। कोटा बूँदी का महाराज दोन्यू लेर चाल्या। सभा सहित भट्टार ११ जदि। जती चालता रथ कूँ बद कर दीनू और कही यहा की पूजा करया रथ चाले लो तदि आचाय या कही हाथ्या ने खोल दी। रथ बिना हाथ्या ही चालसी। हाथी खाल्या पाछे रथ पाव कोष चाल्यो और जती न कुहवाई अब थारी सामर्थ दिखा तद आचार्य के पगा पड्या प्रतिष्ठा मे रुपया पाँच लाख लाग्या।"

भट्टारक जगत्कीर्ति के कितने ही शिष्य थे। इनमे प्रमुख थे पण्डित नेमीचन्द। इनके शिष्य डूगरसी, रूपचन्द, लिखमीदास एव दोबराज थे। प नेमीचन्द के हरिवश-पुराण की रचना में अपने गुरु का अच्छा उल्लेख किया है जो निम्न प्रकार है—

भट्टारक सब उपरे जगतकीर्ति जग जोति अपारतौ।
कीरति चन्द्र दिसि बिन्सरी पाँच आचार पालै सुभसारतौ।
प्रयत्त मैं जीतै नही चहुँ दिसि मैं सब ताकी आणतौ।
खिया खडग स्यो जीतिया, चौराणवै पट नायक मागतौ।

एक अन्य पट्टावली के अनुसार उनके प्रमुख शिष्यो में दीवराज और छीतरमल थे। छीतरमल के शिष्य हीरानन्द एव उनके शिष्य चोखचन्द थे।

सवत् १७६१ में करवर (हाडौती) नगर में फिर एक विशाल प्रतिष्ठा महोत्सव का आयोजन सम्पन्न हुआ। प्रतिष्ठा करानेवाले श्रावक सोनपाल काबरा थे जो टोडाराय-सिंह के रहनेवाले थे। प्रतिष्ठा में चारो ही सघ एकत्रित हुए थे। इस प्रतिष्ठा मे यतियो

ने अपनी मन्त्र शक्ति के द्वारा खाद्य पदार्थो को आकाश में उडा दिया। इसके उत्तर में भट्टारक जगत्कीर्ति ने अपने कमण्डलु में से पानी छिडककर विघ्न को शान्त किया तथा वह सामग्री भी आकाश से नीचे आ गिरी। इससे जगत्कीर्ति की चारो ओर प्रशसा होने लगी और लोग उनके भक्त बन गये।

भट्टारक जगत्कीर्ति के समय आमेर राज्य की राजधानी थी। नगर व्यापारिक मण्डी थी। सामान्य वस्तुओ के भण्डार भरे रहते थे। सब जातियाँ सुखी एव प्रसन्न थी। आमेर जैन समाज का केन्द्र था। भट्टारको का समाज पर पूण प्रभाव था तथा कोई भी धार्मिक अनुष्ठान, प्रतिष्ठा आदि उनके मागदशन के बिना नही हो सकती थी।

जगत्कीर्ति सवत् १७७० तक भट्टारक रहे। २६ वष के अपने भट्टारक जीवन में उन्होने इतना अधिक यश का अजन कर दिया था कि उनकी चारो ओर जयघोष से आकाश गुजित रहने लगा था। उनका राज्य शासन मे भी विशेष जोर था और महाराज सवाई जयसिह द्वारा उनका समय-समय पर सम्मान होता रहता था। वे जहाँ भी विहार करते गाँव एव नगर के झुण्डो के झुण्ड नर-नारी उनका स्वागत करते थे। मन्त्र शास्त्र के भी वे अच्छे ज्ञाता थ ओर इसमें भी उनकी चारो ओर धाक रहती थी। आमेर, साँगानेर मे उनकी गादियाँ थी लेकिन ये राजस्थान एव देश के अन्य भागो में विहार किया करते थे।

---

१ सवत १७६१ के साल भट्टारक जगत्कीर्ति के बारे में गाँव करबर हाडोती का मुलक में सोनपाल छाबड़ा टोडारायसिंह का चौधरी प्रतिष्ठा कराई चार सघ मेला हुआ। जला माल उठायो तब चौधरी कही महाराज माल अटूट करयो। पण जती लोग माल उडायो मगाबा छे तद आप कमण्डल के छाँटा दीना तद चाल्यो नहीं आकाश में लरयो करयो फेर जोर चाल्यो नहीं। प्रतिष्ठा में रुपया दस लाख लाग्या।

भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति द्वितीय

[सवत् १७७१ से १७९२ तक]

देवेन्द्रकीर्ति (द्वितीय) भट्टारक जगत्कीर्ति के स्वगवास के पश्चात सवत १७७० की माह वदी ११ को आमेर में भट्टारक गादी पर बैठे। उस समय आमेर अपने पूण वैभव पर था और महाराजा सवाई जयसिंह आमेर के शासक थे। देवेन्द्रकीर्ति खण्डेलवाल जाति के श्रावक थे और ठोलिया इनका गोत्र था। जगत्कीर्ति अपने समय के अत्यधिक प्रतिभाशाली भट्टारक थे तथा उनका यश एव कीर्ति चारो ओर फैली हुई थी। ऐसे यशस्वी भट्टारक का उत्तराधिकारी होना ही देवेन्द्रकीर्ति के प्रखर व्यक्तित्व का द्योतक है।

देवेन्द्रकीर्ति का महाभिषेक जिस शानदार ढग से हुआ वह किसी सम्राट् के राज्याभिषेक से कम नही था। एक सप्ताह पूर्व ही आमेर को सजाया जाने लगा था। तोरण द्वार बाधे गये थे और मन्दिरो में विशेष उत्सव आयोजित किये गये थे। आमेर, सागानेर, मौजमाबाद, साभर, नरायणा, चाकसू, टोडारायसिंह-जैसे अनेक गावो एव नगरो में सहस्रो की सख्या में श्रावक एव श्राविकाएँ तथा पण्डितगण सम्मिलित हुए थे। अनेक विद्वानो को विशेष रूप से सादर आमन्त्रित किया गया था। वैसे भट्टारक जगत्कीर्ति के सघ में भी अनेक ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारिणियाँ, पण्डितगण अच्छी सख्या में थे। माह वदी ११ को शुभ मुहूत में उनका पट्टाभिषेक हुआ। नौबत बजने लगे और जनता ने भगवान् महावीर की जय, जैनधर्म की जय, भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति की जय के नारो से आकाश गुँजा दिया। चारो ओर से भेंट आना प्रारम्भ हुआ और सभी ने श्रद्धानुसार उनके चरणो मे अपना भाग अर्पित किया। देवेन्द्रकीर्ति द्वारा पूर्ण सयम एव महाव्रतो को स्वीकार करने की प्रतिज्ञा ली गयी।

सर्वप्रथम उन्होने अपने क्षेत्र का और फिर राजस्थान का विहार किया। सवप्रथम इनके भट्टारक बनने के पश्चात् सवत् १७७३ की फाल्गुन सुदी ३ को घूलेटनगर में एक प्रतिष्ठा का आयोजन किया गया। यह प्रतिष्ठा सघी हृदयराम द्वारा करायी गयी थी और भट्टारक जगत्कीर्ति के शिष्य प खोवसीजी ने प्रतिष्ठा कार्य करवाया था।

सवत् १७८० की ज्येष्ठ सुदी ३ रविवार को आमेर के पास खोहरा में साह कुँवरपाल ने भट्टारक श्रेयान्सनाथ के चैत्यालय का निर्माण करवाया। इस प्रतिष्ठा काय की प्रेरणा आचाय चन्द्रकीर्ति ने की थी। उस समय भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति (द्वितीय) का

शासन था और उन्हे 'तत्पट्टोदयाद्रिप्रभाकर भट्टारकेन्द्र भट्टारक श्रीदवेन्द्रकीर्ति देवा' इन शब्दो मे स्मरण किया गया है।[1]

सवत् १७८३ वैशाख सुदी ८ का दिन भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के जीवन मे विशेष महत्त्व का रहा। इस दिन उन्होने बाँसखोह में एक बडी भारी प्रतिष्ठा का कार्य सम्पन्न कराया। सवत् १७४६ में चाँदखेडी में होनेवाली राजस्थान की यह सबसे बडी प्रतिष्ठा थी जिसमें हजारो मूर्तियो की प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई। इस प्रतिष्ठा महोत्सव में प्रतिष्ठापित सैकडो मूर्तियाँ आज राजस्थान के विभिन्न मन्दिरो मे मिलती है। बाँसखोह जयपुर राज्य के अधीन ठिकाना था जिसके शासक का नाम ही चूहडसिह था। इस प्रतिष्ठा को सघी श्री हृदयराम से उनके परिवार ने सम्पन्न करवाणी थी। इन्ही हृदयराम ने सवत् १७७३ में भी एक प्रतिष्ठा का आयोजन करवाया था। एक प्रतिष्ठा पाठ के अनुसार इस प्रतिष्ठा को सम्पन्न करवाया।

देवेन्द्रकीर्ति द्वितीय साहित्य सेवी भी थे तथा विद्वानो से इनका खूब सम्पक था। प लिखमीराम इनके शिष्य थे और इन्ही के पास खुशालचन्द्र काला ने कुछ ज्ञान प्राप्त किया था। खुशालचन्द्र ने सवत् १७८० में हरिवशपुराण की रचना भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के शासन में की थी जिसका उल्लेख उन्होने निम्न प्रकार किया है—

कुदकुद मुनि की सु आमनाय माँहि,
        भये देवेन्द्रकीर्ति सुपट्टासर पायके।
जिन सु भये तहाँ नाम लिखवीदास,
        चतुर विवेकी श्रुतज्ञान कू उपाय के।
तिहने पास मै भी कछु आल सौ प्रकाश भयो,
        फोट मे बस्यो जिहानाबाद मध्य आइके।

सवत् १७८५ मे पौष शुक्ला चतुर्थी सोमवार को जिनसेनाचाय कृत हरिवश पुराण की झिलाय नगर मे मनसाराम सोगाणी ने प्रतिलिपि की थी। इसकी प्रशस्ति मे भट्टारक चन्द्रकीर्ति द्वितीय के लिए निम्न विशेषणो का प्रयोग किया गया है—

"तत्पटटोदयाद्रि-दिनमणि निबन्ध सम्यो गद्य पद्य
विद्याधरी परिदम्भ—
सतर्ज्जित मूर्खिप्रतापबल निजश्रमावलिल निद्धूत पापपक
भट्टारकेन्द्र भट्टारक श्री देवे द्रकीर्ति"

देवेन्द्रकीर्ति २२ वष करीब भट्टारक और सन् १८९२ तक जीवित रहकर देश एव समाज की सेवा करते रहे।

---

१ हरिवशपुराण प्रशस्ति सग्रह, डॉ कस्तूरचन्द कासलीवाल, पृ सरया २७६ ७७।

भट्टारक महेन्द्रकीर्ति

[सवत् १७९२ से १८१५ तक]

भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति द्वितीय के स्वर्गवास के पश्चात् १७९२ में महेन्द्रकीर्ति भट्टारक गद्दी पर पदस्थ हुए । उस दिन पौष सुदी १० का दिन था । इनका महाभिषेक देहली में हुआ था । जिससे अनुमान लगाया जा सकता है कि भट्टारको के प्रभाव में और भी वृद्धि होने लगी थी और देहली निवासियो में इन भट्टारको के प्रति श्रद्धा हो गयी थी ।

महेन्द्रकीर्ति का ग्रन्थ प्रशस्तियो मे एव शिलालेखो मे विभिन्न विशेषणो के साथ उल्लेख मिलता है । 'मुनिसुव्रतपुराण' की एक प्रशस्ति में इन्हे 'भट्टारक शिरोरत्न' की उपाधि से स्मरण किया गया है । एक अन्य प्रशस्ति में सकल भट्टारक शिरोमणि भट्टारक श्री महेन्द्रकीर्ति के रूप में इनका उल्लेख मिलता है । महेन्द्रकीर्ति ने प्रतिष्ठाओ को विशेष प्रोत्साहन नही दिया और साहित्य लेखन एव उसके प्रचार को अपनी गतिविधियो का माध्यम बनाया । सौभाग्य से इन्हे प दयाराम सोनी मिल गये जो नरायण के निवासी थे । ये ग्रन्थो की प्रतिलिपि करने में अत्यन्त निष्णात थे । इनके द्वारा लिखे हुए पचासो ग्रन्थ आज राजस्थान के विभिन्न शास्त्र भण्डारो मे सग्रहीत है । पाण्डे जिनदास कृत जम्बूस्वामीचरित्र की प्रशस्ति में प दयाराम ने भट्टारक महेन्द्रकीर्ति को 'पट्टोदयाद्रि-दिनमणिप्ररूप भट्टारक श्री महेन्द्रकीर्ति' लिखा है और अपने आपको 'तदाजानुवर्णी प दयारामेन' लिखकर अपना परिचय दिया है । इन्ही दयाराम ने खडगसेन के त्रिलोकदपर्णकथा, प खुशालचन्द्र के यशोधर चरित्र एव सम्यक्त्व कौमुदी भाषा चौपई एव नेमिचन्द के हरिवशपुराण का ग्रन्थो की प्रतिलिपियाँ करके भट्टारक महेन्द्रकीर्ति को दी थी । इससे ज्ञात होता है कि महेन्द्रकीर्ति की साहित्य निर्माण में अधिक रुचि थी ।

महाराजा सवाई जयसिंह के पश्चात् महाराजा ईश्वरीसिंह (सन् १७४३-५०) एव महाराज सवाई माधोसिंह (सन् १७५०-१७६७) तक जयपुर के शासक रहे । सवाई माधोसिंह के शासनकाल में जयपुर में महाकवि दौलतराम एव महापण्डित टोडरमल जैसे विद्वान् हुए जिन्होने जैन समाज एव साहित्य की अपूर्व सेवा की थी । टोडरमलजी का पहले तो भट्टारको से मधुर सम्बन्ध था लेकिन बाद में ये इनके घोर विरोधी हो गये । जयपुर में तेरापन्थ का विकास इन्ही के विरोध का परिणाम था । भट्टारक

महेन्द्रकीर्ति ने भी इस वातावरण के अनुसार साहित्य प्रचार का कार्य प्रारम्भ कर दिया और इस काय की ओर विशेष प्रवृत्त हो गये।

महेन्द्रकीर्ति के सघ मे मुनि एव आचाय भी रहते थे। एक प्रशस्ति मे उनके सघ मे आचार्य ज्ञानकीर्ति, आचार्य सबलकीर्ति एव प खेतमी का नामोल्लेख किया है।

भट्टारक क्षेमेन्द्रकीर्ति

[सवत् १८१५ से १८२२ तक]

भट्टारक क्षेमेन्द्रकीर्ति का महाभिषेक १८१५ में जयपुर में ही हुआ। भट्टारक गादी का प्रमुख केन्द्र जयपुर का दिगम्बर जैन मन्दिर पाटोदी था इसलिए इसी मन्दिर में उनका समाज की ओर से अभिषेक किया गया। लेकिन स १८१५ से २२ तक का समय महापण्डित डोटरमल के जीवन के उत्कर्ष का समय था। इसलिए क्षेमेन्द्रकीर्ति अपने समय मे कोई उल्लेखनीय कार्य नही कर सके। फिर भी एक प्रशस्ति में इन्हें पट्टोदयाद्रिसहस्ररश्मिसन्निभ कहा गया है। सवत् १८२० में श्रावकाचारकम की प्रतिलिपि उनके पण्डित के पठनार्थ की गयी थी।

भट्टारक क्षेमेन्द्रकीर्ति के समय मे जयपुर में तेरापन्थ का बहुत जोर था। चारो ओर पण्डित टोडरमल द्वारा लिखित ग्रन्थो का अध्ययन होता था। सवत १८२१ में जयपुर में इन्द्रध्वज पूजा का विशाल आयोजन हुआ था। लेकिन भाई रायमल्ल की पत्रिका में भट्टारक क्षेमेन्द्रकीर्ति का उल्लेख नही होना बताता है कि समाज का एक वग इनका पूणरूप से विरोधी विचारधारा का बन गया था। लेकिन इससे भट्टारक सस्था पर कोई तत्काल प्रभाव नही पडा। उस समय जयपुर मे बख्तराय साह-जैसे विद्वान् थे जो भट्टारक सस्था के समर्थक थे। इन्होने मिथ्यात्व खण्डन में तेरहपन्थ की कटु आलोचना की है। यह ग्रन्थ भट्टारक क्षेमेन्द्रकीर्ति के समय (स १८२१) में ही लिखा गया था।

भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति

[सवत् १८२२ से १८५२ तक]

जयपुर में महाभिषेक होनेवाले भट्टारको में सुरेन्द्रकीर्ति दूसरे भट्टारक थे। भट्टारक पट्टावली में इनके महाभिषेक की तिथि सवत् १८२२ फाल्गुन सुदी ४ है। किन्तु तत्कालीन जयपुरिया विद्वान् बखतराम साह ने बुद्धि विलास मे पट्टाभिषेक का सवत् १८२३ लिखा है। सुरेन्द्रकीर्ति खण्डेलवाल जाति के श्रावक थे तथा पहाडिया इनका गोत्र था। ये भट्टारक गादी पर सवत् १८५२ तक रहे।

सुरेन्द्रकीर्ति जब भट्टारक गादी पर बैठे तब महापण्डित टोडरमल की सारे जयपुर नगर में बडी भारी प्रतिष्ठा थी। तथा तेरहपन्थवाले श्रावको का चारो ओर बहुत जोर था। ऐसे समय में भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति का उन्ही के नगर में पटटाभिषेक होना भी आश्चय-सा लगता है। लेकिन इससे यह भी लगता है कि भटटारक सुरेन्द्र-कीर्ति विद्वत्ता एव सयम दोनो ही दृष्टि से प्रशसनीय व्यक्तित्व के साधु थे। भट्टारक बनते ही इन्होने सारे प्रदेश में विहार करना प्रारम्भ किया और जनसम्पक के माध्यम से चारो ओर अपने श्रद्धालु भक्त करने लगे। सवत् १८२४-२५ में महापण्डित टोडरमल का स्वर्गवास हो गया। इससे तेरहपन्थ समाज को बडा धक्का लगा और उसके काम में गहरा गतिरोध पैदा हो गया।

दूसरी ओर भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति अपने समाज का पूरा प्रभाव स्थापित करने में लगे हुए थे। इसलिए सवत् १८२६ मे इन्होने सवाई माधोपुर में एक बृहद् पचकल्याणक महोत्सव को सानन्द सम्पन्न कराया। इस प्रतिष्ठा में देश के विभिन्न भागो के हज़ारों प्रतिनिधियो ने भाग लिया और महोत्सव की सफलता में अपना महत्त्वपूर्ण योग दिया। एक प्रतिष्ठा-पाठ के अनुसार इस प्रतिष्ठा समारोह में ५ लाख रुपये खर्च हुए थे। सवत् १७८३ के पश्चात् जैनो का ऐसा विशाल समारोह प्रथम बार हुआ था। जयपुर में सवत् १८२१ में आयोजित इन्द्रध्वज पूजन भी सम्भवत इससे बडा समारोह नही होगा। इस प्रतिष्ठा में देश के विभिन्न भागो में हज़ारो मूर्तियाँ प्राप्त हुई है और सबका भगवान् बनाकर विभिन्न मन्दिरो में विराजमान किया गया।

सवत् १८४१ में फाल्गुन सुदी ६ के शुभ दिन भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति अपने सघ के साथ खण्डार पधारे। वहाँ के मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाकर एक बडा भारी मेला भरवाया। जीर्णोद्धार करवाने में महाराज सवाई प्रतापसिंह के खवास रामकँवर,

प्रधान दीवान रामचन्द्र एव उनके परिवारवालो सभी का योग रहा। इसके पूव सवत् १८३४ में घूलेट में इन्ही के उपदेश से एक पचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव का आयोजन हुआ था।[1] सवत १८५१ वैशाख सुदी १४ सोमवार के दिन वालन्दा नगर मे छाबडा गोत्राय साह उदयराम एव उनके पुत्र सम्भुराम ने प्रतिष्ठा करायी।[2]

एक प्रशस्ति मे सुरेन्द्रकीर्ति की निम्न विशेषणो के साथ स्तुति की गयी है—

'तत्पट्टायागमातण्ड' 'चण्डोद्योतित' 'परवादिपचानन'[3]

एक अन्य प्रशस्ति में[4] इन्हे सवभौमाना 'पट्टालकार ललायमान' की उपाधि से विभूषित किया गया। सुरेन्द्रकीर्ति के प्रधान शिष्य प चौखचन्द्र थे। इन्हे भी 'परवादिकुम्भस्थलविदारणे मृगेन्द्र स्ववचन-चातुरीनिरस्तीकृत-मिथ्यात्वादय'—विशेषणो के साथ सम्बोधित किया गया।

सुरेन्द्रकीर्ति ने अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी के विकास में प्रारम्भ से ही ध्यान दिया और समय-समय पर वहाँ जाकर क्षेत्र के विकास में अपना महत्त्वपूण योगदान दिया।

भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति सस्कृत एव हिन्दी के प्रकाण्ड विद्वान थे। इनकी अब तक निम्न लघु रचनाएँ प्राप्त हो चुकी है—

१. सम्मेद शिखर पूजा[5]
२ पचकल्याणकविधान[6]
३ पचणायचतुदशी व्रतोद्यापन[7]
४ जम्बूदीप प्रज्ञप्ति-सग्रह[8]
५ चाँदनपुर महावीर पूजा

जम्बूदीप प्रज्ञप्ति-सग्रह में इन्होने अपना परिचय निम्न प्रकार दिया है—

श्रीमत्क्षेमेन्द्रकीर्ति भवर मुनिवर श्रेष्ठशिष्यस्य नित्य
जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति प्रवर रचना रिप्यणीवद्विधातु।

भट्टारक गादी पर बैठने के पश्चात् इन्होने अपनी गादी दिगम्बर जैन आचार्य क्षेत्र श्री महावीरजी में स्थानान्तरित की और चाँदनपुर महावीर की पूजा की रचना की। इससे ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र पर इन भट्टारको का पूण अधिकार था और वे प्राय वहा जाया करते थे तथा काफी समय ठहरकर श्रावको को धर्मोपदेश दिया करते थे। भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति ने जयपुर एव सवाई माधोपुर, चाकसू आदि नगरो में अपना प्रभाव पुन स्थापित किया और जनसामान्य में भट्टारक सस्था के प्रति श्रद्धा के भाव जागृत किये।

---

१ मूर्ति पच लेख सग्रह महावीर भवन, जयपुर, पृ स ५४।
२ वही पृ स २६३।
३ प्रशस्ति सग्रह, पृ स ४८।
४ वही पृ स ५५।
५ रा जैन ग्रन्थ सूची, पचम भाग, पृ स. ६२२।
६ वही, पृ स ८४६।
७ वही, पृ स ८५६।
८ महावीर भवन, जयपुर, पृ स ८।

भट्टारक सुखेन्द्रकीर्ति

भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति द्वितीय के स्वर्गवास के पश्चात सवत् १८५२ में मगसिर बदी अष्टमी के दिन जयपुर में ही सुखेन्द्रकीर्ति भट्टारक पद पर पट्टाभिषिक्त हुए। सुखेन्द्रकीर्ति जब भट्टारक बने तो जयपुर जैन समाज एकदम बीसपन्थ एव तेरहपन्थ धाराओ में बँट चुका था। यद्यपि महापण्डित टोडरमल एव महाकवि दौलतराम कासलीवाल-जैसे उच्च विद्वानो का स्वगवास हो चुका था किन्तु उनके द्वारा निर्दिष्ट माग पर समाज आगे बढ रहा था। एक ओर महापण्डित जयचन्द्र छाबडा तत्त्व प्रचार कर रहे थे तथा सस्कृत एव प्राकृत ग्रन्थो की टीकाएँ करके जनता में स्वाध्याय का प्रचार कर रहे थे तो दूसरी ओर टोडरमलजी के पुत्र गुमानीराम तेरहपन्थ में भी और सुधार लाने का प्रयास करते थे। भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति ने भी अपने विशिष्ट व्यक्तित्व के माध्यम से जनता को अपनी ओर आकृष्ट कर दिया था और तत्कालीन समाज में भट्टारक गादी की उपयोगिता का प्रचार करने मे सफलता प्राप्त कर ली थी। इसलिए उनके मरने के पश्चात् टोडरमलजी के ही नगर में पुन सुखेन्द्रकीर्ति का पट्टाभिषेक सानन्द सम्पन्न हो गया।

भट्टारक गादी पर बैठते ही सवप्रथम उन्होने नगर के बाहर अपने पूववर्ती भट्टारक महेन्द्रकीर्ति एव भट्टारक क्षेमेन्द्रकीर्ति की स्मृति में दो छतरियो का निर्माण कराया और उनमें उनके चरण स्थापित किये। यह उनके समाज पर व्याप्त प्रभाव की ओर स्पष्ट सकेत है। यह महोत्सव सवत् १८५३ माघ सुदी पचमी गुरुवार को सम्पन्न हुआ था।[1]

---

१ सवत १८५३ माघ मासे शुक्लपक्षे पचमी गुरुवासरे ढूढाहड देश सवाई जयनगरे महाराजाधिराज महाराज श्री सवाई प्रतापसिंह जी राज्य प्रवर्तमाने श्रीमूलसघे सघाम्नाये बलात्कारगणे सरस्वती गच्छे कुन्दकुन्दाचार्यन्वेण अम्रावती पट्टोदयाद्रि दिनमणि तुल्य भट्टारकेन्द्र भट्टारक जी श्री देवेन्द्रकीर्ति तत्समे भ श्री महेन्द्रकीर्ति तत्पट्टे श्री क्षेमेन्द्रकीर्ति तत्पट्टे भ श्री सुरेन्द्रकीर्ति तत्पट्टे भ श्री सुखेन्द्र कीर्तिना इय श्री महेन्द्रकीर्ति गुरौ पादुका प्रस्थाप्य महोच्छवेन प्रतिष्ठापिता पूजकानां कल्याण करोतु श्रीरस्तु शुभचन्द्र।

आचार्य शान्तिसागरजी

दिगम्बर जैन समाज में उत्तरी भारत मे तेरहपन्थ के उदय ने भट्टारक सम्प्रदाय पर गहरी चोट की और समाज पर उनका एकाधिकार स्वत ही कम होता गया। राजस्थान, देहली, मध्यप्रदेश, गुजरात एव उत्तरप्रदेश में जहाँ भी भट्टारको की गादियाँ थी उनके प्रति जनता की आस्था घटने लगी। भट्टारक सस्था के पतन मे एक कारण यह भी रहा कि वे न तो विशिष्ट सिद्धान्तवेत्ता ही रहे और न तपस्वी एव सयमी ही रहे। महापण्डित टोडरमल, जयचन्द्र, सदासुख-जैसे एक के पीछे दूसरे विद्वानो के होने से समाज मे विद्वानो के प्रति आदर बढने लगा और भट्टारक साधु सस्था के प्रति निष्ठा कम होती गयी। आज उत्तर भारत मे अधिकाश भट्टारक गादियाँ खाली पडी है और उन गादियो पर बैठने के लिए न किसी में विशेष उत्साह है और न समाज को ही विशेष चिन्ता है।

लेकिन सन् १९२७-२८ के आस-पास उत्तरी भारत मे दक्षिण भारत से नग्न मुनियो का सघ प्रवेश हुआ और इस सघ ने सारे देश मे एव विशेषत दिगम्बर जैन समाज मे एक नयी हलचल मचा दी। यह सघ आचाय शान्तिसागरजी का था जिन्होने मृतप्राय मुनि सस्था को फिर से जीवनदान दिया। उत्तर भारत के सैकडो नगरो एव ग्रामो में सघ व विहार करके आपने लोगो में जैनधर्म एव जैनाचार के प्रति जन-सामान्य में एक विशेष स्फूर्ति पैदा की और उसके पश्चात् देश में एक के बाद दूसरे सघ बनने लगे और आज तो सारे भारत में सौ से भी अधिक मुनि एव आचाय से कम नही होगे।

आचाय शान्तिसागर का जन्म दक्षिण भारत के बेलगाँव जिले के बेलगुल ग्राम मे आषाढ कृष्णा ९ विक्रम सवत् १९२९ में बुधवार की रात्रि को हुआ। आचार्यश्री के पिता का नाम भीमगोडा पारील था तथा माता का नाम सत्यवती था। ये चतुथ जैन जाति मे पैदा हुए थे। इसी जाति में महापुराण के निर्माता भगवत् जिनसेनाचार्य हुए। आदिगौडा एव देवगोडा उनके बडे भाई थे तथा कुम्भ गौडा छोटा भाई था। आचार्यश्री का परिवार अत्यधिक प्रतिष्ठित परिवार था और उसके सभी सदस्य भूमिपति थे। आचार्यश्री की माता अत्यधिक धार्मिक थी। वह अष्टमी चतुदशी को उपवास रखती और साधुओ को आहार देती थी। वे भी अपनी माता को साधुओ को आहार देने में योग देते थे। उनके कमण्डलु को हाथ में रखकर उनके साथ-साथ जाया करते थे इसलिए छोटी अवस्था में ही उनके साधु बनने की लालसा जागृत हो गयी थी। आचार्यश्री के पिता भी प्रभावशाली, बलवान्, रूपवान्, प्रतिभाशाली थे। उन्होने १६ वष पर्यन्त एक

बार ही भोजन के नियम का पालन किया और अन्त मे ६५ वष की आयु में यम-समाधिपूर्वक मृत्यु का सहर्ष आलिंगन किया।

अपने सद्‌गुणो के कारण आचायश्री सवप्रिय थे और जब वे नौ वर्ष के ही थे तभी माता-पिता ने उनका एक ६ वष की बालिका के साथ विवाह कर दिया। लेकिन दैवयोग से उस लडकी का विवाह के ६ मास पश्चात् ही स्वर्गवास हो गया। जब वे १८ वष के हुए तो माता-पिता ने विवाह करने के लिए पुन आग्रह किया लेकिन आचायश्री ने स्पष्ट रूप से मना कर दिया। माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् आचायश्री ने जिनदीक्षा ले ली। उनके दीक्षा गुरु मुनि देवेन्द्रकीर्ति थे। कोगनोली (दक्षिण) मे उन्होने अपना प्रथम चातुर्मास व्यतीत किया। इनका दूसरा चातुर्मास नसलापुरा मे हुआ। विक्रम सवत् १९८० मे उनका चतुथ चातुर्मास कोल्नर मे सम्पन्न हुआ। अब महाराजश्री के दर्शनार्थ दूर-दूर से श्रावक आने लगे। एक बार महाराज को जब श्रावको की उपस्थिति मे अपनी तपस्या में बाधा दिखलाई दी तो वे पास ही की एक गुफा मे ध्यान करने चले गये। जब वे ध्यानस्थ थे तो गुफा में ही एक सप ने उनपर उपसर्ग किया और शरीर पर लिपट गया। लेकिन आचार्यश्री ज़रा भी विचलित नही हुए और अपनी तप साधना में लीन रहे। महाराजश्री के शान्त एव ध्यानस्थ योग मुद्रा को देखकर वह स्वत ही उतरकर चला गया। इसी तरह जब वे क्षुल्लक अवस्था में थे तब भी एक भयकर विषधर सामायिक करते समय उनके तन पर तथा गले मे लिपट गया था लेकिन आचायश्री प्रत्येक परीक्षा में खरे उतरे। समडोली मे महाराजश्री ने श्रमण सघ का निर्माण किया उसके कारण लोगो ने उन्हे आचार्य परमेष्ठी के रूप मे पूजना प्रारम्भ कर दिया।

दक्षिण से आचार्यश्री का विहार उत्तर भारत में जब हुआ तो समस्त जैन समाज मे एक अजीब हलचल मच गयी और उसने आचायश्री को पाकर अपने आपको गौरवान्वित समझा। आचायश्री महान् तपस्वी थे और रात्रि-दिन आत्मध्यान में लवलीन रहते थे। उन्होने उत्तर भारत के सभी नगरो एव गाँवो में विहार किया और जन-जन के हृदय में अहिंसा एव अनेकान्त के आदश को रखा। वे जहाँ विहार करते जनता उनका हृदय से स्वागत करती और ऐसे महान् तपस्वी के चरणो में अपने आपको समर्पित कर देती। आचार्यश्री का सम्पूर्ण जीवन रोमाचकारी घटनाओ से परिपूण था। उनके सम्पर्क में जो भी आया वही उनके समक्ष नतमस्तक होकर चला गया।

महाराजश्री अन्तिम समय कुन्थलगिरि पर थे। वहाँ उन्होने अपना अन्तिम समय जानकर १४ अगस्त सन् १९५५ को यम सल्लेखना ले ली और १८ सितम्बर १९५५ के प्रभात मे छह बजकर पचास मिनट पर उनके औदारिक देह का अन्त हो गया। ३६ दिन की यम समाधि ने समस्त जैन समाज में ही नही किन्तु सारे देशवासियो में एक अजीब हलचल मचा दी और समस्त देश ने एक साथ उनके चरणो में अपनी सच्ची श्रद्धाजलि अर्पित की। इस युग में आचार्य शान्तिसागरजी-जैसा महान् तपस्वी मिलना दुर्लभ है। ऐसे महान् सन्त को लेखक की ओर से शत शत प्रणाम।

आचार्य वीरसागरजी

आचार्य शान्तिसागर महाराज का पट्ट शिष्य होने का सौभाग्य वीरसागरजी को मिला। जब आचार्यश्री ने यम समाधि ले ली थी उसी समय २६ अगस्त १९५५ शुक्रवार को इन्हें आचार्य पद प्रदान किया गया। यद्यपि उस समय वीरसागरजी वहाँ नही थे लेकिन आचार्य पद देते हुए उन्होने कहा था कि "हम स्वय के सन्तोष से अपने प्रथम निग्रन्थ शिष्य वीरसागर को आचार्य पद देते है।" उन्होने उस समय अपना महत्त्वपूण उपदेश निम्न शब्दो मे भेजा था "आगम के अनुसार प्रवृत्ति करना, हमारी ही तरह समाधि धारण करना और सुयोग्य शिष्य को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करना जिसने परम्परा बराबर चले।"

आचार्य वीरसागरजी अधिक दिनो तक आचार्य पद पर नही रह सके और सन् १९५७ में ही जयपुर की खानियो में उन्होने समाधि मरण ले लिया। उनका बडा तेज-आत्मबल था और उसी के सहारे वे अपना मार्ग निर्धारण करते थे।

आचार्य वीरसागरजी दक्षिण भारत के गृहस्थ जीवन में अवैतनिक रूप से धर्म-शिक्षण का काय करते थे।

आचार्य शिवसागरजी

आचाय वीरसागरजी के पश्चात् आचाय शान्तिसागरजी की परम्परा को बनाये रखने के लिए मुनि शिवसागरजी महाराज विक्रम सवत २०१४ म आचाय पद पर प्रतिष्ठित किये गये। आचाय बनने के पश्चात ब्यावर में आपका प्रथम चातुर्मास हुआ। इसके पश्चात् अजमेर, सुजानगढ, सीकर, लाडनूँ, खानिया (जयपुर), पपौरा, श्री महावीरजी, कोटा, उदयपुर एव प्रतापगढ में चातुर्मास सम्पन्न हुए। और फाल्गुन कृष्ण अमावस्या सवत् २०२५ को छह-सात दिन के साधारण ज्वर के पश्चात श्री महावीरजी मे आपका स्वर्गवास हो गया।

शिवसागरजी का जन्म सम्भवत सवत् १९५८ मे हुआ था। ये खण्डेलवाल जाति एव रावका गोत्रीय श्री नेमिचन्द्रजी के सुपुत्र थे। आपकी जन्मभूमि औरगाबाद जिले के अन्तगत अडगाँव है। आपका जन्म-नाम हीरालाल था। आपके दो भाई एव दो बहनें थी। पिता की आर्थिक स्थिति विशेष अच्छी नही होने के कारण आप एव आपके भाई-बहन उच्चाध्ययन से वचित रहे। १३ वष की आयु मे ही आपके माता-पिता एव बडे भाई की मृत्यु हो जाने से सारी गृहस्थी का भार आप पर आ गया। जब आप २८ वर्ष के थे तब स्व शान्तिसागरजी के दशन करने का सौभाग्य मिला और प्रथम भेंट में ही आचायश्री से आपने व्रत प्रतिमा ग्रहण की। ४१ वर्ष की आयु में आपने मुक्तागिरि सिद्ध क्षेत्र पर सप्तम प्रतिमा धारण कर ली और ब्रह्मचारी के रूप में सघ के साथ रहने लगे। इसके पश्चात् इन्होने क्षुल्लक दीक्षा ले ली और सवत् २००६ मे नागौर (राजस्थान) मे आपने मुनि दीक्षा धारण कर ली। इसके पश्चात् १४ वष तक आप आचार्यश्री वीरसागरजी के सघ में मुनि अवस्था में रहे और चारो अनुयोगो का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। और अन्त मे सवत् २०१४ में आचाय वीरसागर-जी के स्वर्गवास के पश्चात आप सघ के आचाय बनाये गये। आपने अपने जीवन में ४८ साधुओ को दीक्षा दी।

सवत् २०२० में जब खानियाँ (जयपुर) में आपका चातुर्मास हुआ तो वहाँ निश्चय और व्यवहार को लेकर विद्वानो की एक बृहद् गोष्ठी का आयोजन हुआ। यह एक ऐतिहासिक गोष्ठी थी जिसमें समाज के कितने ही मूर्धन्य विद्वानो ने भाग लिया। टोडरमल स्मारक भवन में 'खानिया तत्त्व चर्चा' दो भागो मे प्रकाशित भी हो चुकी है। श्री महावीरजी में निर्मित शान्तिवीर नगर आपकी ही प्रेरणाओ का सुखद फल है।

आचार्य शिवसागरजी उच्चतम निर्ग्रन्थ तपस्वी थे। उनके मागदशन में समाज ने जो लाभ लिया उसे कभी नही भुलाया जा सकता। उनकी स्मृति में एक शिवसागर स्मृति ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है जिसका सम्पादन प. पन्नालालजी साहित्याचार्य नें एव प्रकाशन श्रीमती भँवरीदेवी जैन ने किया है।

आचार्य सूर्यसागर

आचाय शान्तिसागरजी के पश्चात् जिन जैनाचार्यों का समाज एव सास्कृतिक विकास मे सबसे अधिक योगदान रहा उनमें से आचाय सूर्यसागरजी महाराज का नाम सबसे उल्लेखनीय है। आचार्यश्री २०वी शताब्दी के महान् सन्त थे। आपका महान् व्यक्तित्व एव तप साधना देखते ही बनती थी। देश के विभिन्न भागो में विहार करके आपने समस्त जैन समाज को एक सूत्र में बाधने का प्रयास किया था।

आचायश्री का जन्म सवत् १९४० के कार्तिक शुक्ला नवमी के शुभ दिन हुआ था। आपका जन्म-स्थान ग्वालियर राज्य के शिवपुरी ज़िलान्तर्गत पेपसर ग्राम में हुआ था। आपका बचपन का नाम हज़ारीमल था। पिता के सहोदर भाई बलदेवजी झालरापाटनवालो के यहा लालन-पालन हुआ था। बचपन से ही आप चिन्तनशील रहते थे तथा धार्मिक क्रियाओ में आपकी विशेष रुचि रहती थी जो विवाह होने के उपरान्त भी उसी रूप में बनी रही। जब आप ४१ वष के थे तो एक स्वप्न के फलस्वरूप आपको जगत् से विरक्ति हो गयी और आसोज शुक्ला षष्ठी सवत् १९८१ को आपने इन्दौर में आचार्यश्री शान्तिसागरजी महाराज के पास ऐलक पद की दीक्षा ले ली। उसी समय आपका सूयसागर नाम रखा गया। कुछ समय पश्चात आप मुनि और फिर आचाय पद को प्राप्त हो गये।

आचार्य सूयसागर विद्वान् सन्त थे। उनकी वाणी मे मिठास था। इसलिए उनकी सभाओ में पर्याप्त सख्या में श्रोतागण आते थे। उनका महान् ग्रन्थ 'सूयसागर ग्रन्थावली' जयपुर से प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रन्थ में जैन धम एव उसके सिद्धान्तो का अत्यधिक सुन्दरता से प्रतिपादन किया गया है। आचायश्री का स्वर्गवास डालमियानगर में समाधिपूवक हुआ था। वही पर उनकी सगमरमर की भव्य समाधि बनी हुई है।

सस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान्—आचार्यश्री ज्ञानसागरजी महाराज

वतमान शताब्दी मे सस्कृत भाषा मे महाकाव्यो के रचना की परम्परा को जीवित रखने वाले विद्वानो मे जैनाचार्य ज्ञानसागरजी महाराज का नाम विशेषत उल्लेखनीय है। वे ५० वर्षों से भी अधिक समय तक सस्कृत वाङ्मय की अनवरत सेवा करने में लगे रहे।

आचार्यजी के दशनो का सौभाग्य लेखक को मिल चुका है। वे काय से गौर वण, ध्यान एव तप मे सन्नद्ध, पठन-पाठन एव साहित्य निर्माण में दत्तचित्त, सवथा दिगम्बर, २४ घण्टो में एक ही बार आहार एव जल ग्रहण और वह भी निरन्तराय, अस्सी वष को पार करने के पश्चात् भी अपनी क्रियाओ एव पद के प्रति पूणत सजग, श्रावक-श्राविकाओ को प्रतिदिन ज्ञान देनेवाले, अपने सघ के साधुओ की दिनचर्या के प्रति जागरूक, उनको पढाने की क्रिया मे सलग्न रहने पर भी स्वय के द्वारा साहित्य निर्माण में व्यस्त रहने वाले—आदि कुछ विशेषताओ से युक्त आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज के कभी भी दर्शन किये जा सकते थे।

जीवन

आचार्यश्री का जन्म राजस्थान के सीकर जिलान्तगत राणोली ग्राम मे सवत् १९४८ में एक सम्पन्न परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम चतुभुज एव माता का नाम घेवरी देवी था। उस समय उनका नाम भूरामल रखा गया। गाँव की प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् उनको सस्कृत भाषा के उच्च अध्ययन की इच्छा जाग्रत् हुई और माता-पिता की अनुमति लेकर ये वाराणसी चले गये जहाँ उन्होने सस्कृत एव जैन सिद्धान्त का गहरा अध्ययन करके शास्त्री की परीक्षा पास की। राजस्थान के प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् प चैनसुखदासजी न्यायतीथ आपके सहपाठियो में से थे। काशी के स्नातक बनने के पश्चात् ये वापस अपने ग्राम आ गये और ग्रन्थो के अध्ययन के साथ-साथ स्वतन्त्र व्यवसाय भी करने लगे। लेकिन काव्य-निर्माण मे विशेष रुचि लेने के कारण उनका व्यवसाय में मन नही लगा। विवाह की चर्चा आने पर इन्होने आजन्म अविवाहित रहने की अपनी हार्दिक इच्छा व्यक्त की और अपने आपको माँ भारती की सेवा में समर्पित कर दिया।

महाकवि के रूप मे—

आचार्यश्री ने तीन महाकाव्य—वीरोदय, जयोदय एव दयोदय चम्पू, कुछ चरित काव्य—समुद्रदत्त चरित, सुदशनोदय, भद्रोदय आदि एव हिन्दी काव्य—ऋषभचरित, भाग्योदय, विवेकोदय आदि करीब २० काव्य लिखकर माँ भारती की अपूव सेवा की। 'वीरोदय' भगवान् महावीर के जीवन पर आधारित महाकाव्य है जो हमें महाकवि कालिदास, भारवि, श्रीहष एव माघ आदि के महाकाव्यो की याद दिलाता है। इस काव्य मे इन कवियो के महाकाव्यो की शैली को पूण रूप से अपनाया गया है। तथा "माघे सन्ति त्रयो गुणा" वाली कहावत भी वीरोदय काव्य मे पूणत चरिताथ होती है। प्रारम्भ मे जिस प्रकार कालिदास ने अपनी लघुता प्रकट करने के लिए "क्व सूर्यप्रभवो वश क्व चाल्पविषया मति" छन्द निबद्ध किया है उसी प्रकार वीरोदय काव्य में "वीरोदय य विदधातुमेव न शक्तिमान् श्रीगणराजदेव" लिखकर अपनी लघुता प्रदर्शित की है। इसी तरह "अस्त्युत्तरस्या दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराज" के समान ही "हिमालयोल्लासि गुण स एष द्वीपाधिपस्येव धनुर्विशेष" हिमालय की प्रशसा मे कुछ छन्द लिखे है। नैषध काव्य के भी कुछ छन्दो की प्रतिच्छाया वीरोदय काव्य के पद्यो मे देखी जा सकती है। नैषध काव्य के प्रथम सर्ग के चतुर्थ पद्य में "अधीतिबोधाचरण-प्रचारणैद-शाश्चतस्र प्रणयन्नुपाधिभि" के समान ही वीरोदय काव्य मे "अधीतिबोधाचरणप्रचारै-श्चतुदशत्व गमितात्युदारै" छन्द पढने को मिलता है। इसी तरह कुमारसम्भव, शिशुपालवध एव भटिट काव्य के कितने ही पद्यो की वीरोदय महाकाव्य के पद्यो से तुलना की जा सकती है। काव्य में गोमूत्रिका चित्रबन्ध काव्य कला के भी हमे दर्शन होते है जो महाकाव्यो की एक विशेषता मानी जाती है। इसी तरह इस महाकाव्य में श्लेष, उपमा, उत्प्रेक्षा, वक्रोक्ति, अपह्नुति, अन्योक्ति, व्याज-स्तुति, विरोधाभास आदि अनेक अर्थालकारो के प्रयोग से सारा काव्य अलकारमय हो गया है। काव्य के चौथे सर्ग में वर्षा ऋतु, छठे सर्ग में वसन्त ऋतु, १२वें सर्ग में ग्रीष्म ऋतु एव २१वें सग में शरद् ऋतु का अत्यधिक सुन्दर वणन हुआ है।

इस महाकाव्य में यद्यपि महावीर वधमान का जीवन चरित ही चित्रित किया गया है किन्तु इतिहास एव पुरातत्त्व के भी इसमें दर्शन होते है। तथा स्याद्वाद, अनेकान्तवाद एव सर्वज्ञता के वणन में पूरा काव्य दाशनिक काव्य बन गया है। पूरे काव्य में २२ सग है।

जयोदय काव्य में जयकुमार-सुलोचना की कथा का वर्णन किया गया है। काव्य का प्रमुख उद्देश्य अपरिग्रह व्रत का माहात्म्य दिखलाना है। इस काव्य में २८ सग हैं जो आचार्यश्री के महाकाव्यो में सबसे बडा काव्य है। इसकी सस्कृत टीका भी स्वय आचार्यश्री ने की है जिसमें काव्य का वास्तविक अथ समझने में पाठको को सुविधा दी गयी है। यह महाकाव्य सस्कृत टीका एव हिन्दी अथ सहित शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है।

दयोदय चम्पू में मृगसेन धीवर की कथा वर्णित है। महाकाव्यो मे सामान्य वर्ग के व्यक्ति को नायक के रूप में प्रस्तुत करना जैन कवियो की परम्परा रही है और इस परम्परा के आधार पर इस काव्य मे एक सामान्य जाति के व्यक्ति के व्यक्तित्व को उभारा गया है। धीवर जाति हिंसक होती है किन्तु मृगसेन द्वारा अहिंसा व्रत लेने के कारण इसके जीवन मे कितना निखार आता है और अहिंसा व्रत का कितना महत्त्व है, इस तथ्य को प्रस्तुत करने के लिए आचार्यश्री ने दयोदय चम्पू काव्य की रचना की है। इसमे सात लम्ब (अधिकार) हैं और सस्कृत गद्य-पद्य में निर्मित यह काव्य सस्कृत भाषा का अनूठा काव्य है।

आचायश्री ने सस्कृत मे काव्य रचना के साथ-साथ हिन्दी में भी कितने ही काव्य लिखे है। कुछ प्राचीन ग्रन्थो का हिन्दी में अनुवाद किया तथा छोटी-छोटी कथाओ के 'कर्तव्य पथप्रदर्शन'-जैसी कृतियो द्वारा जन-साधारण के रूप में दैनिक कतव्यो पर प्रकाश डाला है। यह पुस्तक बहुत ही लोकप्रिय रही है और इसकी दो आवृत्ति छप चुकी है। ऋषभदेव चरित हिन्दी का एक प्रबन्ध काव्य है जिसके १७ अध्यायो मे आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का जीवन चरित निबद्ध है। इस काव्य में आचार्यश्री ने मानव को सामान्य धरातल से उठाकर जीवन को सुखी एव समुन्नत बनाने की प्रेरणा दी है।

□ □